तुलसी-दर्शन

नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत निबंध

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र

एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, डी० लिट्०

१८८९ शकाब्द

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक :
मौलिचन्द्र शर्मा
सचिव, प्रथम शासन निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

प्रकाशन वर्ष : शक १८८९, सन् १९६७
संस्करण : सातवाँ, २१०० प्रतियाँ

मुद्रक :
सम्मेलन मुद्रणालय,
प्रयाग।

प्रकाशकीय

तुलसीदर्शन भारतीय संस्कृति और साहित्य के चिन्तन-शील मनीषी डा० बलदेव प्रसाद मिश्र की एक ऐसी कृति है, जो तुलसी दास जी का जीवन-दर्शन प्रस्तुत करते हुए उनके कृतित्व का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

ग्रंथ का सातवाँ संस्करण प्रकाशित कर हम हर्ष का अनुभव करते हैं और आशा करते हैं कि यह ग्रंथ अपनी मौलिक चिन्तन धारा और स्वस्थ समीक्षा से विद्वत्-समाज में लोकोत्तर महत्त्व प्राप्त करेगा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

मौलिचन्द्र शर्मा
सचिव

प्रस्तावना

प्रातःस्मरणीय महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी निर्विवाद-रूप से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनका 'रामचरितमानस' न केवल एक अमर काव्य है किन्तु वह अपने ढंग का अद्वितीय भी है। "गहरे अध्ययन के लिए वह गीता के समान ही मूल्यवान् ग्रन्थ है[1]।" फिर भी "यद्यपि रामायण विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबिले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नहीं रहता।"[2] आश्चर्य है कि मानस के इस भक्ति-रस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की अब तक किसी ने कोई चेष्टा न की। कारपेन्टर महोदय ने अंग्रेजी में 'थियोलीजी आफ़ तुलसीदास' लिखा, परन्तु वह एकांगी निबन्ध-मात्र है। अन्य सज्जनों ने मानस के अन्य-अन्य अंगों पर प्रकाश डालते हुए गोस्वामी जी के तत्त्व सिद्धांतों और मानस के भक्ति-रस पर भी कुछ-कुछ कह दिया है।[3] परन्तु इस प्रकार की चर्चा से न तो मानस का प्रकृत उद्देश्य ही भली-भांति स्पष्ट होता है और न मानस की अद्भुत लोकप्रियता का रहस्य ही भलीभाँति विदित होने पाता है। मानस का अध्ययन करके हमने जिस सांगोपांग "तुलसीमत" का अन्वेषण किया है उसे विद्वन्मण्डली के समक्ष उपस्थित करने के अभिप्राय से ही हमने यह निबंध लिखा है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि 'रामचरितमानस' न तो काव्यकला की प्रेरणा से तैयार हुआ है न इतिहास की प्रेरणा से। यह यथा-

---

१. गांधी विचार दोहन, पृष्ठ ३०

२. महात्मा गांधी का 'धर्मपथ', पृष्ठ १२२

३. इस ग्रंथ के सप्तम संस्करण तक तो गोस्वामी जी और उनकी कृतियों पर अनेकानेक शोध प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं।

र्थतः लोकहित की भावना से प्रेरित होकर निर्मित हुआ है। रामकथा और काव्यकला तो उस लोकहित को भावना के आवरण रूप हैं। इसी लोकहित की भावना के कारण गोस्वामी जी ऐसी बातें कह गये हैं जो एकत्र की जाने पर अनायास ही भक्तिशास्त्र का रूप धारण कर लेती हैं। वह भक्तिशास्त्र भी ऐसा-वैसा नहीं। उसमें न केवल बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर सामञ्जस्य है, न केवल सनातन हिन्दूधर्म—और सनातन हिन्दू धर्म ही क्यों समग्र मानव धर्म—के विशुद्ध रूप का पूर्ण परिचय है, वरन् वह एकदम नकद धर्म है जो हिन्दू-अहिन्दू सभी को समान रूप से सम्मान्य हो सकता है। ऐसा अच्छा शास्त्र अनोखे काव्य-कौशल के साथ कहा जाने के कारण आज न केवल उत्तरीय भारत में घर-घर गूँज रहा है वरन् समग्र भारत में और भारत के बाहर भी अपना विलक्षण गौरव स्थापित किये हुए है।

हमारा निबन्ध आठ परिच्छेदों में विभक्त हुआ है। पहिले परिच्छेद में हमने गोस्वामी जी और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट किये हैं। इसी परिच्छेद में मानस की महत्ता, उसकी प्रामाणिक प्रतियाँ, उसके टीकाकार और आलोचक, उसकी षडङ्ग परीक्षा आदि के विषय हैं। दूसरे परिच्छेद में हमने भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास, भक्ति की परिभाषा और भक्ति-मार्ग के गुण-दोषों की चर्चा की है। तुलसीमत को भली भाँति समझाने के लिए, हमारे विचार में, भूमिका रूप से इन दोनों परिच्छेदों की आवश्यकता थी। प्रथम परिच्छेद में हमने लक्ष्मण जी के प्रति कही गयी भगवद्गीता का संक्षिप्त विवेचन करके तुलसीमत का सारांश दे दिया है और द्वितीय परिच्छेद में हमने यह बता दिया है कि तुलसीमत किस प्रकार अखिल भारतीय भक्तिमार्ग का निर्दोष प्रतिनिधि बना हुआ है। तृतीय परिच्छेद में हमने आराधक (जीव) की चर्चा की है और चतुर्थ में आराध्य (राम) की। तृतीय परिच्छेद में जीवों की चर्चा के साथ ही साथ साधुमत और लोकमत के सामञ्जस्य का भी कुछ दिग्दर्शन है तथा "भक्ति भक्त भगवन्त गुरु" के ऐक्य का भी कुछ रहस्योद्घाटन। चतुर्थ परिच्छेद में

राम के इष्टदेवत्व और उनके त्रैविध्य का—निराकार भाव, सुराकार भाव और नराकार भाव का—विस्तृत विवेचन है। साथ ही वैज्ञानिक ढंग पर राजनीतिक दृष्टिकोण से रामकथा का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा भी की गयी है। शेष परिच्छेदों में आराधना के सिद्धांतों पर विचार किया गया है। पञ्चम परिच्छेद में पहिले तो उस "माया" पर विचार किया गया है, जो आराधक (जीव) को आराध्य (ब्रह्म) से अलग रखती है। फिर कर्म, ज्ञान और भक्ति के मार्गों की चर्चा करके धर्म और ज्ञान-वैराग्य का कुछ विस्तृत विवेचन किया गया है। षष्ठ परिच्छेद में भक्ति की परिभाषा, उसका महत्त्व, उसमें श्रद्धा के साथ विवेक और आसक्ति के साथ वैराग्य का समन्वय, ज्ञानमार्ग के साथ उसकी तुलना आदि विषय हैं। सप्तम परिच्छेद में भक्ति के साधनों की चर्चा है, जिसमें कृपा और क्रिया का सामञ्जस्य बताते हुए तीसरे प्रकार की नवधा भक्ति का कुछ विस्तृत उल्लेख है। अष्टम परिच्छेद में वर्ण्य विषय का उपसंहार है। इसमें तुलसीमत की विशेषता और इस विशेषता के कारणों की चर्चा है। वर्णित विषय के विशेष विवरण के लिए पाठकों को विषय सूची देखनी चाहिए।

यह निबंध एक 'थेसिस' (शोध प्रबन्ध) के रूप में लिखा गया है, इसलिए इसकी मौलिकता के सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। जिस प्रकार का विषय हमने चुना है उसमें या तो सामग्री की परख के सम्बन्ध में मौलिकता होगी या उस सामग्री के संकलन में मौलिकता होगी या उस सामग्री के उपयोग में मौलिकता होगी। गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ के पात्र में भरकर जो सामग्री हम लोगों के सामने रख दी है उसका पूरा-पूरा मूल्य आँक ले जाना —उसकी पूरी-पूरी परख कर लेना—आसान नहीं है। कई पंक्तियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। हमने भी मौलिक अर्थों की बानगी अपने इस निबंध में, विशेष कर अन्तिम परिच्छेद में, दी है। साथ ही चार घाटों की आलोचना, साधुमत और लोकमत के, तर्क और श्रद्धा के तथा आसक्ति और विरक्ति के, सम्बन्ध की चर्चा, सीता, भरत, राम और शंकर के निर्दोष चरित में "भक्ति भक्त

भगवन्त गुरु" की झलक, आराध्य के त्रैविध्य का विवेचन, गोस्वामी जी की नयी नवधा भक्ति का रहस्योद्‌घाटन आदि ऐसे विषय हैं, जो मौलिक कहे जा सकते हैं। " 'क' ने इस पंक्ति अथवा प्रसंग का ऐसा भाव लिया है 'ख' ने वैसा भाव लिया है परन्तु वास्तव में इसका रहस्य दोनों से भिन्न है जो इस प्रकार है।" इस ढंग की आलोचना मौलिक ही कहाती है और इस ग्रन्थ में ऐसी मौलिकता का अभाव नहीं है। यह सब तो हुई सामग्री की परख के सम्बन्ध की मौलिकता। द्वितीय प्रकार की मौलिकता में प्रस्तुत सामग्री के संकलन की बात आती है।

इस संकलन की प्रक्रिया में किस वस्तु अथवा पंक्ति का संग्रह करना और किसका त्याग करना तथा संगृहीत विषयों और पंक्तियों का किस प्रकार वर्गीकरण करना यही मौलिकता का विषय है। हमें तो अपने निबन्ध के सम्बन्ध में इसी अंश पर बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा है। अपनी समझ से हमने मानस की ऐसी एक भी पंक्ति नहीं छोड़ी, जो किसी न किसी रूप से हमारे वर्ण्य विषय पर प्रकाश डाल रही हो। ऐसी लगभग ३५००पंक्तियों को स्वतंत्र क्रम से जमा कर प्रकाशित कर देना ही किसी भी अनुसंधानकारी लेखक के लिये पर्याप्त समझा जा सकता है। अपने निबन्ध की कलेवर वृद्धि के भय से ही हमने अपने इस संग्रह को 'मानसमन्थन' नाम से एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित किया है। इस संग्रह के कारण हमें इस बात का संतोष है कि हमने इस निबन्ध में जो कुछ लिखा है वह मानस के किसी आंशिक आधार को लेकर नहीं, वरन् उसकी समूची उक्तियों का सामञ्जस्य करते हुए लिखा है। हाथी न तो सूंड़ के आकार का है न पूंछ के आकार का और न पैर के आकार का। हाथी का प्रकृत आकार वही बता सकता है जिसने सभी अवयवों से परिपूर्ण समूचे हाथी को एक स्थान पर देखा है। तुलसी-सिद्धांत का भी यही हाल है। वह बृहत्काय मानस में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। उसे एकत्र करके सुन्दर क्रम से जमाया जाय तब पता चलेगा कि वह क्या है और कितना मूल्यवान् है। अन्यथा कोई लेखक गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतवादी, कोई द्वैताद्वैतवादी, कोई

किसान, कोई चाँदी का रोजगारी आदि कहता रहेगा; कोई उनके आराध्य को शरीरी, कोई अशरीरी कोई साकेतविहारी, कोई मर्यादापुरुषोत्तम आदि, कहता रहेगा; कोई उनके भक्ति पंथ को साधुओं की सम्पत्ति कोई जनता की सम्पति, कोई उसे ज्ञानमार्ग से हीन, कोई श्रेष्ठ, कोई सहायक और कोई विरोधी आदि कहता रहेगा; और प्रमाण में अपने-अपने ढंग की पंक्तियाँ भी पेश करता जायगा।

अब रही सामग्री के उपयोग की मौलिकता। सो हमने गोस्वामी जी द्वारा प्रदान की हुई सामग्री से भक्तिशास्त्र का—जिसे हम तुलसीमत भी कह रहे हैं—जैसा भवन तैयार किया है वह विवेचकों के समक्ष उपस्थित ही है। इस मकान का मलमा तो गोस्वामी जी महाराज ने दिया है परन्तु नक्शा हमारा निज का है। सन्तोष की बात तो यह है कि मानस द्वारा गोस्वामी जी की दी हुई समूची सामग्री इस नक्शे में इस प्रकार ठीक बैठ गयी है कि शास्त्र का कोई भी अंग न तो न्यून होने पाया और न विकृत ही होने पाया है। इस नक्शे की खूबी यह है कि इसमें गीता से लेकर गांधीवाद तक के सभी भारतीय साम्प्रदायिक तत्त्वों का समावेश हो गया है और यह भारतीय हिन्दू धर्म के साथ ही साथ अखिल जगत् के मानवधर्म का आश्रय-स्थल-सा बन गया है। हमें तो विश्वास है कि तुलसीमत का यह धर्म मन्दिर भारतीय साहित्य में अपना विशेष स्थान रखेगा; क्योंकि यह निबन्ध केवल एक कवि के कुछ विचारों अथवा सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डालने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया है वरन् अखिल विद्वन्मण्डली की धर्म-सम्बन्धिनी विचार-धारा की प्रगति में विशिष्ट सहयोग देने के उद्देश्य से लिखा गया है। हम अपने उद्देश्य और प्रयत्न में सफल हुए हैं अथवा असफल—यह दूसरी बात है। इसका निर्णय हम पर नहीं, वरन् सुविज्ञ विवेचक महोदयों पर निर्भर है।

प्रमुख पुस्तकें जिनसे उद्धरण लिये गये हैं और जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है—

(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद और उपनिषदें।

(२) गीता और महाभारत।

(३) श्रीमद्भागवत आदि पुराणग्रन्थ, भक्तिसूत्र (नारद और शाण्डिल्य कृत) तथा नारदपञ्चरात्र।

(४) आचार्य शंकर के अनेक ग्रन्थ।

(५) हरिभक्तिरसामृतसिंधु, भगवद्भक्तिरसायन, वैष्णवमताब्ज-भास्कर, श्रीरामपटल, रामार्चनचन्द्रिका आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थ।

(६) आह्निकसूत्रावली, सुरार्चनचन्द्रिका आदि वैधी पूजापद्धति के द्योतक ग्रन्थ।

(७) कुलार्णवतंत्र आदि कुछ तंत्र ग्रन्थ।

(८) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका।
इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स।
वसुमहोदयकृत हिन्दीविश्वकोष।

(९) (क) शैविज्म, वैष्णविज्म इत्यादि—भांडारकर कृत।
(ख) अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट—राय चौधरी कृत।
(ग) अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया—के० ऐयंगार कृत।
(घ) रामानन्द टू रामतीर्थ—जी० ए० नटेसन कृत।

(१०) (क) कबीर आदि सन्त कवियों की रचनाएँ।
(ख) जायसी आदि सूफी कवियों की रचनाएँ।
(ग) सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों की रचनाएँ।

(११) संस्कृत की रामायणें (वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि)।

(१२) गोस्वामी जी के द्वादश ग्रन्थ तथा रामचरितमानस की अनेकानेक प्रतियाँ और मानसपीयूष आदि अनेकानेक टीकाएँ।

(१३) गोस्वामी जी की जीवनी के सम्बन्ध में भक्तमाल, मूलगोसाईं-चरित आदि अनेक ग्रन्थ।

(१४) तुलसीदास जी की रचनाओं पर डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन, मेकफी, कारपेण्टर, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा डाक्टर बड़थ्वाल, रामदास गौड़, मिश्रबन्धु, सद्गुरुशरण, माताप्रसाद, जामदार, विजयानन्द त्रिपाठी, बाबूराम युक्तिविशारद आदि के लिखे हुए आलोचनात्मक ग्रन्थ।

(१५) अनेकानेक मानसप्रेमियों के प्रवचन तथा लेख आदि।

(१६) (अ) महात्मा गांधी, डाक्टर भगवानदास आदि प्रमुख विद्वानों के धर्मविषयक लेख और व्याख्यान तथा (आ) कल्याण आदि अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ।

विषय-सूची

१—गोस्वामी जी और मानस

२—भारतीय भक्तिमार्ग

भक्तिमार्ग का इतिहास

चर्चा—भक्तिरस रूपी तीर्थराज के लिए आगम निगम पुराण की त्रिवेणी—रुद्र (महादेव) पूजा में आर्य-अनार्य संस्कृति का सामञ्जस्य—भगवान् श्रीकृष्ण ही वे सुप्रसिद्ध आदि-आचार्य हैं जिन्होंने वैदिक धर्म में सुधार करके वैष्णव धर्म की नींव डाली—अवतार-वाद—रामावतार—वैष्णव धर्म का विकास और उसके आचार्य—कृष्णोपासना तथा रामोपासना के भेदोपभेद और प्रमुख आचार्य—सभी धर्माचार्यों के तत्त्वों को एक में समेटने की ओर गोस्वामी जी का प्रयत्न।

भक्ति की परिभाषा

वैधी भक्ति के पाँच अंग—(१) उपास्य (२) उपासक (३) पूजाद्रव्य (४) पूजाविधि और (५) मंत्रजप, इन पाँच अंगों के रहस्यों का दिग्दर्शन—वैधी भक्ति की उपयोगिता—रागात्मिका भक्ति और उसका उद्रेक—भक्तिरस—सकाम और निष्काम भक्ति—विवेक वैराग्य—नवधा भक्ति—रागात्मिका भक्ति के तीन प्रधान साधन—गोस्वामी जी और भक्तिमार्ग।

भक्तिमार्ग के गुण-दोष

गुण—(१) लोकधर्म के लिए वही उपयुक्त है (२) वह अभ्युदय और निःश्रेयस् प्रदान करता है (३) वह हृदय को शुद्ध, सबल और सरस बनाता है (४) अन्य गुण यथा—
(अ) आदर्श की ओर आकर्षण (आ) अहंकार-विगलन (इ) मन को विश्रान्ति प्रदान।

दोष—(१) इष्टदेवों में भेददृष्टि के कारण साम्प्रदायिकता (२) भाग्यवाद का प्राबल्य (३) अन्धविश्वास और वेष प्रवञ्चना (४) अन्य दोष यथा—(अ) आडम्बर-प्रियता (आ) विलासिता (इ) दास्य मनोवृत्ति—अपने भक्तिमार्ग को दोषों से बचाने के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का प्रयत्न।

३—जीव कोटियाँ

दार्शनिकों की विचारधाराओं का केन्द्र है 'जीव का कल्याण'—त्रिविध जीव—(क) विषयी (ख) साधक और (ग) सिद्ध—विषयी जीव के प्रकरण में गोस्वामी जी कृत इन्द्रादि-देवनिन्दा तथा नारीनिन्दा—साधक जीव के प्रकरण में मानसरोग-विवेचन—सिद्ध जीवों की महिमा—दुर्जनों का त्याग और सज्जनों को संगति—दुर्जनों में खल और राक्षस तथा उनके सुधार के उपाय—सज्जनों में (अ) सन्त (आ) ब्राह्मण (ब्राह्मण-सेवा का रहस्य) (इ) इष्टमित्र और गुरुजन (गुरुतत्वविवेचन) तथा (ई) भक्तों की चर्चा—भक्तों की प्रधान भावनाएँ—मानवेतर योनियों के जीव—इन्द्रादि वैदिक देव, त्रिदेव, पञ्चदेव, चतुर्व्यूह, पञ्चायतन आदि की चर्चा—"भक्ति भक्त भगवन्त गुरु" के अनुसार सीता, भरत, राम और शंकर की सर्वाङ्ग-निर्दोष चरितचर्चा। पृ० ७७–१२२

४—तुलसी के राम

भक्ति के लिए इष्टदेव की आवश्यकता—राम का इष्टदेवत्व—उनका ब्रह्मत्व (निराकारभाव), महाविष्णुत्व (सुराकारभाव) और मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व (नराकारभाव)—ब्रह्म राम वास्तव में निर्गुण हैं परन्तु वे ही सगुण भी कहे जाते हैं—वे सर्वव्यापी और विश्वरूप हैं—विष्णु राम शरीरी होकर भी (व्यक्तित्ववान होकर भी) अद्वितीय है और जड़-चेतन तत्त्वों के प्रभु होकर, त्रिदेवों तथा पञ्चदेवों पर भी अपना प्रभाव रखते हैं—उनके 'नाम, रूप, लीला, धाम' की चर्चा—उनकी लीलाओं का रहस्य—उनका औदार्य, कारुण्य और शरण्यत्व—उनके गुण कर्म स्वभाव—उनकी लीलाओं का आधार और उद्देश्य—मर्यादापुरुषोत्तम राम, आकृति, प्रकृति और परिस्थिति तीनों दृष्टियों से आदर्श-पुरुष हैं—रामचन्द्रजी के समय का राजनीतिकवातावरण—रामचरित्र के आदर्शत्व पर शंकाएँ—अवतारवाद श्रद्धा पर आश्रित है—उसकी उपयोगिता—भगवद्भाव के त्रैविध्य का

५—विरति विवेक

६—हरिभक्तिपथ

७—भक्ति के साधन

८—तुलसी मत की बिशेषता

तुलसी-दर्शन

प्रथम परिच्छेद

गोस्वामीजी और मानस

मानव समुदाय में सामान्यतः यही देखा जाता है कि लोग आम के फल खाते हैं उसकी जड़ों का निरीक्षण नहीं करते, मधुर झरने का शीतल जल पीकर प्रसन्न होते हैं उसके स्रोत की छानबीन नहीं किया करते। ठीक इसी तरह वे लोग किसी सत्कवि की रचनाओं का सुरस तो अवश्य चखना चाहते हैं, परन्तु उसके व्यक्तित्व से अथवा उसकी जीवनी से वैसा वास्ता नहीं रखते। यही कारण है कि केवल तीन सौ वर्ष पूर्व इसी भारत में सुदीर्घ काल तक विद्यमान रहनेवाले हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि का जीवन-चरित्र अब तक रहस्यमय बना हुआ है।

कोई उन्हें कान्यकुब्ज कहते हैं, कोई सरयूपारीण और कोई सनाढ्य। कोई उन्हें मिश्र कहते हैं, कोई दुबे और कोई शुक्ल। कोई उनके जन्मस्थान होने का गौरव राजापुर को देते हैं, कोई तारी को और कोई सोरों (सूकर क्षेत्र) को। कोई उनका जन्म संवत् १५५४ मानते हैं, कोई १५८३, कोई १५८९। कोई श्रावण शुक्ल सप्तमी को उनकी जन्म-तिथि मानते हैं और कोई निधन-तिथि। इसी प्रकार न जाने कितने मतभेद उनकी जीवनी के विषय में आज दिन तक विद्यमान हैं।[1]

---

१. इन लगभग तीस वर्षों के खोज के बाद भी मतभेद अब तक पूरी तरह दूर नहीं हो पाये।

"कल्याण" भाग ११ संख्या ३ के पृष्ठ ७७३ में श्री बालकराम जी विनायक ने "श्रीगोस्वामीजी के नामराशी" शीर्षक एक लेख लिखकर चार-चार तुलसीदासों के अस्तित्व की चर्चा की है और उन चारों को न केवल रामभक्त कवि वरन् परस्पर सम्बद्ध बताया है। हिन्दी-संसार आज जिन तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान कर रहा है वे प्रचलित रामचरितमानस के रचयिता तुलसीदास हैं न कि दूसरे कोई तुलसीदास। ये ही 'मानसजुत बारह रतन प्रगटे धारे सान्त रस" कहे जाते हैं। इन्हीं की चर्चा भक्तमाल आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में है ऐसा श्रीबालकरामजी विनायक भी मानते हैं। हमारा भी प्रयोजन इन्हीं तुलसीदास जी से है न कि किसी दूसरे से। और इन्हीं तुलसीदास जी की जीवनी के सम्बन्ध में हम देख रहे हैं कि हिन्दी भाषा के विद्वान् लोग अब तक किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच सके हैं।

महात्मा नाभादास जी गोस्वामी तुलसीदास जी के समकालीन थे। उन्होंने अपने भक्तमाल में केवल एक छंद गोस्वामी जी के सम्बन्ध में लिखा है। उनके शिष्य प्रियादास जी ने सं० १७६९ में उस एक छंद की टीका के रूप में ११ कवित्त लिखे हैं। इन कवित्तों में गोस्वामी जी के जीवन के सम्बन्ध की प्रधान-प्रधान घटनाओं का उल्लेख है। राजा प्रतापसिंह जी ने अपने भक्तकल्पद्रुम ग्रंथ में, महाराजा विश्वनाथसिंह जी ने अपने भक्तमाल ग्रन्थ में और महाराजा रघुराजसिंह जी ने अपने रामरसिकावली ग्रन्थ में प्रियादास जी की टीका का ही विशेष आधार लेकर गोस्वामी जी का चरित्र लिखा है। रानी कमलकुँवर जी ने, कुर्मी बैजनाथ जी ने, पं० महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने और शिवसिंह-सरोजकार श्रीशिवसिंह सेंगर ने प्रियादास जी की टीका के साथ किंवदन्तियों का भी आधार लिया है। आधुनिक ढङ्ग पर खूब छानबीन और तार्किक प्रणाली के साथ गोस्वामी जी की जीवनी लिखने का पहिला श्रेय सर जार्ज ग्रियर्सन महोदय को है जिन्होंने पण्डित रामगुलाम द्विवेदी और महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी आदि की सहायता से अपनी "Notes on Tulsidas" नामक धारावाहिक लेखमाला में

गोस्वामी जी का जीवनचरित्र लिखा।[1] ग्राउज़, ग्रीव्ज़ आदि विदेशी विद्वानों ने तथा अनेकानेक देशी विद्वानों ने उन्हीं के लेखों को आधार माना है। कहना न होगा कि इनका भी आधार किंवदन्तियों और गोस्वामी जी के ग्रन्थों के साथ ही साथ वही प्रियादास जी की टीका थी।

अभी हाल में तुलसीचरित तथा मूलगोसाईं चरित नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जो गोस्वामी जी के समकालीन उनके दो शिष्यों के—रघुवरदास तथा वेणीमाधवदास के—रचे हुए कहे जाते हैं।[2] बाबा रघुवरदासकृत कहे जानेवाले तुलसीचरित की प्रामाणिकता एकदम संदिग्ध है जैसा कि लाला शिवनन्दनसहाय के लेख से विदित होता है। बाबा वेणीमाधवदास रचित मूलगोसाईं चरित बहुमत में प्रामाणिक माना जा रहा है। यद्यपि पं० रामनरेश जी त्रिपाठी ने उसकी प्रामाणिकता के खण्डन में अपनी भूमिका के कई पृष्ठ खर्च कर दिये हैं;[3] परन्तु उनके तर्क एकदम अकाट्य नहीं हैं। इस संबंध में हमने आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल से तथा बाबू रामदास गौड़ से बातचीत की थी। त्रिपाठी जी के तर्कों के सम्बन्ध में उनकी भी यही सम्मति है। बाबू रामदास जी गौड़ तो निश्चयपूर्वक मूल गोस्वामी चरित्र को प्रामाणिक मानते हैं क्योंकि उन्होंने उसकी एक बहुत प्राचीन प्रति स्वतः देखी है।[4] बाबू (अब डाक्टर) माताप्रसाद गुप्त ने तुलसीसन्दर्भ में "मूलगोस्वामीचरित की ऐतिहासिकता पर कुछ विचार" प्रकट किये हैं जिनके आधार पर उन्होंने इसे अप्रामाणिक ठहराने की चेष्टा की है। उधर डाक्टर बड़थ्वाल महोदय ने अपने कथन की पुष्टि

---

१. इंडियन एंटिक्वेरीज १८९३।

२. गोस्वामी तुलसीदास (बाबू श्यामसुन्दरदास और महाशय बड़थ्वाल कृत) पृष्ठ १९।

३. देखिए पृष्ठ ५३ से ६५।

४. खेद है कि इस समय इस संसार में न तो बाबू रामदास गौड़ रहे और न पं० रामचन्द्र शुक्ल ही।

में "मूलगोसाईंचरित की प्रामाणिकता"[१] शीर्षक एक लेख भी छपवाया है। भविष्य में मूल गोसाईंचरित की प्रामाणिकता अटल रहेगी अथवा नहीं यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।

पं० रामनरेश जी त्रिपाठी ने "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता" नामक ग्रन्थ में नन्ददास जी के जीवनचरित के साथ उल्लिखित गोस्वामी जी की चर्चा पर कुछ अधिक जोर दिया है। आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल से हमें विदित हुआ है कि इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण अनेक भांति के लिखे हुए मिलते हैं और यह औरंगजेब से पहिले का लिखा हुआ कदापि नहीं माना जा सकता। तब फिर इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है।

हमारा उद्देश्य हमें बाध्य करता है कि हम इन प्राचीन ग्रन्थों की परस्पर-विरुद्ध बातों की उलझनें सुलझाने का प्रयत्न छोड़कर गोस्वामी जी के जीवन की सर्वमान्य और कुछ आवश्यक बातें ही यहाँ लिखकर अपने वर्ण्य विषय पर आ जावें। यह निश्चित है कि गोस्वामी जी ब्राह्मण थे, सु-कुल थे और पैदा होते ही माता-पिता से अलग हो गये थे। बालपन से ही उन्हें गुरु का आश्रय प्राप्त हुआ था और इस प्रकार उन्होंने "नानापुराण-निगमागम" की अच्छी शिक्षा पाई थी। उनका विवाह हुआ था परन्तु गार्हस्थ्य में पत्नी के कारण ही उन्हें वैराग्य की शिक्षा मिली और इस तरह विरक्त होकर ही उन्होंने देश-विदेश में खूब भ्रमण किया था तथा अपने सुदीर्घ जीवन में सम्मान और अपमान सभी कुछ पाया था तथा चित्रकूट, अयोध्या, काशी आदि स्थानों में रहे थे और काशी में महामारी से पीड़ित भी हुए थे। वे अकबर और जहाँगीर के राजत्वकाल में वर्त्तमान थे। ये बातें न केवल उनके सभी जीवनीकारों को मान्य हैं वरन् स्वतः उनके रचे हुए ग्रंथों से भी सिद्ध होती हैं।

बचपन में ही उन्हें शिक्षा मिली थी कि अयोध्या के राम साक्षात्

---

१. "वीणा" अगस्त १९३५।

भगवान् हैं और भगवान् के अनेक नाम रूपों में "राम" ही सर्वश्रेष्ठ हैं। यह एक बात ऐसी थी जिसे वे अपने जीवन में कभी न भूल सके। इस शिक्षा के पूर्वांश के कारण वे निर्गुणवादी सन्तमत के तीव्र आलोचक बने रहे और इसके परांश के कारण उन्होंने "भगवान्" कहे जानेवाले सदाशिव को भी राम का सेवक बताया तथा परमात्मा श्रीकृष्ण के विग्रह के आगे भी यह कहने का साहस किया कि "तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण ल्यो हाथ।" उन्होंने इस शिक्षा पर "स्वमति" का जितना प्रयोग किया उतना ही इसकी महत्ता और उपयोगिता पर मुग्ध होते गये। अन्त में इस शिक्षा के भीतर ही उन्होंने वह रहस्य पा लिया जिसके कहने-सुनने ही से सब का हित हो जाय।[1] परिणाम यह हुआ कि अपने सन्तस्वभाव के कारण लोकहितार्थ वे उस रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए बाध्य हो गये। ऐसा किये बिना उनका मन न माना। इसीलिए उन्होंने "स्वान्तःसुख"[2] के नाम पर 'रामचरित-मानस' सा अमूल्य रत्न संसार को प्रदान कर दिया।

कुछ लोगों का कहना है कि गोस्वामी जी को बचपन में यह शिक्षा स्वयं शंकर भगवान् ने नरहर्यानन्द द्वारा दिलाई थी।[3] बहुमत यह है कि महात्मा नरहरिदास ने उन्हें यह शिक्षा दी थी। ग्रियर्सन साहब के मत से ये नरहरिदास रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा में हैं। रामनरेश जी के कथनानुसार ये कोई रामानन्दी नहीं वरन् नरहरि नामधारी स्मार्त्त वैष्णव हैं। रामानन्द जी के पट्ट शिष्यों ने जो पन्थ चलाये हैं उन्हें गोस्वामी जी ने खूब आड़े हाथों लिया है।[4] "नौमी भौमवार मधु मासा" का "भौम-

---

१. तदपि असंका कीन्हिउ सोई। कहत सुनत सबकर हित होई।।
(पृष्ठ ५७ पंक्ति २३)

२. स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति (पृष्ठ ३ पंक्ति १-२)

३. मूल गोसाईंचरित।

४. देखिए रामचरितमानस का कलिधर्म।

वार" भी स्मार्त्त वैष्णवों ही की वस्तु थी। रामानन्दियों की नौमी उस दिन न थी। इसलिए जान पड़ता है कि इस प्रसंग में रामनरेश जी का कहना ही ठीक है। इतना तो स्पष्ट है कि किसी मनुष्य ने ही सूकरक्षेत्र में गोस्वामी जी को रामकथा बारम्बार सुनाई थी क्योंकि "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत" में "निज" शब्द गोस्वामी जी के गुरु को जगद्गुरु शंकर से पृथक् कर रहा है और बहुत सम्भव है कि वह "निज गुरु" स्वामी नरहर्यानन्द, नरहरिदास या नरसिंह जी हों। परन्तु हमारी समझ में गोस्वामी जी ने किसी अनित्य मर्त्य के बदले एक नित्य व्यक्ति को ही अपना सच्चा गुरु माना है। "वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्" का "नित्यं" शब्द यही संकेत कर रहा है। नरहरिदास की अनुपस्थिति में भी गोस्वामी जी गुरुपदरज से अपने विलोचन आँजने की बात लिखते हैं। उन्होंने स्पष्टतया नरहरिदास जी या और किसी नामधारी व्यक्ति को अपना गुरु स्वीकार भी नहीं किया है। रामचरितमानस में केवल एक जगह "वंदौं गुरुपदकंज कृपासिंधु नररूप हरि" लिखा हुआ मिलता है जिससे नरहरिदास का नाम ध्वनित हो रहा है। परन्तु इस पंक्ति का "हरि" पाठ भी संदिग्ध ही कहा जाता है क्योंकि एक तो उस स्थान के सब सोरठों के क्रम के अनुसार "निकर" के साथ "हर" का तुक होना चाहिए न कि "हरि" का और दूसरे श्रावणकुंज में रखी हुई बालकाण्ड की प्राचीन प्रति में, कहा जाता है, "हर" पाठ ही था जो पीछे से हरताल लगा कर "हरि" के रूप में परिवर्तित किया गया है।[१] इन सब बातों से विदित होता है कि रामकथा की महिमा के प्रथम-प्रचारक के नाते भगवान् शंकर ही को गोस्वामी जी अपना वास्तविक गुरु मान रहे हैं यद्यपि उन्होंने अपने बाल्यकाल के उपदेशक को भी (जो बहुत करके कोई स्मार्त्त वैष्णव स्वामी नरहरिदास जी थे) उस अनमोल शिक्षा ही के नाते "निजगुरु" का आदर दे दिया है। इस प्रसंग में यह भी एक जानने

---

१. आजकल इस सम्बन्ध का मूल पन्ना गायब हो गया है। देखिए माताप्रसाद जी का "तुलसीसन्दर्भ।"

योग्य बात है कि मूलगोसाईंचरितकार के मतानुसार गोस्वामी जी को नरहरिदास की अपेक्षा सकलशास्त्र-निष्णात शेष सनातन का सत्संग अधिक काल तक मिला है। ऐसी स्थिति में उन्हें साम्प्रदायिक विशिष्टाद्वैतवादी मानने का ही आग्रह करना कहाँ तक उचित होगा यह पाठक स्वतः समझ सकते हैं।

कुछ श्लोकों और विशेष कर रामायण उत्तरकाण्ड के मङ्गलाचरण के श्लोकों को देखकर कुछ विद्वानों ने—जिनमें सर ग्रियर्सन और हिन्दी-विश्व-कोषकार श्री वसु महोदय का नामोल्लेख किया जा सकता है—गोस्वामी जी के संस्कृत पांडित्य पर शंका की है। हमारी समझ में उन्होंने यदि गोस्वामी जी के भाषातत्त्व पर गंभीरतापूर्वक विचार किया होता तो शायद ऐसी शंका न करते। गोस्वामी जी ने अपनी भाषा के सम्बन्ध में स्वतः कहा है—"का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच"।[1] इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वे भावों ही को प्रधानता देते थे और भाषा को उनका साधन मात्र मानते थे। उन्होंने रामचरितमानस तो लोक-कल्याण के लिए लिखा था इसलिए लोक की व्यावहारिक भाषा को छोड़कर अप्रचलित संस्कृत द्वारा अपना पांडित्य प्रदर्शन करना उन्हें क्योंकर रुचता? व्यावहारिक भाषा देशी भाषा को—यदि उन्होंने कहीं-कहीं संस्कृत श्लोकों का रूप दे दिया तो केवल इसलिए कि श्रद्धालु भक्तों की संस्कृत स्तोत्राभिरुचि को भी संतोष मिल जाय। संस्कृत ही में तो श्रुतिसम्मत धर्म निहित था। इसलिए संस्कृत की ओर लोगों की श्रद्धा स्वाभाविक थी। ऐसे श्रद्धालु लोग संस्कृत-रचनाहीन ग्रंथ को 'सन्तबानी" अथवा "सूरसागर" सरीखे काव्यग्रंथ ही की कोटि का समझने लगते। इसलिए संस्कृत शैली की कुछ रचनाएँ करके गोस्वामी जी को उनका संतोष करना पड़ा। मङ्गलाचरण के श्लोक, स्तुतियों के श्लोक आदि, सब यही बात बताते हैं। इन रचनाओं में उन्होंने

---

१. देखिए दोहावली, दोहा नं० ५७२। कई लोग इसे कबीर का लिखा हुआ भी मानते हैं।

संस्कृत व्याकरण की जटिलता की रत्ती भर भी परवाह नहीं की। स्वतंत्रतापूर्वक यदि व्याकरणसम्मत शुद्ध वाक्य निकल गया तो ठीक, यदि न निकला तो कोई चिंता भी नहीं की गयी। "कुन्द इन्दु दरगौर सुन्दरं" में संधि न जमी तो न सही, "लसद्भालबालेन्दु कण्ठे भुजङ्गा" में व्याकरण-शुद्धि का गोलमाल हो तो हुआ करे, भाव तो स्पष्ट हो गया। यदि "निशिचर करि वरूथ मृगराज"; के "राज" की तुक में उस समय उन्हें फारसी के "बाज" का खयाल आ गया तो उसे ही संस्कृत शैली में जमाकर उन्होंने "त्रातु सदा नो भवखगबाजः" लिख दिया। ऐसे प्रयोगों के कारण उनके संस्कृत ज्ञान पर शंका करना उचित नहीं। जो सहस्र-सहस्र विशुद्ध संस्कृत शब्दों के प्रसङ्गानुकूल प्रयोग में सर्वतोधिक पाटव दिखा सकता हो तथा कठिन से कठिन और अप्रयुक्त से अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों को भी अपने वाग्विलास का साधन बना सकता हो, जो "सरिस स्वान मघवान युवानू" सरीखे वाक्य रचकर अपने पाणिनीय व्याकरण ज्ञान को स्पष्ट प्रकट कर रहा हो, जो "नाना पुराणनिगमागम" की सहस्रों सूक्तियों का स्थल-स्थल पर हस्तामलकवत् प्रयोग कर रहा हो, वह संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित क्योंकर न माना जाय? हमारा तो यह दृढ़ निश्चय है कि वे केवल एक अनुभवी सन्त ही नहीं वरन् संस्कृत के पूर्ण पण्डित और तत्त्वज्ञान के परम आचार्य थे। इसलिए उन्होंने सब शास्त्रों का मथन करके जीव-ब्रह्म-माया, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य, पाप-पुण्य, कर्म-धर्म, स्वार्थ-परमार्थ आदि के परमतत्त्व बड़ी सुन्दरता के साथ लिखे हैं। इतना अवश्य है कि वे रामोपासक थे, इसलिए सब तत्त्व उन्होंने रामचरित की लपेट में कह दिये। यदि कोई सज्जन राम की अपेक्षा कृष्ण, शिव, अल्लाह या गॉड (God) में अधिक आस्था रखते हैं तो वे रामचरित-चर्चा को गौण मानकर गोस्वामी जी के तत्त्व सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकते हैं और उनके प्रचण्ड पांडित्य से पूरा लाभ उठा सकते हैं।

यह सर्वमान्य बात है कि गोस्वामी जी असाधारण प्रतिभासम्पन्न महाकवि थे। गरीब की झोपड़ी से ले कर राजमहल तक के अनेकानेक

दृश्यों का वर्णन उन्होंने पूरी क्षमता के साथ किया है और जिस स्थान में जैसा वर्णन उन्होंने किया है वहीं भाषा भाव आदि सभी दृष्टियों से कमाल कर दिखाया है। उनके काव्यचमत्कार की कुछ बानगी इस निबन्ध के अन्तिम परिच्छेद में दी जा रही है, इसलिए यहाँ उस सम्बन्ध को अधिक चर्चा अनुपयुक्त है। केवल इतना कह देना यहाँ पर्याप्त है कि कम से कम हिन्दी-साहित्य में तो इनकी जोड़ का दूसरा महाकवि नहीं हुआ है। अन्य भारतोय भाषाओं में भो कोई दूसरा इस जोड़ का कवि रहा है अथवा नहीं, यह विषय भो सन्दिग्ध ही है।[1]

श्रद्धालु भक्तों ने गोस्वामी जी के जीवन के साथ कई चमत्कारिक घटनाओं का भी संयोग कर दिया है। भक्तों के लिये इतिहास का दृष्टिकोण ही कुछ दूसरा हुआ करता है। सन्, संवत् अथवा सिजरा-ए-खानदान की अपेक्षा वे श्रद्धावर्धक घटनाओं की खोज में अधिक रहा करते हैं। गोस्वामी जी की असाधारण आध्यात्मिक उन्नति के पोषण में जितनी घटनाएँ—जितनी जनश्रुतियाँ—उन्हें मिलती जायँगी उतना ही अधिक अनुराग उन्हें गोस्वामो जी की रचनाओं पर होता जायगा—गोस्वामी जी के उत्साह-वर्धक और ज्ञानवर्धक वाक्यों को वे उतनी ही अधिक श्रद्धा और उतने ही अधिक विश्वास के साथ पढ़ेंगे तथा इस प्रकार उतना ही अधिक लाभ उठावेंगे। इसलिए वे लोग सुनी-सुनाई हुई ऐसी घटनाओं को तर्क की कसौटी पर जाँचने के बदले श्रद्धापूर्वक ही मान लिया करते हैं और मानकर अभीष्ट

---

१. गोस्वामी जी के कुछ मुहावरों और विशिष्ट शब्दों की चर्चा करके पं० रामनरेश जी त्रिपाठी अनुमान करते हैं कि उन्होंने (गोस्वामी जी ने) खेतिहर का जीवन बिताया था और व्यापार भी किया था। (देखिए भूमिका पृष्ठ १२) परन्तु हमारी समझ में ऐसा अनुमान ठीक नहीं; क्योंकि गोस्वामी जी ने अपनी प्रतिभा के बल पर केवल किसानों और व्यवसायियों ही के नहीं वरन् सामान्य स्त्रियों, मलाहों, मालियों, राजपुरुषों आदि के विशिष्ट शब्दों और मुहावरों का भी बड़े अधिकार के साथ प्रयोग किया है।

लाभ भी उठाते हैं। एक बात और है, आध्यात्मिक उन्नति के साथ इच्छा-शक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा करता है। इसलिए आध्यात्मिक उन्नतिवाले व्यक्ति के जीवन में उसकी इच्छाशक्ति के कारण असाधारण घटनाओं अथवा चमत्कारों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। जो लोग मानवी इतिहास को सामान्य मानव की इयत्ता की माप के अंदर ही रखकर देखना चाहते हैं वे इन घटनाओं को कपोलकल्पित कह सकते हैं; परन्तु श्रद्धालु भक्तों के लिये तो वे अवश्य ही लाभदायक और अतएव सत्य हैं। इन घटनाओं के कारण गोस्वामी जी के सिद्धान्तवाक्य सर्वसाधारण में निश्चय ही अधिक श्रद्धाभाजन बन गये हैं।

तीस से अधिक ग्रन्थ ऐसे हैं जो गोस्वामी जी के लिखे कहे जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) रामचरितमानस (२) गीतावली (३) कवितावली (४) दोहावली (५) श्रीकृष्णगीतावली (६) विनय-पत्रिका (७) वैराग्यसंदीपिनी (८) रामाज्ञाप्रश्न (९) जानकीमंगल (१०) पार्वतीमंगल (११) रामलला नहछू (१२) बरवै रामायण (१३) सतसई (१४) छन्दावली (१५) पदावली (१६) कुण्डलिया रामायण (१७) छप्पय रामायण (१८) कड़खा रामायण (१९) रोला रामायण (२०) झूलना रामायण (२१) हनुमानबाहुक (२२) संकट-मोचन (२३) हनुमान चालीसा (२४) रामशलाका (२५) कलिधर्मा-धर्मनिरूपण (२६) बारहमासी (२७) मंगलरामायण (२८) सूर्यपुराण (२९) राममुक्तावली (३०) गीताभाषा (३१) ज्ञान परिकरण आदि। आश्विन सं० १९९३ के 'कल्याण' में श्री बालकराम विनायक ने गोस्वामी जी के नामराशी महोदयों का उल्लेख किया है। उनके समान अन्य अनेक सज्जन भी अनेक तुलसी नामधारी कवियों की चर्चा करते हैं। तुलसी सतसई तो कई लोगों के मत से किसी तुलसी कायस्थ की रची हुई कही जाती है। अतएव बहुत संभव है कि इनमें से अनेक ग्रन्थ हमारे चरितनायक गोस्वामी तुलसीदास जी के रचे हुए न हों। बहुत छानबीन के बाद विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि पूर्वोक्त सूची के प्रथम द्वादश ग्रन्थ ही गोस्वामीजी

के लिखे हुए हैं।[१] यद्यपि बाबू श्यामसुन्दरदास तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी न सतसई को भी प्रामाणिक माना है तथापि पर्याप्त लोकमत के अभाव में हम अभी उसे उन द्वादश ग्रन्थों की कोटि में रखना उचित नहीं समझते। कहना न होगा कि सतसई और दोहावली के बहुत से दोहे एक ही हैं।

रामचरितमानस के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले गोस्वामी जी के शेष ग्यारह ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित न होगा। रामलला नहछू, जानकीमंगल और पार्वतीमंगल बहुत करके स्त्रियों के लिए लिखे गये थे। वे विवाह इत्यादि माङ्गलिक कृत्यों में गाने की वस्तुएँ हैं। पिछली दो पुस्तकें तो रामचरितमानस के बाद की लिखी कही जाती हैं[२] परन्तु रामलला नहछू के "अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लेइ आवइ हो। उभरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो।" "रूप-सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो। जाकी ओर विलोकहि मन तेहि साथहि हो।" सरीखे पद्य स्पष्ट ही रामचरितमानस के पहले के लिखे गए जान पड़ते हैं।[३] पार्वतीमंगल में शंकरजी ही बटु रूप से पार्वती के पास पहुँचे थे। कालिदास आदि का भी यही कथन है। परन्तु रामचरितमानस में शंकर ने सप्तऋषियों को भेजा है, स्वतः नहीं गये हैं। जानकीमङ्गल में फुलवारी के प्रसंग का उल्लेख नहीं है और परशुराम की भेंट जनकपुर से लौटती बार करायी गयी है। कालिदास आदि का भी यही क्रम रहा है। परन्तु रामचरित

---

१. तुलसीग्रन्थावली, तृतीय खण्ड (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)।

२. इस सम्बन्ध में प्रो० सद्‌गुरुशरण अवस्थी लिखित "तुलसी के चार दल" और माताप्रसाद गुप्त लिखित "तुलसीसंदर्भ" दर्शनीय हैं।

३. यद्यपि लोककाव्य की परम्परा का ध्यान रखते हुए कुछ लोग इन कृतियों को भी प्रौढ़ काल की रचनाएँ मानने में कोई अनौचित्य नहीं पाते। हाल ही में डाक्टर रामकुमार वर्मा को इस ग्रंथ-रतन के अनेक छन्द प्राप्त हुए हैं।

मानस में फुलवारी का प्रसङ्ग भी है और जनकपुर के धनुष-सभा-भवन ही में परशुराम से भेंट भी हो गई है।

बरवै रामायण गोस्वामी जी की प्रौढ़ रचना है और काव्यदृष्टि से बहुत उच्च कोटि की है। परन्तु खेद है कि आज दिन इसके बहुत कम छंद उपलब्ध हैं। रामाज्ञाप्रश्न, कहा जाता है एक ही दिन में तैयार कर दिया गया था और उसे गोस्वामी जी ने एक विशेष प्रसङ्ग उपस्थित होने पर अपने मित्र गंगाराम ज्योतिषी के लिए लिखा था। यह ग्रन्थ ज्योतिष सम्बन्धी भविष्य विचार के लिए है यद्यपि इसमें रामकथा पूरी आ गयी है। यह प्रथम चार ग्रन्थों की अपेक्षा आकार में बड़ा है परन्तु कविता कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। हाँ, इसके कुछ दोहे रामचरितमानस में अवश्य दिखाई पड़ते हैं। वैराग्यसंदीपिनी बहुत छोटी परन्तु उत्तम पुस्तक है। इसमें गोस्वामी जी ने गुरु के लक्षण, सन्त के लक्षण, शान्ति का महत्त्व, राग-द्वेष के परित्याग आदि की बातें लिखी हैं। नमूने के लिए "पाप ताप सब सूल नसावै, मोह अंध रविवचन बहावै" "तुलसी ऐसे सद्गुरु साधू। वेद मध्य गुन विदित अगाधू।" ही लिख देना पर्याप्त है। जब हम देखते हैं कि भक्ति अथवा वैराग्य विषयक शास्त्रग्रंथ लिखने की अपार क्षमता रखते हुए भी उन्होंने वैराग्यसंदीपिनी सरीखा छोटा और अधूरा ग्रन्थ ही लिख छोड़ा है तब बरबस हमें यह मानना पड़ता है कि या तो उनका बृहद् ग्रंथ अप्राप्त है या तो उन्होंने ऐसे रीति-ग्रन्थों के रूखेपन का अनुभव करके यह शैली ही बहुत कम अपनाई और पौराणिकों के अनुसार भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के तत्त्वों को हरिकथा में लपेट कर ही जनता के सामने रखना अधिक उपयुक्त समझा। हम इस दूसरे पक्ष को अधिक तथ्यपूर्ण मानते हैं।

बड़े ग्रन्थों में से रामगीतावली, कृष्णगीतावली, कवितावली और दोहावली तो बहुत कुछ संग्रह ग्रन्थ से जान पड़ते हैं। यदि वे स्वतंत्र रूप से लिखे भी गये हों तो उनमें और विशेषकर कवितावली तथा दोहावली में पीछे बहुत काट-छांट की गयी और समय-समय पर लिखे हुए फुटकर छन्दों का समावेश कर दिया गया है, ऐसा जान पड़ता है। रामगीतावली में

सीतानिर्वासन के उल्लेख के साथ ही साथ उसका एक बड़ा सुन्दर कारण भी दे दिया गया है। गोस्वामी जी कहते हैं कि उस समय रामचन्द्र जी अपने पिता दशरथ महाराज की शेष आयु भोग रहे थे इसलिए सीतानिर्वासन आवश्यक था। रामचरितमानस के "राजाराम" तो अपनी शक्ति के साथ "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" हैं। इसलिए वहाँ निर्वासन, परलोकगमन आदि का विषय ही नहीं है। कृष्णगीतावली में निर्गुण उपासना और विराट उपासना के बदले सगुण साकार द्विभुज रूप उपासना की पुष्टि में निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

जेहि उर बसत श्यामसुन्दर घन तेहि निगुण कस आवै।
तुलसीदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावै।। (३३)[1]
सब अँग रुचिर किसोरस्यामघनजेहि हृदि जलज बसतहरि प्यारे।
तेहि उर क्यों समात विराट वपुस्यों महि सरित सिंधुगिरिभारे।। (५७)

कवितावली के तो कई कवित्त बहुत सुन्दर हैं। सिद्धान्त के विषय में उनका वह सवैया देखने योग्य है जिसमें अन्तर्यामी की अपेक्षा "बाहरजामि" को बड़ा बताया गया है (देखिए उत्तरकाण्ड १२९ छंद)[1]। दोहावली में फुटकर दोहे बहुत हैं और उनमें अधिकांश अत्यन्त सुन्दर तथा बड़े भावपूर्ण हैं। रामचरितमानस के भी अनेक दोहे उसमें विराज रहे हैं। दोहावली के कुछ विशिष्ट दोहे, जो तुलसीमत पर भी पर्याप्त प्रकाश डाल रहे हैं, इस प्रकार हैं—

हिय निरगुन नैननि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट सम्पुट लसै तुलसी ललित ललाम।।७।।
सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निरगुन मत तें दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि।।८।।
मोर मोर सब कहँ कहसि तू को कहु निज नाम।
कै चुप साधहि सुनि समुझि कै तुलसी जपु राम।।१८।।

---

१. ये छन्द संख्याएँ तुलसी ग्रन्थावली भाग २ से ली गयी हैं।

जे जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेह॥६१॥
कै तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीजे तुलसी तोहि॥७८॥
प्रीति राम सों नीति पथ चलिय रागरस जीति।
तुलसी सन्तन के मते इहै भगत की रीति॥८६॥
करमठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान विहीन।
तुलसी त्रिपथ विहाय गो रामदुआरे दीन॥९९॥
ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥२५१॥
तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग जाचत बारह मास॥३०८॥
आपु आपु कहँ सब भलो अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो सुजन सराहिय सोइ॥३५७॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान॥५५४॥[1]

विनयपत्रिका भी गोस्वामी जी की प्रौढ़ रचना है और रामचरितमानस के पीछे लिखी गयी है। यद्यपि उसमें अनेकानेक पद हैं; परन्तु वे एक आवेदन-पत्रिका (दरख्वास्त) के क्रम से जमाये गये हैं। यह पूरी की पूरी अर्जी पढ़ने ही लायक है। क्या काव्य और क्या भक्तिभावना सभी दृष्टियों से यह ग्रंथ अपूर्व है। कई लोग तो रामचरितमानस से भी अधिक महत्त्व इस ग्रंथ को देते हैं। इसके अनेकानेक पद याद रखने योग्य हैं। भक्तों का तो यह कण्ठहार है। हम यहाँ अपने वर्ण्य विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ विशिष्ट पदों[2] का संकेतमात्र दे देना ही उचित समझते हैं। जो विशेष

---

१. ये छन्द-संख्याएँ हिन्दी प्रेस, प्रयाग की छपी हुई दोहावली की हैं।
२. ये पद-संख्याएँ गीता प्रेस की छपी विनयपत्रिका से दी गयी हैं।

रस लेना चाहें वे वियोगी हरि आदि की टीकाओं के सहारे या योंही पूरी विनयपत्रिका मनोनियोग पूर्वक पढ़ जायँ। हमें विश्वास है कि उन्हें अपने परिश्रम के लिए खेद न होगा।[1]

विनयपत्रिका के ५८वें पद में गोस्वामी जी ने मोह को रावण और प्रवृत्ति को लंका बताया है। ९१वें पद में "तब ही तें न भयो हरि! थिर जबतें जिव नाम धरयो" यह "जीव" के वास्तविक तत्त्व पर अच्छा प्रकाश डालता है। १३५वाँ पद ध्यान से पढ़ा जाय तो यह विदित हो जायगा कि गोस्वामी जी भगवान् शिव, कृष्ण और राम में कोई भेद नहीं मानते थे। (१०६वाँ पद भी इसी ओर संकेत करता है)। १३६ वाँ पद सिद्धांत की दृष्टि से उत्तम है। १३८वें सरीखे पद तो भक्तों के सर्वस्व हैं। १५५ वाँ पद बताता है कि वे परलोक सुख की आशा से रामसेवक नहीं बने हैं वरन् उन्हें ऐसा होने में इसी जीवन में आनन्द और शान्ति की प्राप्ति होती है। १७२वें पद में संतस्वभाव की बड़ी सुन्दर मीमांसा है। १८८वें पद में "नंद-कुमार" का प्रयोग द्रष्टव्य है। १९८वें पद की चेतावनी विरागियों के लिए अत्यन्त उत्तम है। २०३वाँ पद भी अपने ढङ्ग का निराला है। यहाँ भी गोपाल और राम का ऐक्य है। २०५वें पद का हरितोषण व्रत भक्तों का सर्वस्व है। २२६वें पद के "प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो" में कितना उत्तम सिद्धांत कह दिया गया है। २५५वें पद में नाममहिमा देखने योग्य है। २६८वें नम्बर का तो पूरा पद ही देख जाइये। गोस्वामी जी कहते हैं—

तुम अपनायो जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लगो तेहि सहज नाथ सों नेह, छाँड़ि छल करिहै।
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।

---

१. श्री सावन्त जी ने, जिनका नाम अब महात्मा अंजनीनन्दन शरण हो गया है, मानस-पीयूष की भाँति 'विनय-पीयूष' नामक एक वृहत् टीका विनय-पत्रिका पर लिखी और प्रकाशित की है।

अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ विधि
चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरिहै।
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि-लाभ दुख सुख सबै, समचित
हित अनहित कलिकुचाल परिहरिहै।
प्रभुगुन सुनि मन हरषि है, नीर नयननि ढरि है।
तुलसीदास भयो राम को, विश्वास
प्रेम लखि आनन्द उमँगि उर भरिहै।

गोस्वामी जी का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है रामचरितमानस, जिसे सामान्यतः लोग रामायण कह दिया करते हैं। इस ग्रन्थरत्न की प्रशंसा में जो भी कहा जाय थोड़ा है। क्या भाषा और क्या भाव, क्या काव्य और क्या सिद्धान्त, क्या रसपरिपाक और क्या प्रबन्धचातुरी, क्या साधुमत और क्या लोकमत, क्या अतीतकथा और क्या भविष्य-पथप्रदर्शन, जिस दृष्टि से देखिए उसी दृष्टि से यह ग्रन्थ अपूर्व जान पड़ता है। सरलता तो इस ग्रन्थ की ऐसी है कि एक अपढ़ गँवार भी इसकी पंक्तियाँ सुनकर मुग्ध हो जाता और उन्हें याद कर लेता है और गंभीरता ऐसी है कि बड़े-बड़े विद्वच्च-क्रचूड़ामणि भी इसकी चौपाइयों के चमत्कार पर विचार करते हुए चक्कर खा जाते हैं। लोकोत्तर आनन्द देने के लिए यह अनूठा काव्यग्रंथ है, परम शान्ति देने के लिए यह अनूठा भक्तिग्रन्थ है और समाजसंस्कार के लिए यह अनूठा नीतिग्रंथ है। राम-कथा प्रेमियों का तो यह सर्वस्व ही है। गरीब की झोपड़ी से लेकर महाराजाओं के महलों तक में यह ग्रंथ पूजनीय माना जाता है। इस ग्रंथकल्पद्रुम ने लाखों मनुष्यों को परम शान्ति दी है और करोड़ों को दिव्य आनन्द प्रदान किया है। तुलसीदास जी की महत्ता का प्रधान आधार यही एक ग्रंथ है, जिसके गौरव के साथ उनका गौरव अभिन्न रूप से सम्बद्ध है।

इस ग्रन्थरत्न की कुछ विशेषताएँ अन्तिम परिच्छेद में बतायी जा रही हैं। इस स्थल पर तो इस ग्रंथ के सम्बन्ध में तथा इसके रचयिता

के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख विद्वानों की सम्मतियाँ लिख देना ही पर्याप्त होगा। जो सनातनी हिन्दू हैं और जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनकी सम्मतियाँ कदाचित् पक्षपातपूर्ण मानी जायँ इसलिए हम कुछ ऐसे ही सज्जनों की सम्मतियाँ दे रहे हैं जो या तो सनातनी हिन्दू ही नहीं हैं या जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है।

गोस्वामी जी के समकालीन जैन कवि बनारसीदास जी कहते हैं—

विराजै रामायन घट माहीं
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख माने नाहीं ॥इत्यादि॥[1]

अब्दुर्रहीम खानखाना महोदय का कथन है—

रामचरितमानस बिमल सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को बेदसम जमनहिं प्रगट कुरान ॥[2]

फोर्टविलियम के मुंशी अदालतखाँ महोदय कहते हैं—

उनके उपदेश सचमुच ही दार्शनिक, ठोस और अनुकरणीय हैं. . . उनकी विचारधारा बहुत ही उत्कृष्ट है, शैली अत्यन्त शुद्ध और भाषा प्रभावशालिनी है। इसको संसार के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। रामायण का अनुवाद; भूमिका ६[3]

श्री नटेशन महोदय की उक्ति है :—

माध्यमिक काल में जितने वैष्णव तथा अन्य सुधारक सम्प्रदाय शुरू

---

१. पृष्ठ ११७ गोस्वामी तुलसीदास (बाबू श्यामसुन्दरदास और श्री बड़थ्वाल कृत)।

२. कल्याण के रामायणांक पृष्ठ २२९ में श्री बालकराम जी विनायक ने यह दोहा लिखा है। इसे हमने रहीम के किसी ग्रन्थ में नहीं देखा। आचार्य शुक्ल जी को जब हमने इसे दिखाया तो उन्होंने भी इसे संदिग्ध ही कहा।

३. हमने यह अनुवाद कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी में देखा है। वह बहुत भ्रमात्मक है। केवल मुसलमान के हृदयोद्गार के नाते हमने उनकी सम्मति दी है।

हुए और उनमें जो आध्यात्मिक उल्लास और आकांक्षा के भाव फैले, उनमें गोस्वामी जी की रामायण एक बहुत ही उत्कृष्ट और दिव्य सङ्गीत की तरह अपना मस्तक ऊँचा किये हुए है।

"रामानन्द टू रामतीर्थ" पृष्ठ ११२

'की' साहब की राय है—

हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान निःसंदेह सर्वोच्च है और उनकी रामायण न सिर्फ भारत में ही, बल्कि सारे संसार में सुप्रसिद्ध है। वह यथ र्थतः ख्याति के योग्य है। "हिन्दी लिटरेचर" पृष्ठ ४७

मैक्फी साहब का निर्णय है—

"गोस्वामी तुलसीदास जी के ग्रन्थों में भक्ति का जो उच्च और विशुद्ध भाव आता है, उससे बढ़कर और कहीं नहीं दिखाई देता।" भूमिका

"हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तों और उनकी संस्कृति का सर्वोच्च सुन्दर चित्र जैसा कि रामायण में मिलता है, वैसा शायद अन्य किसी ग्रंथ में न होगा।" षोड़ल पृष्ठ, सेण्ट्रल थीम

"गोस्वामी जी अपनी रचना में ऐसी कोई बात नहीं कहते, जो उनके किसी पाठक को अप्रिय हो।" पृष्ठ २१५

"वे भारत के सर्वसाधारण समाज को लेकर चलते हैं।"[१] पृष्ठ २१६

कारपेण्टर साहब अँग्रेजी विश्वकोष का उद्धरण देते हुए कहते हैं—

"गोस्वामी तुलसीदास जी की रचना जनसमाज के लिए इतनी अनुकूल पड़ी है कि उनके वचनों को जनता कहावतों की तरह इस्तेमाल करती है। इतना ही नहीं बल्कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भी उनकी रचना बड़ी उत्कृष्ट है। वर्तमान समय में हिन्दुत्व के अन्दर उनके उपदेशों का जो

---

१. ये सब उद्धरण डाक्टर जे० एम० मक्फी एम० ए०, पी-एच० डी० की "दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दन इंडिया" नामक पुस्तक से लिये गये हैं। यह ग्रन्थ १९३० में एडिनबर्ग में छपा है। हमने कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी में देखा है।

प्रभाव है वह अन्य किसी का नहीं। अन्य साम्प्रदायिक साधुओं की तरह उन्होंने अपना कोई निज का सम्प्रदाय नहीं चलाया, तथापि उनको भारत की तमाम हिन्दू जनता अपने चरित्रनिर्माण और धार्मिक कार्यों में एक बहुत ही आप्त और प्रामाणिक पथप्रदर्शक मानती हैं।"

थियोलोजी आफ तुलसीदास, पृष्ठ २

बहुभाषाविज्ञ श्री ग्रियर्सन महोदय का कथन है—

"आधुनिक काल में तुलसीदास के समान दूसरा अन्य ग्रन्थकार नहीं हुआ।"

इण्डियन एण्टीक्वेरी १८९३, पृष्ठ ८५

'रामायण में श्रीरामचन्द्र जी के प्रति भक्ति और प्रेम की जो विशुद्ध धारा गोस्वामी जी ने बहाई है, वह किसी भी समय के बड़े से बड़े कवि को सदैव शोभा देगी।"

पृष्ठ २६०—६१

"भारत में तुलसीकृत रामायण का स्थान साहित्य में सर्वोपरि है। उसके प्रभाव का अतिरंजित वर्णन हो ही नहीं सकता।"[1]

"तुलसीकृत रामायण का उत्तर भारत की, करोड़ों पढ़ी और बेपढ़ी जनता में इतना अधिक मान और प्रचलन है कि जितना सामान्य ईसाइयों में बाईबिल का नहीं है।" एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स १९२१, पृष्ठ ४७१

"भारत में हजारों और लाखों उपदेशकों की वह वक्तृत्व शक्ति और ग्रंथों का वह प्रभाव भक्तिमार्ग पर नहीं हुआ, जो तुलसीदास की रचना और उनके साधुत्व का है।" पृष्ठ ४७२

महात्मा गान्धी का कथन है—

"तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसे मैं अद्वितीय ग्रन्थ मानता हूँ।"

---

१. जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०३।

"मानस के प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर हैं। मानस अनुभवजन्य ज्ञान का भण्डार है।"

"मैं तुलसीदास जी की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।"

"गीता और तुलसीदास की रामायण के संगीत से जो स्फूर्ति और उत्तेजना मुझे मिलती है वैसी और किसी से नहीं मिलती।"

हमारे वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में गोस्वामी जी और उनके रामचरितमानस की महत्ता प्रकट करने के लिये इतने उद्धरणही आवश्यकता से अधिक पर्याप्त हैं।

आश्चर्य की बात है कि ऐसे लोकमान्य ग्रन्थ की मूल प्रति अब खोजने पर भी नहीं मिल रही है। तीन उपलब्ध प्रतियों के सम्बन्ध में कुछ लोगों की धारणा है कि वे गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई हैं। इनमें से अयोध्या की श्रावणकुंजवाली प्रति सं० १६६१ की लिखी हुई कही जाती है। इसका केवल बालकाण्ड प्राचीन है। उसकी भी लिखावट ऐसी है जो सं० १६४१ में स्वतः गोस्वामी जी के हाथों से लिखी हुई वाल्मीकि रामायण की लिखावट से मेल नहीं खाती। मलीहाबादवाली प्रति दूसरों को छूने भी नहीं दी जाती और सुना जाता है कि उसमें क्षेपक भी हैं, तीसरी प्रति जो राजापुर में है, केवल अयोध्याकाण्ड की है। अक्षरों को देखते हुए वह भी गोस्वामी जी के हाथों की लिखा हुई नहीं कही जा सकती फिर इन तथा ऐसी और और प्रतियों में भी पिछले भक्तजनों की कृपा से समय समय पर संशोधनादि होते गये हैं और क्षेपकादि पाठान्तरादि बढ़ते गये हैं। इन्हीं सब अड़चनों का परिणाम है कि आज दिन हम रामचरितमानस की निर्विवाद रूप से विशुद्ध प्रति के दर्शन तक नहीं पा रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि रामचरितमानस की विशुद्ध प्रति मिल ही नहीं सकती। गोस्वामी जी के जीवनकाल ही में लोगों ने उसकी प्रतिलिपियाँ प्रारंभ कर दी थीं। सं० १७०४ और सं० १७२१ की लिखी हुई प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं। (देखिए तुलसी संदर्भ) कई प्रसिद्ध रामायणियों के यहाँ वंशपरंपरा से रामचरितमानस की विशुद्ध

प्रतिलिपियाँ चली आयी हैं।[1] उन सबकी छानबीन करके रामचरितमानस का विशुद्ध संस्करण छपाया जा सकता है। खड्गविलास प्रेस, वेंकटेश्वर प्रेस, नवलकिशोर प्रेस आदि के स्वामियों ने तो जो प्रयत्न किया सो किया ही परन्तु इस ओर सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने किया है। "तुलसी ग्रन्थावली" वाला उसका संस्करण बड़ा प्रामाण्य माना जाता है। बाबू रामदास गौड़ उसे भी अग्राह्य समझते हैं और अपने निश्चय की पुष्टि में उन्होंने कई दलीलें सुनायी थीं। उन्होंने स्वतः एक संस्करण हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से छपाया है, परन्तु कई कारणों से यह भी पूर्णतः संशोधित न हो सका; यह वे स्वतः स्वीकार करते हैं। फिर भी ये दोनों संस्करण हिन्दी जनता में खूब प्रचलित हैं। गौड़ जी वाला संस्करण बहुत कम दामों का होने के कारण सर्वत्र सुलभ-सा हो गया है। इसलिए हमने निबंध में जहाँ कहीं रामचरितमानस के प्रमाण दिये हैं वहाँ गौड़ जी के संस्करण से ही पृष्ठ और पंक्ति संख्या दी है। जो विशिष्ट सिद्धान्त वाक्य थे उन्हें हमने नागरी-प्रचारिणी सभावाले संस्करण से भी मिला कर देख लिया है। इस बीच हमने 'रामचरितमानस' की विशुद्धप्रति के सम्पादन के और भी प्रयत्न देखे हैं। एक प्रयत्न पं० विजयानन्द त्रिपाठी का है, दूसरा डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का, जो विशेष वैज्ञानिक है।[2]

रामचरितमानस के टीकाकार भी अनेक हो गये हैं। ज्ञानी संतसिह

---

१. इस सम्बन्ध में "श्री गोस्वामी जी के नामाराशी" 'कल्याण' भाग ६ संख्या ४ में विजयानन्द त्रिपाठी का "तुलसीकृत ग्रन्थों के शुद्ध पाठ की खोज" आदि लेख देखे जा सकते हैं।

२. उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हाल ही में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व में मानस का एक काशिराज-संस्करण छपाया गया है जो विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार प्रणीत हुआ है। फिर भी मानस-व्यासों का अभी किसी भी संस्करण की सर्वांग शुद्धता पर ऐकमत्य नहीं होने पाया है।

जी, कुर्मी बैजनाथ जी, पाठक शिवलाल जी, स्वामी काष्ठ जिह्वा जी, श्री काशिराज महाराज, परमहंस हरिहरप्रसाद, मुन्शी शुकदेव लाल तथा महन्त श्री रामचरणदास जी प्राचीन शैली के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। विद्या-वारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० रामेश्वर भट्ट (जिनकी लिखी हुई पीयूषधारा और अमृतलहरी नामक दो-दो टीकाएँ हैं), श्री रामप्रसाद शरण, पं० विनायकराव, श्रीरणबहादुर सिंह जी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० महा-वीरप्रसाद मालवीय, श्री जनकसुताशरण शीतलासहाय सावंत आदि नवीन शैली के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। कई लोग ऐसे हैं जिन्हेंने रामचरितमानस के कुछ अंशों पर ही टीकाएँ की हैं। प्रयाग बांध पर के परमहंस नागा बाबा, पं० शिवरत्न शुक्ल, श्री प्रोफेसर राजबहादुर जी लमगोड़ा, पं० विजयानन्द जी त्रिपाठी आदि के नाम इस सम्बन्ध में गिनाये जा सकते हैं। पं० बन्दन पाठक तथा पं० रामकुमार जी के टिप्पण, श्री रामदास गौड़ तथा लाला भगवानदीन के नोट्स, श्री रामबल्लभाशरण जी तथा रामबालकदास जी सदृश महात्माओं की वचनावली आदि बहुत-सी ऐसी आंशिक टीकाओं का उपयोग श्री सांवत जी ने अपनी टीका में किया है। इतनी सामग्री रहते हुए भी रामचरितमानस की नयी-नयी टीकाएँ निकलती ही चली जा रही हैं। इस ग्रंथ में काव्यचमत्कार और अर्थगाम्भीर्य ही ऐसा है कि आप जितने चाहें उतने भावरत्न निकालते चले जाइये और फिर भी वह अद्वि-तीय रत्नाकर ही बना रहेगा।[1] मानस के अध्ययन का पूरा आनन्द तभी है जब सब प्रकार की टीकाएँ दूर रख कर उसका पारायण किया जाय। यदि ग्रंथ के गौरव के सम्बन्ध में टीका की आवश्यकता ही हो तो श्री जनक-सुताशरण शीतलासहाय सावंत जी की लिखी मानसपीयूष टीका (नये

१. मानस पर इस समय तक जितने शोध और समीक्षाग्रंथ लिखे जा चुके हैं उतने अन्य किसी हिन्दी कृति पर नहीं लिखे गये। फिर भी नये-नये अनुसंधित्सु अब भी नये नये प्रबन्ध निबन्ध लिखे ही चले जा रहे हैं और उन्हें नई नई सामग्रियाँ मिलती ही चली जा रही हैं।

संस्करण वाली) देखी जावे क्योंकि इस टीका में प्रायः सब सामान्य टीकाओं और आलोचनाओं की संग्राह्य बातें मिल जायँगी।

टीकाकारों के अतिरिक्त कई लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों ने भी रामचरितमानस के सम्बन्ध में अपने गंभीर विचार प्रकट किये हैं। आचार्यप्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना तो परम प्रख्यात है ही। बाबू श्यामसुन्दरदास तथा बड़थ्वाल महोदय ने भी गोस्वामी जी की कला और उनके सिद्धान्तों पर अच्छा प्रकाश डाला है। जामदार महोदय का 'मानसहंस' भी इस सम्बन्ध में उत्तम ग्रंथ है। श्री भानुकवि जी ने तुलसीतत्त्व-प्रकाश और तुलसीभाव-प्रकाश नामक पुस्तिकाएँ इस विषय में लिखी हैं। जयरामदास दीन जी की लेखमालाएँ भी अच्छी ही निकलीं। श्री राजबहादुर लमगोड़ा ने तो अध्ययनपूर्ण अनेक ग्रंथ प्रस्तुत किये। वर्तमान समय में डाक्टर माताप्रसाद गुप्त की कृतियां विशेष उल्लेखनीय हैं। ब्योहार राजेन्द्र सिंह प्रभृति सज्जन भी इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखा करते हैं। सरदार कवि के 'मानसरहस्य' के समान कुछ प्राचीन ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में विद्यमान हैं। अंग्रेजो में ग्रियर्सन महोदय की लेखमालाओं के अतिरिक्त डाक्टर मैक्फी का "दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दर्न इंडिया" नामक ग्रन्थ तथा रेवरेण्ड डाक्टर कारपेण्टर महोदय का "दि थियोलोजी आफ तुलसीदास" नामक ग्रन्थ देखने योग्य है। भारत में ऐसे अनेक विद्वान् हैं जिन्होंने रामचरित मानस के प्रवचन ही को अपने जीवन का मुख्य कर्त्तव्य बना लिया है। वे लोग भी स्थान-स्थान पर अपनी अनूठी विचारमालाओं से श्रोताओं का मनोरंजन और ज्ञानवर्धन किया करते हैं। अब तो गोस्वामी जी पर और उनके मानस पर डाक्टरेट के अनेक विद्यार्थी अनुसंधान कर रहे हैं।[1]

---

१. अनुसंधित्सुओं के अतिरिक्त डा० कामिल बुल्के के समान विदेशी विद्वान्, डा० भगीरथ मिश्र के समान विश्वविद्यालयीन आचार्य, पं० राम किंकर उपाध्याय के समान सुचिन्तक प्रवचनकार आदि भी मानस-

गोस्वामी जी ने रामचरितमानस को यद्यपि खरा प्रासादिक काव्य माना है।[१] परन्तु उनकी दृष्टि में इसकी महत्ता काव्य चमत्कार के कारण नहीं किन्तु इसके वर्ण्यविषय—रामकथा—के कारण है।[२] उनकी वह रामकथा भी कोई इतिहास नहीं वरन् संदेह, मोह और भ्रम हरनेवाली तथा भवसागर पार करा देनेवाली कथा है।[३] मोह दूर करने के लिये साधारणत: वैराग्य, भ्रम दूर करने के लिये ज्ञान और भवसागर पार करने के लिये भगवत्कृपा अथवा भक्ति का सहारा लिया जाता है।[४] संदेह दूर करना शास्त्र का काम है। इस तरह यह कथा विरति विवेक संयुक्त हरि-भक्ति शास्त्र के रूप में कही गयी है। इसलिए इसमें रामचरित चर्चा "व्यास समास स्वमति अनुरूप" पद्धति से घटाबढ़ा कर अनोखे ढंग पर कही गयी

विषयक न जाने कितनी विचार राशियां और भाव-राशियां देते चले जा रहे रहे हैं।

१. संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥
२२ पृष्ठ, १९ पं०
चली सुभग कविता सरितासी। राम विमल जस जल भरितासी॥
२४ पृष्ठ २२ पं०

२. जदपि कवितरस एकउ नाहीं। रामप्रताप प्रगट एहि माहीं॥
९पृष्ठ ७ पं०
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी॥
९ पृष्ठ १३ पं०

३. जिन संदेह मोह भ्रम हरनी। करउं कथा भव सरिता तरनी॥
पृष्ठ २० पं० ३
विरति विवेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी॥
४५१ पृष्ठ १ पं०

४. बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥
५०५ पृष्ठ १९ पं०

है और श्रद्धालु भक्त इसकी अपूर्वता देख कर कहीं चौंक न उठें इसीलिए अनेक कल्पों के अनेक रामजन्मों की चर्चा चला दी गयी है। रामकथा के विविध रूपों के अध्ययन के लिये डाक्टर कामिल बुल्के का ग्रंथ देखा जावे।[1] महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी ने ठीक ही कहा है कि "रामायण को काव्य कहना उसका अपमान करना है। उसमें तो भक्तिरस का प्रवाह बहता है जो जीवन को पवित्र कर देता है।" (पृष्ठ २८ कल्याण का रामायणांक) यह ग्रंथ इतिहास नहीं है इस सम्बन्ध में तो गोस्वामी जी की यह पंक्ति ही पर्याप्त है कि "रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं"—४६६-१६। सन्तों का स्वान्तः सुख लोककल्याण में है और गोस्वामी जी के समय में लोक की परिस्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी उन्होंने अपने कलिधर्म में लिखी है। इसलिए जब कि 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ, संयुक्त विरति विवेक। तेहि न चलहिं नर मोह बस कलपहिं पथ अनेक" (४८९ पृ०-५ पं०) वाले ज्ञानी लोग भी कुमार्ग में जा रहे थे तब विरति-विवेक-संयुक्त श्रुतिसम्मत हरिभक्ति-पथ के प्रवर्त्तन में यदि तुलसीदास जी के समान सन्त का मन चलायमान हो गया तो कोई आश्चर्य नहीं।

खेद है कि इस दृष्टिकोण से रामचरितमानस पर बहुत कम लोगों ने आलोचनाएँ लिखी हैं।[2] जो कुछ ग्रंथ हैं भी उनमें गोस्वामी जी के भक्ति शास्त्र का—गोस्वामी जी के "तुलसीमत" का—पूर्ण विवेचन नहीं मिलता। गोस्वामी जी ने अवश्य ही अपने नाम से कोई मत नहीं चलाया, परन्तु उनका मत आज अखिल सनातन धर्म पर अपना सिक्का बैठाये हुए है। वही तो सनातन धर्म का विशुद्ध स्वरूप है, जिसमें गीता से लेकर गान्धीवाद तक

---

१. इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण विशेष परिवर्धित रूप में प्रकाशित है।

२. अब तो गोस्वामी जी के युग-बोध का ध्यान रखते हुए मानस को आदि से उनके प्रदत्त नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र आदि आदि पर पर्याप्त अच्छे ढंग से शोधकार्य किया जा चुका और किया जा रहा है।

सब मतों की सार बातें आ गयी हैं। जितने धर्म प्रवर्त्तक हुए हैं सबों ने प्राचीन धर्म सिद्धान्तों का सहारा लिया है। उनकी नवीनता यदि थी तो केवल उपर्युक्त विषयों के संग्रह और अनुपयुक्त विषयों के त्याग ही में थी। यही हाल गोस्वामी जी का रहा है। यदि हमें उनके रामचरितमानस में भक्ति-शास्त्र (अथवा यों कहिए कि मानवधर्मशास्त्र) का पूरा-पूरा विवेचन मिल जाता है तो हम क्यों न उसे तुलसीमत का नाम देकर स्पष्ट कर दें। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने यह निबन्ध लिखने का साहस किया है। इस सम्बन्ध में हमने पहिले तो रामचरितमानस से वे सब पंक्तियाँ छाँट लीं, जिनमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों का कोई न कोई अंश विद्यमान था। हमें ऐसी लगभग साढ़े तीन हजार पंक्तियाँ मिलीं। साथ ही हम उन्हें शास्त्रीय क्रम से जमाते भी गये और इस प्रकार हमने देखा कि उनमें—१. जीव २. जीवों का आदर्श, ब्रह्म, ३. उन्हें अपने आदर्श से पृथक् रखनेवाली, माया, ४. उन्हें आदर्श से मिला देनेवाली, भक्ति और ५. इस भक्ति के साधनों की अंगप्रत्यंगपूर्ण विस्तृत चर्चा, ये पाँच बातें मिलती हैं। इतना देख और परख लेने पर हमने अपना यह निबन्ध प्रारम्भ किया है।

रामचरितमानस का यह दृष्टिकोण भली-भाँति समझ लेने से कई प्रचलित शंकाओं और अशुद्ध धारणाओं का आप ही आप निराकरण हो जाता है इसलिए इस विषय को पुनः स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। ग्रंथ का वर्ण्यविषय जानने के लिये उसकी षडंग परीक्षा आवश्यक होती है। इस परीक्षा के अनुसार हम देखते हैं कि "राम कवन"[1] ही इस ग्रन्थ का उप-क्रम है। इस प्रश्न के अंतर्गत "चाहहु सुनइ रामगुन गूढ़ा" "कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी" आदि इच्छाएँ सन्निहित हैं। संशय दूर हो जाना तथा श्रोताओं का कृत्यकृत्य हो जाना ही इसका उपसंहार है। शोक, मोह, भ्रम दूर हो जाना, रामचरणों में स्नेह उत्पन्न होना तथा सबका हित होना ही इस

---

१. **राम कवन मैं पूछहुँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥**

२७ पृष्ठ १८ पं०

ग्रन्थ का फल है। गोस्वामी जी के शब्दों के अनुसार "येहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।" (४७०-४) है। यहीं इस ग्रन्थ का अभ्यास है। अब रही अपूर्वता और उपपत्ति। सो भागवत की शैली के अनुसार, सर्वसाधारण की रुचि का विचार रखते हुए, रामकथा की लपेट में युगधर्म के अनुकूल तत्त्वविवेचन की सब बातें कह जाना ही इसकी अपूर्वता है और इसी के लिये भाँति-भाँति की तर्कावली देना ही इसकी उपपत्ति है। गोस्वामी जी कहते हैं कि "सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।। तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाव भाँति बहु भाखा।।" (१०-२०, २१) सो यह ग्रन्थ भजनानन्दियों के लिये लिखा गया है, भक्ति और भगवान का रहस्य समझाने के लिये लिखा गया है, परमशान्ति और सबका हित प्रदान करने के लिये लिखा गया है, कोई इतिहास प्रदर्शित करने के लिये अथवा काव्य-चमत्कार दिखाने के लिये नहीं लिखा गया है।

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर पहिली बात जो हमें विदित होती है वह यह है कि गोस्वामी जी के सब सिद्धान्त-वाक्यों में परस्पर सम्बद्धता है और होनी चाहिए। कारपेण्टर महोदय कहते हैं कि "विश्वरूप रघुवंशमणि" वाला प्रकरण व्यक्तित्व-उपासक गोस्वामी जी के सिद्धान्त के प्रतिकूल है और इसीलिए वह एक अनार्य रमणी मन्दोदरी के मुँह से कहाया गया है।[१] रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति कतिपय सज्जनों का कथन है कि नारीनिन्दापरक वाक्यों का दायित्व उन वाक्यों के कहनेवाले पात्रों पर है न कि गोस्वामी जी पर।[२] अवधवासी सीताराम महोदय का कहना है कि रामायण में शंकर द्वारा शंकराचार्य के सिद्धान्तों का, लक्ष्मण द्वारा रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों का और भरत द्वारा रामानन्द स्वामी के सिद्धान्तों का उद्घाटन किया गया है।[३]

---

१. थियोलोजी आफ तुलसीदास, पृष्ठ ९८-९९।

२. देखिये, भूमिका।

३. सेलेकशन्स फ्राम हिन्दी लिटरेचर—जिल्द ३ तुलसीदास।

गौड़, सावन्त तथा प्रायः अन्य सभी विद्वान् रामायण के चार संवादों को ज्ञान, कर्म, उपासना और दैन्य के संवाद (चार घाट) मानते हैं। परन्तु हमारी समझ में रामचरितमानस न तो कोई ऐसा नाटक है जिसके पात्र अपने-अपने ढंग से परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में व्यस्त दिखायी दे रहे हैं और न वह सर्वदर्शनसंग्रह के समान मतमतान्तरों का कोई कोष-ग्रन्थ ही है। यदि सब सिद्धान्त-वाक्यों में परस्पर सामंजस्य न रहा तो वह संशयोच्छेदक शास्त्र कैसे कहला सकेगा।

दूसरी बात जो हमें विदित होती है वह है कथावस्तु के सम्बन्ध की। रामचरितमानस नरकाव्य नहीं है। वह तो भक्तिशास्त्र का ग्रन्थ है इसलिए स्वभावतः उसमें भगवान् और उनके भक्तों ही की चर्चा होगी। उर्मिला और सुलोचना भले ही किसी प्राकृत काव्य के लिये बहुत उपयुक्त और उच्च पात्रियाँ हों, परन्तु रामचरितमानस में उनके लिये स्थान कैसे दिया जा सकता था। फिर रामकथा में भी फेरफार आवश्यक था। जब भक्तों के आराध्य सीताराम "कहियत भिन्न न भिन्न" हैं तब सीतानिर्वासन के कथानक की आवश्यकता ही क्या? जब गोस्वामी जी के "राजाराम" भक्तों की मनोकामनापूर्ति और संसार के शासन के लिये अपनी "अवध राजधानी" में अब भी विद्यमान हैं तब फिर "प्रजनसहित रघुबंसमनि किमि गवने निज-धाम" का उत्तर देने का प्रयोजन ही क्या रहा? पार्वती जी अपने इस प्रश्न का पूरा उत्तर पाये बिना ही सन्तुष्ट और कृतकृत्य हो गयीं। कथा के स्वारस्य के लिए फुलवारी लीला, परशुराम के संवाद, जयन्त चंचु-प्रहार आदि में कुछ परिवर्तन हो गया तो भक्ति-सिद्धान्तों में तो कोई प्रतिकूलता नहीं आयी। बस यही अभीष्ट था। इतिहास में नवीनता और अपूर्वता भले ही आ जाय, कोई परवाह नहीं। यदि रामजी ने "अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहिं दृढ़ नेम" कह दिया तो उन्होंने भगवद्गीता के श्रीकृष्ण के अनुसार अपने भक्तों के लिये भगवद्-वाक्य ही कहा है। यदि सूर्पणखा रावण की सभा में "हरिहिं समर्पे बिनु सतकर्मा" सरीखे ठेठ वैष्णव नीतिवाक्य कह जाती है तो इससे लक्ष्मण सरीखे भक्ताग्रणी के सम्पर्क की महिमा ही

सूचित होती है, जिसके प्रभाव से उस "दुष्ट हृदय दारुण जिमि अहिनी" की मति में भी इस अंश तक परिवर्तन हो गया है।

हमने ऊपर कहा है कि मानस में भगवान् और भक्तों ही की चर्चा है सो यहाँ मानस के पात्रों की कुछ चर्चा कर देना अनुपयुक्त न होगा। अयोध्यावासियों में दशरथ, वशिष्ठ, कौशल्या, सुमित्रा, पुरनरनारी आदि सब राम के भक्त बताये गये हैं। लक्ष्मण और भरत का तो कहना ही क्या है। शत्रुघ्न का मन्थरा को चोटी पकड़कर घसीटना ही यह बताता है कि राम के लिये उनके हृदय में कितनी भक्ति थी। कैकेयी और मन्थरा के संवाद में "तुम्हहि सोहाइ मोहि सुठि नीका" वाक्य ध्यान देने योग्य है, जो स्पष्ट ही बता रहा है कि उन दोनों के हृदय में भी राम के प्रति भक्ति थी। रामवनगमन के लिये उनको दोष देना व्यर्थ है क्योंकि वे देवताओं की प्रेरणा से विवश थीं। देवता भी इस विषय में दोषी नहीं हैं क्योंकि भगवान् राम को तो वनगमन और राजवैभव एक बराबर था ("विसमय हरस रहित रघु-राऊ")और दशरथादि अन्य जीवों को अपने कर्मानुसार रामविरहजन्य दुःख भोगना ही था ("जीव करमबस दुख सुख भागी)" इसलिए जो होनहार बात है वह होकर ही रही। अवधवासियों के समान मिथिलावासी भी रामभक्त और रामप्रेमी बताये गये हैं। वन के ऋषिमुनि, कोलकिरात, वानर रीछ आदि के प्रेम और भक्ति के तो अनेकानेक आख्यान रामचरित-मानस में भरे पड़े हैं। देवता लोगों की स्तुतियाँ भी स्थल-स्थल पर उनकी भक्ति को दुन्दुभी बजा रही हैं। राक्षसों में मारीच, कालनेमि, कुम्भ-कर्ण, त्रिजटा, मन्दोदरी, प्रहस्त, विभीषण आदि तो स्पष्ट ही भक्त बताये गये हैं। मेघनाद ने भी "मरती बार" सब कपट त्यागकर रामानुज और राम के नामों का स्मरण किया था। खरदूषण आदि राम के सौंदर्य से आकृष्ट ही हो गये थे। सामान्य राक्षसों के लिये कहा गया है कि उनके मन रामा-कार हो गये थे; वे रघुवीर-शरतीर्थ में उतर कर मुक्ति पा जानेवाले थे, इसलिए गोस्वामी जी ने उनकी भी कुछ कथा कही है। अब रहा रावण, सो उसके चरित्र का भी उज्ज्वल पक्ष दर्शनीय ही है। खरदूषण के निधन

का हाल सुनकर उसने बड़ी सुन्दर स्वगत उक्ति कही है। उसने सीताहरण के समय लक्ष्मण की बाँधी हुई मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया।[१] सीता के डाँटने पर "मन महँ चरन बंदि सुख माना"। अशोक वाटिका में सीता जी के पास अकेला न जाकर मन्दोदरी के साथ गया तथा समय-समय पर की हुई मन्दोदरी की फटकारें चुपचाप सुनता गया। जीते जी कभी राम का नाम मुख से बाहर न निकलने दिया केवल मरने के समय ही "कहाँ राम रन हतौं प्रचार" की हाँक लगायी और बीच में अंगादादि के समझाने पर स्वयं यह संकेत कर दिया कि "मेरे भाल में मनुष्य के हाथ मृत्यु लिखी हुई है। इसलिए यदि मेरी मृत्यु अभीष्ट है तो राम को मनुष्य ही रहने दिया जाय उन्हें ईश्वर कह कर न समझाया जाय।" परन्तु चूँकि वह महामोह का रूप था इसलिए अन्त तक निश्चयपूर्वक न तो राम को ब्रह्म ही मान सका, न मनुष्य ही। इसलिए बीच-बीच में राम की महिमा सुनकर सभीत भी हो जाता था और उन्हें जीतने के लिए यज्ञ-यागादि के विधान भी करने लगता था। जब उसका बैरभाव तन्मयता की हद तक पहुँच गया और वह पूरी शक्ति के साथ "कहाँ राम रन हतौं प्रचारी" बोल उठा उसी दिन उसकी मुक्ति हो गयी।

गोस्वामी जी के कथनानुसार रामचरितमानस को श्रुतिसिद्धान्तों का निचोड़ समझना चाहिए।[२] यह मानस सर्वप्रथम भगवान् शंकर के हृदय में उमड़ा। लोमश ऋषि ने उसके सुधाबिन्दु पाये और भुशुंडि जी को परम अधिकारी जानकर उसका स्वाद चखाया। भुशुंडि जी ने उसको ऐसा सरस और मनोरम रूप प्रदान किया कि स्वयं शंकरजी उस कथा का रसास्वादन करने के लिये उनके पास मराल बन कर रहे तथा गरुड़ जी को अपनी शंकानिवृत्ति के लिये वहीं भेजा। फिर शंकर जी ने वही कथा पार्वती जी को सुनायी। तदनन्तर भुशुंडि जी से प्राप्त कर (देखिये मूल गोसाईंचरित)

---

१. रामानुज लघुरेख खँचाई। सो नहिं नाघेहु अति मनुसाई॥६६०७

२. बरनहुँ रघुबर बिसद जस स्त्रुति-सिद्धान्त निचोरि। ५६-१८

योगिवर्य याज्ञवल्क्य ने वही कथा अपने ढङ्ग से ज्ञानी मुनि भरद्वाज को सुनायी। इन स्रोतों से उद्भूत वह हरिकथा गुरुपरम्परा से तुलसीदास जी के हृदय में पहुँची। उन्होंने सुजनों के लिए वही कथा इस ग्रन्थ के रूप में रख दी है। इस तरह इस ग्रन्थरूप में पहुँचते-पहुँचते इस मानसरोवर के चार घाट हो गये हैं। प्रथम घाट शंकर-पार्वती-संवाद का है, दूसरा काकभुशुंडि-गरुड़-संवाद का है, तीसरा याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का है और चौथा तुलसीदास और सुजनों के संवाद का है। इन चार प्रकार के श्रोतओं में पार्वती जी आर्त्त श्रोता का प्रतिरूप हैं। गरुड़ जी जिज्ञासु श्रोता के प्रतिरूप हैं। सुजन लोग अर्थार्थी हैं और भरद्वाज जी ज्ञानी श्रोता हैं।[१] भगवद्गीता के "चतुर्विधाः भजन्ते माम् जनाः सुकृतिनोऽर्जुन आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।' वाले श्लोक से यह प्रकरण मिलाकर देखा जाय तो विदित होगा कि इन चार घाटों के रूप में गोस्वामी जी ने भक्तिशास्त्र की सर्वोपरि महिमा की कैसी सुन्दर रक्षा की है।

---

१. उमा कहती हैं—गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ अति आरति पूछऊँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया। ५६-२०, २१। अन्त में वे कहती हैं "मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद विस्वेस। उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥"—५०६-१,२। इसलिए वे स्पष्ट ही आर्त्तभक्त थीं। गरुड़जी ने अपनी जिज्ञासा से प्रेरित होकर जगह-जगह चक्कर लगाया है, भाँति-भाँति के प्रश्न किये हैं और अन्त में "गयेउ मोर सन्देह" (४७३-११) "तव प्रसाद सब संसय गयेऊ" (४७३-२२) आदि की आवृत्तियाँ की हैं। कलि के सुजन अर्थार्थी हैं ही, जिनके लिए "मन कामना सिद्धिनर पावा। जो यह कथा कपट तजि गावा" (५०८-२३) की बात कही गयी है। भरद्वाज के लिए "परमारथ पथ परम सुजाना" (२६-१८) का विशेषण ही उन्हें स्पष्टतः ज्ञानी भक्त बना रहा है।

इन घाटों के और भी अधिक रहस्योद्घाटन के लिए हाल का लिखा हमारा "मानस में रामकथा" नामक ग्रन्थ देखा जावे।

रामचरित मानस में रामचरित-चर्चा के साथ ही साथ २५ स्तुतियाँ और २२ गीताएँ हैं; जिनमें १३ तो स्वयं भगवान् रामचन्द्र द्वारा कही गयी हैं। देवगणकृत-स्तुतियों में ब्रह्मा ने दो बार, शंकर ने दो बार, इन्द्र ने एक बार, जयन्त ने एक बार, देवताओं ने एक बार तथा वेदों ने एक बार स्तुति की है। मुनिगणकृत-स्तुतियों में परशुराम ने एक बार, अत्रि ने एक बार, सुतीक्ष्ण ने एक बार, सनकादि ने एक बार और नारद ने एक बार स्तुति की है। अन्य जीवकृत स्तुतियों में कौशल्या, अहिल्या, मन्दोदरी, जटायु और भुशुंडि ने एक-एक बार तथा स्वयं गोस्वामी जी ने प्रत्येक काण्ड के आदि में एक-एक बार भगवान् की स्तुति की है। इन स्तुतियों में गोस्वामी जी के तत्त्वसिद्धान्त का बहुत-सी बातें भरी पड़ी हैं। गीताओं में शंकर-गीता तो रामाद्वैत के सम्बन्ध में पार्वती जी से और सत्संगमहिमा के सम्बन्ध में गरुड़ जी से कही गयी है। लक्ष्मण-गीता निषाद के प्रति कही गयी है। वाल्मीकि-गीता स्वयं राम के प्रति कही गयी है जिन्हें उन्होंने भक्त-हृदय रूपी चतुर्दश भुवन दिखाये हैं। अनसूया-गीता "नारीधर्म" के सम्बन्ध में सीता जी से कही गयी है। बृहस्पति-गीता अयोध्याकाण्ड में सुरेन्द्र के प्रति कही गयी है। विभीषण-गीता और मन्दोदरी-गीता रावण के प्रति कही गयी है। भुशुंडि-गीता अनेक स्थलों पर गरुड़ के प्रति कही गयी है, जिसमें स्वानुभव, कलिधर्म, ज्ञानदीप और भक्तिमणि, सप्तप्रश्न आदि के विषय सन्निहित हैं। भगवद्गीताओं में पहिली राजधर्म के सम्बन्ध में भरत के प्रति कही गयी है। दूसरी लक्ष्मण के प्रति कही गयी है जिसमें तत्त्व-रहस्य और भक्ति-योग अच्छी तरह समझाया गया है। तीसरी शबरी के प्रति कही गयी है जिसमें नवधा भक्ति की चर्चा है। चौथी सन्त-रहस्य के सम्बन्ध में नारद के प्रति कही गयी है। पाँचवीं अनन्यता के सम्बन्ध में हनुमान् के प्रति कही गयी है। छठा मित्र-महिमा के सम्बन्ध में सुग्रीव के प्रति कही गयी है। सातवीं प्रवर्षण गिरि में वर्षा और शरद् वर्णन की आड़ से धर्मनीति के सम्बन्ध में लक्ष्मण के प्रति कही गयी है। आठवीं शरण्यता के सम्बन्ध में विभीषण के लिये सुग्रीव से तथा फिर विभीषण के प्रति कही गयी है। नवीं

धर्मरथ के सम्बन्ध में विभीषण के प्रति कही गयी है। दसवीं सत्सङ्ग और सन्त-असन्त के सम्बन्ध में भरत के प्रति कही गयी है। ग्यारहवीं भक्ति-रहस्य के सम्बन्ध में पुरजनों के प्रति कही गयी है। बारहवीं भजन के सम्बन्ध में सुग्रीवादि वानरों के प्रति कही गयी है और तेरहवीं भक्ति-महिमा के संबंध में भुशुंडि के प्रति कही गयी है। इन गीताओं के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रारम्भ के कई पृष्ठों में सत्संग-माहात्म्य, नाम-माहात्म्य, मानसमाहात्म्य आदि विषय भी गीताओं की ही कोटि के लिखे हैं। इनका अध्ययन करके गोस्वामी जी के सिद्धान्तों का भली भाँति परिचय पाया जा सकता है।

इन अनेकानेक स्तुतियों और गीताओं में हमें वह भगवद्गीता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ी है जो तत्त्वज्ञान और भक्तियोग के सम्बन्ध में लक्ष्मण के प्रति कही गयी है। उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक लिख देना अनुचित न होगा। उसका अविकल उद्धरण इस प्रकार है —

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छल हीना ।।
सुर नर मुनि सचराचर साईं । मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं ।।
मोहिं समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करउँ चरनरज सेवा ।।
कहहु ज्ञान विराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ।।

ईश्वर जीव भेद सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरनरति सोक मोह भ्रम जाइ।।

थोरेहि महँ सब कहहुँ बुझाई । सुनहु तात मति मनु चितु लाई ।।
मैं अरु मोर तोर मैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।।
गो गोचर जहँ लगि मनु जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।।
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ।।
एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बलु ताके ।।
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माही ।।
कहइ तात सो परम विरागी । तिनु सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ।।

माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव।
बन्ध मोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव॥

धर्म तें विरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना॥
जातें वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला॥
भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज करम निरत स्रुतिरीती॥
तिहिकर फलु मनु विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
स्रवनादिक नवभगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विस्राम॥

भगति जोग सुनि अति सुखु पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

इसमें प्रथम द्रष्टव्य विषय है गुरु-शिष्य-सम्बन्ध। शिष्य में जिज्ञासा-भाव—छलहीनत्व—अनिवार्य है। फिर वह "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" के नियमानुसार "मैं पूछेइँ निज प्रभु की नाईं" का भाव रखे। गुरु भी ऐसा किया जाय जो "प्रभु" और "सुर नर मुनि सचराचर साईं" की कोटि का हो। ऐसे ही गुरु के लिए "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः" कहा गया है। यदि कोई जीवित गुरु ऐसा न मिले तो किसी अतीत सद्‌गुरु को ओर ही यह तथा ऐसी प्रश्नावली अर्पित हो। गोस्वामी जी ने शंकर जी को "गुरु पितु मातु महेश भवानी" कह दिया है। एकलव्य ने द्रोण की मृण्मयी प्रतिमा ही से अभीष्ट-सिद्धि पा ली थी।

दूसरा द्रष्टव्य विषय है इसकी प्रश्नावली। यद्यपि लक्ष्मण जी ने ज्ञान-वैराग्य, मायाभक्ति, ईश्वरजीव आदि सकल तत्त्वज्ञान की बात पूछी परन्तु उनकी आन्तरिक अभिलाषा "सब तजि करउँ चरनरज सेवा" और "जातें होइ चरनरति सोक मोह भ्रम जाइ" ही की ओर थी। तत्त्वज्ञान से यदि संसार के प्रति वैराग्य (सब तजि) भगवान् के प्रति अनुराग (करउँ चरन रज सेवा, जातें होइ चरनरति) और हृदय से "शोक मोह भ्रम" का उन्मूलन हो कर उनके बदले क्रमशः "सुन्दरं शिवं और सत्यं" की ज्योति न जागी तो वह तत्त्वज्ञान ही किस काम का।

तीसरा द्रष्टव्य विषय है मति, मन और चित्त का अर्पण। इन तीनों के द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन की ओर संकेत किया गया है। भगवान् ने तो थोड़े में सब "बुझा" कर कह दिया। अब यह शिष्य का काम है कि वह उस तत्त्व को ध्यानपूर्वक अपने हृदय में अंकित कर ले। गोस्वामी जी कहते हैं कि "तबहि होहिं सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा॥" केवल एक ही बार उत्तर सुन लेना पर्याप्त नहीं। "बहु काल" सत्संग की आवश्यकता होती है। यदि बहु काल तक गुरु द्वारा उसी विषय का पिष्ट-पेषण न हो सके तो शिष्य ही मन, मति और चित्त के प्रयोग से अंकित किये हुए उस विषय का पिष्टपेषण करता जाय।

चौथा द्रष्टव्य विषय है लक्ष्मण जी के प्रश्नों के अनुसार माया, ज्ञान, वैराग्य, जीव, शिव (ईश्वर) और भक्ति के सम्बन्ध के उत्तर। "मैं मेरा तू तेरा" ही माया है जिसके वश में अखिल जीवनिकाय है। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन की दौड़ है वह सब माया है। उसके दो भेद हैं विद्या और अविद्या। विद्या को हम विवर्त-रचना-सामर्थ्य कह सकते हैं और अविद्या को सत्प्रतीति-स्थापन-सामर्थ्य। प्रभु की प्रेरणा से नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि हो जाती है। यह नामरूपात्मक जगत् यद्यपि त्रिकालाबाधित न होने के कारण मिथ्या कहा जाता है परन्तु फिर भी भगवान् की लीला के लिए यह आवश्यक है, इसलिए विधिप्रपंच अनादि काल से होता आया है। यही माया की विवर्त्त रचना है। विवर्त्त को सत्य समझ लेना

अविद्यामाया का कार्य है। यह सत्प्रतीति-स्थापना ही ऐसी बात है जिसके कारण जीवों को दुःख, पाप और भवबन्धन मिला करता है। इसीलिए अविद्या-माया दुष्ट और अतिशय दुःख रूप है। शरीर-सम्बन्ध से जीव जब अपने को संसारी समझने लगता है तभी वह मोहमुग्ध होता है। यह "मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला" है। ज्ञान वह है जहाँ विद्या अथवा अविद्या कोई भी माया मानी नहीं जाती और सब में ब्रह्म ही ब्रह्म की सत्ता दृष्टिगोचर होती है। वैराग्य वह है जिसमें तीनों गुणों की समूची सिद्धियों का तृण के समान त्याग हो। जीव वह है जो (वास्तव में माया का ईश होते हुए भी) अपने को माया का ईश नहीं समझ रहा है। ईश्वर वह है जो ब्रह्म (इम्प-र्सनल) भी है और शिव (पर्सनल) भी है। ब्रह्म तो वह है जो सर्वव्यापी है और जो ज्ञान से देखा जाता है। उसके आगे माया की कोई सत्ता ही नहीं। वह व्यक्तित्व-विहीन है। और शिव वह है जो व्यक्तित्वयुक्त होकर बन्धमोक्षप्रद सर्वपर और माया-प्रेरक है। यही जीवों का आराध्य हो सकता है। भक्ति वह है जो ईश्वर को शीघ्र द्रवित कर देती है और भक्त को आरम्भ से ही सुख पहुँचाने लगती है। शीघ्रता से भगवान् की प्रीति का सम्पादन और आरम्भ से ही आनन्दोपलब्धि, ये बातें भक्ति के सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

पाँचवाँ द्रष्टव्य विषय है माया, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की उत्पत्ति तथा उनके फलों की अथवा यों कहिए कि उनके कारणों और कार्यों की चर्चा। माया का कारण है प्रभु की प्रेरणा। प्रभु की प्रेरणा होती है उनके मायाप्रेरक और बन्धमोक्षप्रद गुणों के कारण। मायाप्रेरक गुण से विद्या माया का क्रम चलता है। विद्या माया के कारण जीव का शरीरी होना अनिवार्य है। शरीरी होने के बाद जीव जब अपने को परिच्छिन्न समझने लगता है तभी अविद्या माया आगे बढ़ निकलती है। माया का, विशेषकर अविद्या-माया का, कार्य है दुःख, पाप, भवबन्धन। इस माया से बचने के तीन उपाय हैं—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति। धर्म से वैराग्य की उत्पत्ति है, योग से ज्ञान की और सत्संग से भक्ति की। वैराग्य का फल है भगवच्चरणों

में अनुराग। (यह स्वतन्त्र रूप से परमपद नहीं दिला सकता इसीलिए मोक्षप्रद मार्गों में केवल ज्ञान और भक्ति की चर्चा की गई है।) ज्ञान का फल है या तो मुक्ति या फिर भक्ति, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान उस भक्ति के ही अधीन कहे गये हैं। भक्ति का फल है भगवत् प्राप्ति। यह ज्ञान की अपेक्षा अधिक शीघ्र फल देनेवाली है, प्रारम्भ ही से सुखमूल और सुगम है तथा सर्वतंत्र स्वतन्त्र पन्थ है। इसलिए माया का बन्धन तोड़ने के लिए अथवा जीव और ईश्वर का सान्निध्य कराने के लिए श्रेष्ठतम मार्ग है।

छठा द्रष्टव्य विषय है भक्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन। वे साधन हैं —ब्राह्मणसेवा—इस साधन से अपने-अपने धर्मों में प्रवृत्ति होती है जिसके कारण विषयों से वैराग्य होता है और तब भगवन् के चरण-कमलों में अनुराग होता है। (२) श्रवणादिक नवधा-भक्ति—इनके द्वारा भगवान् की लीलाओं में प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। (३) संतसेवा—इसके द्वारा हृदय में सात्विक बल की दृढ़ता आती है और इस तरह दृढ़ नियम के साथ मन-क्रम-वचन से भगवद्भजन बन पड़ता है। (४) वासुदेव : सर्व-मितिभाव—उन्हें ही गुरु, पिता, माता, बन्धु पतिदेव आदि समझने से एक तो जगत् को राममय देखने में देर नहीं लगती, दूसरे भगवान् की ओर प्रेमासक्ति भी दृढ़तर हो जाती है। जिसके कारण भगवत्सेवाभाव परिपक्व हो जाता है। (५) सात्त्विक प्रेमोन्माद—भावप्रवाह इस प्रबलता का हो कि भगवान् का स्मरण करते ही शरीर पुलकित हो जाय वाणी गद्गद् हो जाय, आँखों से आँसू बहने लगें। (६) द्वन्द्वातीत अवस्था—जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दंभ, पाखंड आदि हृदय से निकल बाहर होते हैं तब निश्चय ही वहाँ भगवान् का निरन्तर वास हो जाता है। (७) अनन्यासक्तचित्तता—कर्म, वचन और मन से जो अनन्य शरणागत होकर केवल भक्तिरस के आनन्द के लिए भक्ति करता है और कोई कामना नहीं रखता उसका साथ भगवान् कभी नहीं छोड़ते। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये सातों साधन भक्ति के सात सोपानों अथवा सप्त भूमिकाओं की तरह एक दूसरे से सम्बद्ध जान पड़ेंगे।

सप्तम द्रष्टव्य विषय है इस तत्त्व विवेचन में भक्तियोग की विशेषता, जिसको सुनकर लक्ष्मण ने अत्यन्त सुख पाया। यदि यह समूचा विवेचन ही भक्तियोग के नाम से अभिहित हो तो भी कोई अनौचित्य नहीं।

इस भगवद्गीता को यहाँ कुछ विस्तृत रूप से लिखने में हमारे तीन अभिप्राय थे। पहिली बात तो यह थी कि हम गोस्वामी जी के सिद्धान्त-वाक्यों को कुछ बानगी पाठकों के आगे रख देना चाहते थे। दूसरी बात यह थी कि हम तुलसी-सिद्धान्त की विवेचना के पूर्व उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करा देना उचित समझते थे और इस कार्य में हमें इस गीता का उद्धरण ही उपयुक्त जँचा। तीसरी बात यह थी कि हम गोस्वामी जी की रचना की उस गहनता का भी परिचय करा देना चाहते थे जिसके कारण अनेकानेक टीकाएँ लिखी गयीं और फिर भी लिखी जा रही हैं। "ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं" का अर्थ देखिए। इसे स्वतन्त्र वाक्य मानकर कई लोग कहते हैं कि ज्ञान वह है जिसमें श्रीमद्भगवद्गीतोक्त 'अमानित्वमदंभित्वं' आदि लक्षणों के अनुसार मान आदि एक भी वस्तु नहीं है। इसे अगली पंक्ति से सम्बद्ध मानकर कई लोग कहते हैं ज्ञान का अभिमान न होना (ब्रह्म को सब कहीं देखना और तृण के समान तीन गुणों का त्याग कर देना) यह वैराग्य का लक्षण है। "धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना" वाला विषय देखिए। कई लोग कहते हैं कि उसका अर्थ है "धर्म से विरति होती है, विरति से योग होता है और योग से ज्ञान होता है।" कई लोग कहते हैं "धर्म से विरति योग होता है और विरतियोग से ज्ञान होता है।" कई लोग कहते हैं "धर्म से विरति होती है और विरति तथा योग से ज्ञान होता है।" और प्रमाण में "ज्ञान कि होइ विराग बिनु" को पेश करते हैं। कई लोग "होने" की जगह "श्रेष्ठ है" की बात कहकर अर्थ करते हैं कि "धर्म से वैराग्य श्रेष्ठ है और योग से ज्ञान श्रेष्ठ है।" भक्ति के साधनों के सम्बन्ध में भी कई ने तो शबरी की नवधा भक्ति को इन साधनों के साथ मिलाकर दिखाया है और कई लोगों ने अधिकारी भेद से यहाँ श्रवणादिक नौ शास्त्रोक्त भक्तियों का व्यतिरेक दिखाकर इन साधनों को शबरी के प्रति कहे गये साधनों से भिन्न बताया है।

इसी प्रकार जिसकी बुद्धि जिस ओर चल पड़ी उसने उसी प्रकार के अर्थ किये हैं। किस टीकाकार ने कहाँ क्या कहा और कहाँ किस प्रकार की भूल की है यह सब बतलाकर हम अपने निबन्ध की अनावश्यक कलेवर-वृद्धि नहीं करना चाहते। जो सज्जन चाहें वे टीकाओं से मिलाकर स्वतः देख सकते हैं कि हमारा उपर्युक्त विवेचन कहाँ तक युक्तिसंगत और कहाँ तक नवीन है।

द्वितीय परिच्छेद

भारतीय भक्तिमार्ग

तुलसी सिद्धान्त का पूरा महत्त्व समझने के लिए हमें समूचे भारतीय भक्तिमार्ग पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेने की आवश्यकता है। हमारी दृष्टि न तो ऐसे अन्ध श्रद्धालु की-सी होनी चाहिए जो तर्क का नाम सुनते ही चौंक पड़े और न ऐसे कुतार्किक की-सी हो जो भक्तिमार्ग ही को पोपलीला मानकर हर एक बात का खण्डन करने पर तुला बैठा हो। इस दृष्टि से हम समूचे भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास, उसके सिद्धान्त और उसके गुण-दोषों पर अति संक्षिप्त चर्चा कर देना चाहते हैं।

१. भक्तिमार्ग का इतिहास

मनुष्य जब से अपनी मानवी विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी अलक्षित शक्ति के प्रभाव की कल्पना करने लगा, समझना चाहिए कि तभी से उसमें आस्तिक्यभाव और भक्ति का बीजारोपण हुआ। जिस समय उसने यह समझा कि उनकी परिमित शक्तियों और विश्व की अपरिमित प्राकृतिक शक्तियों का संचालक एक ही सर्वशक्तिमान् है उस समय उसका आस्तिक्यभाव भली-भाँति पल्लवित हो गया ऐसा मानना चाहिए। जिस दिन उसने उस एक सर्वशक्तिमान् से (अथवा यदि उसने अनेक अलक्षित शक्तियाँ ही मानी हों तो अपनी अभीष्ट शक्ति अथवा शक्तियों से) डरने के बदले प्रेम करना प्रारम्भ किया उसी दिन से भक्ति का वास्तविक इतिहास प्रारम्भ होता है। "हे महामारी के अधिदेव! मेरे बच्चे के जीव के बदले इस बकरे का जीव ले लो और मेरा बच्चा आराम

कर दो।" "अरी चुड़ैल! तुझे नरसिंहनाथ की दुहाई है यदि तू ने मेरी स्त्री को न छोड़ा।" "हे मेघों के अधिराज! तुम वज्र गिराकर अथवा अवर्षण से कृति नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना। लो तुम्हारी सन्तुष्टि के लिए हम भाँति-भाँति की सुन्दर वस्तुएँ तुम्हें अर्पण करते हैं।" ये सब वास्तविक भक्ति की बातें नहीं हैं। "हे इन्द्र! हमारी उसी प्रकार रक्षा करो जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है।" "परमात्मा तुम्हीं हमारे माता-पिता हो।" "हे भगवान्! हमें अपना प्रेम दो।" ये अथवा ऐसी ही बातें भक्ति की बातें कही जा सकती हैं। जिस दिन ऐसी भक्ति परमात्मा की ओर अर्पित हुई और लोगों ने समझा कि इस अकेले एक साधन द्वारा भी हमारी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है उसी दिन से समझिए कि भक्ति-मार्ग का सच्चा इतिहास प्रारम्भ होता है। भारतवासियों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं वेद। उन वेदों में भी हम एक देववाद की, और उस एक देव के प्रति प्रेम की, बातें पाते हैं।[1] इसलिए यदि हम कहें कि भारतीय भक्तिमार्ग वेदों के समान प्राचीन है तो आश्चर्य का कोई कारण नहीं।

वैदिक साहित्य का नाम निगम साहित्य भी है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। उसके अनुशीलन से हमें पता लगता है कि भिन्न-भिन्न शक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना करते हुए भी आर्यों ने एकेश्वरवाद पर अपनी पूर्ण आस्था रखी है और इसी आस्था के कारण उन्होंने कभी वरुण को सर्वशक्तिमान कहा, कभी इन्द्र को, कभी रुद्र को और कभी विष्णु को। जिस देवता के नाम में सर्वशक्तिमत्ता का विशेष आरोप होता गया उसकी महिमा निश्चय ही बढ़ती चली गई। नाम भले ही वही रहे परन्तु नामों में

---

१. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। ऋक् १-१६४-४६
कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋक् १०-११४-५
अदितिर्माता स पिता। ऋक् १-८८-१०
द्यौः मे पिता। ऋक् १-१०४-३३
इन्द्र ऋतु न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा—साम १-६-२-२-७

जो यह परिवर्तन और विकास होता गया उसके कारण "इन्द्र" "वरुण" "कुबेर" आदि के महत्त्व में घटबढ़ होती गई। सब प्रकार के प्राकृतिक व्यापारों में सृष्टि स्थिति और लय का ही महत्त्व अधिक था इसलिए उनके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ही सर्वशक्तिमत्ता के भाव से विशेष रूप से परिपूरित समझे जाकर अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनते गये। मानवी स्वभाव के अनुसार भक्ति की पद्धतियों ने भी दो रूप धारण कर लिये। जो अदृश्य नियन्ता की क्रिया से चमत्कृत हुए अथवा यों कहिए कि जो अदृष्ट को प्रधानता देने लगे, वे सर्वभक्षी अग्नि को उसका प्रतिनिधि मानकर (वस्तुओं को जलाकर उनका सार बात की बात में उस अदृष्ट शक्ति तक पहुँचानेवाला समझकर) याज्ञिक बने और जो उस नियन्ता की वस्तुओं से चमत्कृत हुए अथवा यों कहिए कि प्रत्यक्ष को प्रधानता देने लगे वे सूर्य, चन्द्र आदि महिमामय पदार्थों के प्रतीक से उसकी पूजा करने लगे। इन सब पदार्थों में सूर्य ही प्रधान थे। इसलिए सवितापूजा भी वैसी ही जोरदार हुई जैसी यज्ञ में अग्निपूजा। धीरे-धीरे यज्ञ से रुद्र का तादात्म्य हो गया[1] और सूर्य से विष्णु का।[2] इस प्रकार शिवपूजा (रुद्रपूजा) और विष्णुपूजा ने अन्य सब पूजाओं को एक प्रकार से दबा ही दिया। यज्ञ का कृत्य किस प्रकार रुद्राभिषेक में परिणत हो गया और सूर्य के स्थान पर किस प्रकार विष्णु भगवान् आ विराजे अथवा यों कहिए कि "शिव" और "विष्णु" इन दोनों नामों के नामी का विकास किस प्रकार होता गया है यह विषय अत्यन्त रोचक होते हुए भी स्थल-संकोच के कारण यहाँ लिखा नहीं जा सकता। यह बात नहीं है कि रुद्रपूजा ने यज्ञयाग का कृत्य ही मिटा दिया। वह कृत्य भी साथ चलता रहा और वह प्रधानतया ब्रह्मा की संतुष्टि का कृत्य—ब्राह्मण कृत्य—रह गया। इस तरह त्रिदेवों की पूजा तो

---

१. देखिये कल्याण के शिवांक में महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का लेख तथा आचार्य ध्रुव की "हिन्दू धर्म प्रवेशिका"।

२. भण्डारकर, बर्थ इत्यादि की यही राय है।

होती ही रही परन्तु अदृष्ट की प्रधानता के साथ महाकाल की प्रधानता और प्रत्यक्ष की प्रधानता के साथ महास्थिति की प्रधानता सम्बद्ध रहने के कारण विशेष पूजा के पात्र शिव और विष्णु ही माने गये।[1]

वैदिक साहित्य के समान ही प्राचीनता का दावा रखनेवाला आगम अथवा तन्त्र साहित्य है। हिन्दी विश्व-कोषकार का कथन है कि इस शास्त्र के सिद्धान्त बाहर से यहाँ आये।[2] संभव है वे शक देश से आये हों। वे अधिकांश में शक्ति सिद्धान्त हैं और सर्वशक्तिमान् को पिता-रूप में नहीं प्रत्युत माता-रूप में भजने की सलाह देते हैं। उन्होंने कई अनार्य पद्धतियाँ भी प्रचलित की हैं।[3] यह सब होते हुए भी उन्होंने आर्य देवताओं को लेकर और विशेष कर रुद्र-शिव को लेकर सर्वशक्तिमान् की साकार कल्पना और विधि-विधानमयी उपासना पद्धतियों तथा मंत्रों और मंत्रविधानों की अच्छी सृष्टि की है। भक्तिमार्ग में इन ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव पड़ा है[4], देवीसूक्त ने तो वैदिक साहित्य तक में आसन पा लिया है। शैवसम्प्रदाय भी बहुत कुछ इन्हीं ग्रन्थों पर आश्रित है। वैष्णव-सम्प्रदाय के पञ्चरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत कहे जाते हैं।[5] आज जो तंत्रग्रन्थ उपलब्ध हैं वे वैदिक संस्कृत में न लिखे होने के कारण अर्वाचीन ही जान पड़ते हैं परन्तु इससे

---

१. ए० वर्थकृत "दी रिलीजन्स आफ इण्डिया", पेज २५५-१८८२ एडीशन।

२. कुब्जिकामत तंत्र और बसु महोदय का हिन्दी विश्वकोष ६९७ भाग २२वाँ।

३. चिन्मयस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिण:।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना॥—कुलार्णव तंत्र ५ पटल ६ अध्याय।

४. आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
नहि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥ विष्णुयामल

५. नारदपञ्चरात्र का कुछ सम्प्रदायों में स्वतंत्र रूप से बड़ा मान है।

यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के सिद्धान्त वैदिक काल में विद्यमान ही न थे। यजुर्वेद का "सहस्त्रस्राम्बिकया तं जुषस्व" वाला मंत्र बताता है कि उस समय भी अम्बिका का महत्त्व रुद्र की बराबरी तक पहुँच गया था।

भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में तीसरे द्रष्टव्य साहित्य का नाम है पुराण। यह साहित्य भक्तिमार्गियों की विशेष वस्तु है। यद्यपि इसके ग्रन्थ अपेक्षाकृत नूतन हैं तथापि उनका बहुत कुछ कथा-भाग वैदिक साहित्य से ही लिया गया है। पुराण-साहित्य के निर्माता महोदयों ने वैदिक देवताओं का और उनके सम्बन्ध की कथाओं का जैसा संस्कार किया है। वह देखने और मदद करने की वस्तु है। उन्होंने देवताओं के गुणों और उनकी क्रियाओं के अनुसार उनके आकार, आयुध आदि की कल्पना की[1] और इस सम्बन्ध में आगम साहित्य से पर्याप्त सहायता ली। देवताओं की आकृति और प्रकृति के अनुसार ही उनके चरित्रों की चर्चा की और उनके गुण कर्म स्वभाव पर ध्यान रखते हुए उनके "नाम रूप लीला और धाम" की महिमाए बताईं। उन्होंने परमात्मा को पूरी तरह व्यक्तित्व-विशिष्ट बनाकर उसे प्रत्येक भावुक भक्त के लिए सुलभ कर दिया।[2] इतना ही नहीं उन्होंने ईश्वरोपासना का यह साधनमार्ग सर्वसाधारण की हित की दृष्टि से अत्यन्त सरल बनाकर लिखा और सामूहिक दृष्टि से लोक-कल्याण की भावना को सामने रखकर सात्त्विक आस्तिक्य तथा लोकसेवा को प्राधान्य देते हुए वर्तमान वैष्णव धर्म के तत्त्वों को स्पष्ट किया। आधिभौतिक पंचतत्त्वों के अनुसार उन्होंने परमात्मा को पाँच रूपों में व्यक्त किया है।[3] वे रूप हैं—सूर्य, गणेश, देवी, शंकर और विष्णु। कालान्तर में वास्तविक सूर्यपूजा अभारतीय-सी बन गई और गणपति पूजा तथा देवीपूजा तांत्रिक लोगों

---

१. यजुर्वेद ३-५-७

२. इस प्रसंग में श्री हेवेल महोदय आदि के ग्रन्थ दर्शनीय हैं।

३. देखिये स्वामी दयानन्द का धर्मकल्पद्रुम।

से विशेष अपनायी जाने के कारण भारतीय भक्तिमार्ग में गौण सी हो गई। लोगों ने सूर्यपूजा को नवग्रहपूजा के अन्तर्गत करके और गौरी गणेश को प्रथम पूजा के अधिकारी बना कर उनसे छुट्टी पा ली। शैव सम्प्रदाय यद्यपि जोरदार रहा तथापि भावुक भक्तों के लिए वह भी वैष्णव सम्प्रदाय के समान प्रबल आकर्षक न सिद्ध हो पाया। इसलिए कालान्तर में वैष्णव-सम्प्रदाय ही भक्तिमार्ग का सर्वेसर्वा हो गया—यहाँ तक कि भक्त अथवा सन्त और वैष्णव पर्यायवाची शब्द हो गये।[1] भक्तिमार्ग के ज्ञान का अंश—तत्त्व का अंश—विशेषतः निगमसाहित्य से, कर्म का अंश—अनुष्ठान-विधि, साधनक्रिया आदि का अंश—विशेषतः आगम साहित्य से तथा भाव का अंश—नाम, रूप, लीला-धाम, सम्बन्धी अनुराग का अंश—विशेषतः पुराण साहित्य से पुष्ट होता है। और भारतीय साहित्य की यही त्रिवेणी है जिसमें भक्तिरूपी तीर्थराज का जल सन्निहित है। गोस्वामी जी ने इसीलिए अपने तत्त्वसिद्धान्त को "नानापुराण-निगमागमसम्मत" अथवा "आगम निगम पुराण बखाना" कहा है।[2]

रुद्र की महिमा ऋग्वेद के समय ही खूब बढ़ चुकी थी और यजुर्वेद का रुद्रष्टाध्यायी तो आज तक शिवपूजा में व्यवहृत हो रही है। पुरातत्त्व विभाग के अनुसंधानों में भी शिवपूजा के प्राधान्य का पता लगता है। आर्यों की यज्ञपूजा और अनार्यों की लिंगपूजा अथवा समाधिशिलापूजा के सांस्कृतिक समन्वय द्वारा उन दोनों का एक महादेवपूजन भी यह बताता है कि उस समय भारतवर्ष में शिवपूजा ही का प्राधान्य था जिसके प्रेमी आर्य (देवता) और अनार्य (राक्षस) दोनों ही थे। यह शिवपूजा कालान्तर में पाशुपत सम्प्रदाय (नकुलीश सम्प्रदाय), कालामुख सम्प्रदाय (अघोरी),

---

१. द्विविधो भूत सर्गोऽयं दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्ति परो दैवो विपरीतस्तथासुरः॥—विष्णुधर्मोत्तर।

२. गोस्वामी जी ने वेद अथवा श्रुति शब्द के अन्तर्गत इन तीनों प्रकार के साहित्यों को रखा है।

काश्मीरी शैव सम्प्रदाय और वीर शैव सम्प्रदाय (वसव आचार्य का लिंगायत सम्प्रदाय) आदि अनेक सम्प्रदायों का रूप धारण कर चुकी है। परन्तु आज दिन वैष्णवता का जो प्राधान्य भारतवर्ष में देखा जाता है वह शैवता का नहीं। हमारी समझ में इसका कारण यही है कि विष्णुपूजा के प्रवर्त्तन के लिए भाग्यवश कृष्ण के समान सार्वभौम आचार्य मिल गये जिनकी जोड़ का कोई भी आचार्य शिवपूजा के प्रवर्त्तन के लिए न मिल सका।

यह तो निश्चित है कि वेद किसी एक ऋषि के कहे हुए नहीं हैं। इसलिए वैदिकधर्म भी किसी एक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित नहीं हुआ है। वैदिक ऋचाओं के अनुकूल जो क्रियापद्धति बहुमतग्राह्य होती गई वही वैदिक धर्म बन गई। देश, काल, पात्र के परिवर्तनके साथ ही ऐसे धर्म में भी—ऐसी क्रियापद्धतियों में भी—परिवर्तन होने की आवश्यकता रहा करती है। जब ऐसा परिवर्तन किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न से होता है तब वह व्यक्ति सुधारक, दिव्यदूत (पैगम्बर), धर्मसंस्थापक (अवतार), धर्मप्रवर्तक आदि-आदि कहाने लगता है। वैदिकधर्म में इतिहास दृष्टि से सबसे पहले और सब से प्रबल सुधार करनेवाले हैं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जिन्हें वैष्णव धर्म का आदि आचार्य अथवा परमात्मा का परम अवतार कहना किसी प्रकार अनुचित न होगा।

यद्यपि महाभारत में वसुउपरिचर और चित्रशिखंडियों की कथाएँ पढ़कर यह कहा जा सकता है कि मरीचि, अत्रि, अंगिरा, वशिष्ठ प्रभृति भी भक्ति के आचार्य हो गए हैं परन्तु न तो श्रीकृष्ण की गीता के समान उनका निरूपित कोई महत्त्वपूर्ण शास्त्र ही मिलता है और न उनके सिद्धान्तों की आज दिन कोई ऐसी ख्याति ही है। सब से बड़ी बात तो यह है कि उनकी ऐतिहासिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा ही नहीं जा सकता। श्रीकृष्ण जी के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। व्यास जी की कृपा से आज दिन न केवल हमें उनके सिद्धान्तों और चरितों की चर्चा ही देखने को मिलती है वरन् अनुसंधानकारियों के प्रयत्न से उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व और उनकी निश्चित प्राचीनता का भी बहुत कुछ पता चल जाता है। इस

सम्बन्ध में बंकिमचन्द्र चटर्जी महोदय के कृष्णचरित्र नामक ग्रन्थ के तर्क देखने योग्य हैं। ऋग्वेदसंहिता में श्रीकृष्ण का नाम आया है जो कई सूक्तों के रचयिता हैं। यजुर्वेदसंहिता में कृष्णकेशी नामक असुर को मारनेवाले कृष्ण को कथा है। छान्दोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण की चर्चा है जहाँ वे ऋषि 'घोर-आंगिरस्' के शिष्य बताये गये हैं। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि वैयाकरणों के ग्रन्थों में "वासुदेवक" सरीखे शब्द और कंसवध सरीखी लीलाओं का उल्लेख है। साथ ही 'चिरहते कंसे" "जघान कंस किल वासुदेवः" सरीखे वाक्यों में "चिर" और "किल" के प्रयोग बताते हैं कि श्रीकृष्ण का आविर्भावकाल उन वैयाकरणी महोदयों से बहुत पहिले का है।[१] बौद्धों के "ललित विस्तर" में लिखा है कि बुद्ध के समय वासुदवक, पांचरात्र आदि वैष्णव-सम्प्रदायानुयायी वर्तमान थे। निद्देश (बौद्ध ग्रन्थ) और उत्तराध्ययन सूत्र (जैन ग्रन्थ) भी वासुदेव की चर्चा करते हैं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के मेगास्थनीज ने भी मथुरा, कृष्णपुर, यमुना, शौरसेन और हरिकुलईश का उल्लेख किया है। वेस नगर का शिलालेख, जो ईसा से २०० वर्ष पूर्व का माना जाता है स्पष्ट बताता है कि "देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजो अयं कारितो... हेलिऊ डोरेण भागवतेन दिपससुत्रेण-तखशीलकेन"। घासुण्डो का शिलालेख इससे भी कुछ पहिले का है उसमें भी संकर्षण और वासुदेव की पूजा का उल्लेख है।[२] श्रीकृष्ण जी की प्राचीनता और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में यहाँ इतने प्रमाण ही पर्याप्त हैं।

भगवद्गीता के अध्ययन और गोवध नपूजा आदि के चरित्रों का अनु-

---

१. कहना न होगा कि विद्वानों ने पंतजलि को ईसा से २०० साल पहिले का, कात्यायन को ४०० साल पहिले का और पाणिनि को ६०० साल पहिले का माना है। देखिए भण्डारकर का "वैष्णविज्म शैविज्म" इत्यादि।

२. विशेष विवरण के लिए रायचौधरी की "अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव ऐक्ट", भण्डारकर का "वैष्णविज्म शैविज्म" आदि ग्रन्थ देखिए।

शीलन करने से विदित होता है कि इन भगवान् श्रीकृष्ण जी ने अपने समय के प्रचलित ब्राह्मणधर्म (यज्ञप्रधान धर्म) अथवा वैदिक धर्म में अनेक सुधार करके एक नया धर्म (सम्प्रदाय) चलाया था। इस धर्म में कामना से भरे हुए द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा मानसिक साम्यवाले ज्ञानमय यज्ञ (त्याग) को प्रधानता दी गई। ऐश्वर्य मदमत्त इन्द्रपूजा की अपेक्षा लोकसंग्रह प्रवर्त्तक वैष्णवभाव को अधिक महत्त्व दिया गया। मुक्ति के लिये स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि सभी अधिकारी मान लिये गये और भगवच्छरणागति को पूरा प्राधान्य दिया गया। अनासक्ति सरीखे दिव्य गुणों पर बहुत जोर दिया गया और दैवी सम्पत्तियों की ओर लोगों को प्रवृत्त किया गया। वैष्णवधर्म के ये ही मूल सिद्धान्त हैं। यह बात नहीं है कि वैदिक साहित्य में इन सिद्धान्तों का कोई अस्तित्व ही न था। परन्तु ऐसे उपादेय विषयों का चुनना और उन्हें लोकसंग्रहरूप देकर प्रकट करना श्रीकृष्ण भगवान् का ही काम था। फिर स्वतः वे भी तो वैदिक काल ही में हुए हैं। तब फिर जब इन सिद्धांतों के साथ उनकी अमिट छाप पड़ी हुई है तब उन्हें ही यदि हम वैष्णवधर्म का जन्मदाता कह दें तो कोई अनौचित्य नहीं।

नये धर्म का प्रवर्त्तन करते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राचीनता प्रेमी आर्यसमाज के आगे उनके आराध्यग्रंथ वेदों की निन्दा में एक वाक्य भी नहीं लिखा, उनके मान्य देवताओं के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा—वरन् उन्हीं के देवता विष्णु की महत्त्ववृद्धि में दत्तचित्त रहे। उनकी पूजापद्धितियों के खिलाफ एक उँगली भी नहीं उठाई। और सबसे बढ़कर बात यह थी कि उन्होंने नवधर्मप्रवर्त्तक होने की डींग कभी नहीं हाँकी। परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणधर्म अलक्षित रूप से वैष्णवधर्म में परिणत हो गया।[१] श्रीकृष्ण के समकालीन भीष्म और व्यास के समान अतुल शक्तिशील और अतुल विचार

---

१. बौद्धधर्म और जैन धर्म भी वैष्णवधर्म की भाँति गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा प्रवर्तित हुए थे। परन्तु यद्यपि ये श्रीकृष्ण भगवान के वैष्णवधर्म के पीछे के हैं तथापि उनमें वेदों और वैदिक देवताओं को

शील महापुरुषों ने भी भगवान् श्रीकृष्ण की महत्ता स्वीकार की और उनके अनुयायी हुए। उनका समूचा कुटुम्ब उनके इस नवीन धर्म में दीक्षित होकर वैष्णवों के लिए "सात्वत" और "वार्ष्णेय" सरीखे शब्दों को धरोहर छोड़ गया जो वैदिक साहित्य तक में पाये जाते हैं। उनके शिष्यानुशिष्यों ने अपनी विचारधाराओं से भारतवर्ष को इस प्रकार आप्लावित कर दिया कि भारत ही क्यों देशविदेश तक निष्कामकर्म और अहिंसाधर्म की दुन्दुभी बज उठा।

कला के सहारे निराकार को साकार रूप देकर समझाना भक्तिमार्ग का प्रधान विषय है। अवाङ्मनसगोचर परमात्मा भाव के आश्रय से व्यक्तित्व-विशिष्ट बना दिया जाता है। इस तत्त्व का पूरा अनुभव कदाचित् पहिले पहल नारायण ऋषि ने किया था। इसीलिए परमात्मा को पुरुष संज्ञा देकर उन्होंने पुरुषसूक्त के समान कलापूर्णवस्तु संसार को प्रदान की।[1] बहुत संभव है कि श्रीकृष्ण जी ने नारायण ऋषि की जीवनचर्या (भागवत में लिखा है कि उन्होंने क्रोध पर एकदम विजय प्राप्त कर ली थी) और सूक्तियों से मुग्ध होकर उन्हें अतिमानवी महत्त्व प्रदान किया हो। परमात्मा का नारायण नाम पहिले पहल शतपथ ब्राह्मण में देखा जाता है और तैत्तिरीय आरण्यक में वह विष्णु के साथ सम्बद्ध मिलता है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक की रचनाओं में विशेष अन्तर नहीं। इसलिए बहुत संभव है कि श्रीकृष्णचन्द्र ने ही नारा-

---

अछूता छोड़ देने की वह बात न आ पाई। इसीलिए ये धर्म अवैदिक कहे जाकर ब्राह्मणों द्वारा निन्दनीय ठहरा दिये गये।

१. इस सूक्त में जहाँ एक ओर हजार हाथ पाँव वाले पुरुष का वर्णन है वहाँ दूसरी ओर उसके एक मुख, दो हाथ और पाँव भी बताये गये हैं। इसके पहले छंद से 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' वाला छन्द मिलाकर देखिए।

२. देखिए रायचौधरीकृत "अरली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट"—१९१० संस्करण-पृष्ठ ९।

यणीय धर्म की बात कहकर अपने अनुयायियों को यह अवसर दिया होगा कि वे विष्णु, नारायण और कृष्ण में एक ही विभूति का चमत्कार देखने लगे।[१] कृष्णभक्तों की इस भावना के कारण वैष्णव धर्म में अवतारवाद आप ही आप प्रविष्ट हो गया और फिर तो श्रीकृष्ण के पूर्ववर्ती सभी महा-मान्य व्यक्ति विष्णु के अवतार कहे जाने लगे।[२] जिसने जगद्रक्षा के लिए असाधारण कार्य कर दिखाया वही अवतार हो गया। यदि एक ओर सनकादि ऋषि, ऋषभदेव, कपिल, राम, परशुराम, व्यास आदि अवतार माने गये तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध तक उसी सूची में सम्मिलित कर दिए गए। इतना ही नहीं विश्वविकास के क्रम को देखते हुए मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन आदि भी अवतार की कोटि में रख दिये गये।

इन सब अवतारों में राम का अवतार अपना विशेष महत्त्व रखता है। पुराणोक्त सोमसूर्यवंशविस्तार एकदम कपोल-कल्पना नहीं है यह बात आजकल अनेकानेक विद्वान् मानने लगे हैं।[३] उन वंशावलियों में इतिहास का बहुत कुछ मसाला भरा पड़ा है और उसी मसाले में भगवान् रामचन्द्र जी की भी ऐतिहासिकता निहित है। वंशावलियाँ ही बताती

---

१. भण्डारकर महोदय नारायण को काल्पनिक (दार्शनिक) देवता मानते हैं। वे गोपाल कृष्ण को भी वासुदेव कृष्ण से भिन्न मानते हैं। हम कृष्णस्वामी ऐयंगर महोदय से सहमत होते हुए (देखिए "अरली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म इन साउथ इण्डिया") गोपालकृष्ण और वासुदेव कृष्ण को एक ही मानते हैं। नारायण को भी हम एकदम काल्पनिक (दार्शनिक) मानने का विशेष कारण नहीं पाते।

२. कई लोग कहते हैं कि विष्णु अभारतीय थे—श्वेतद्वीपपति थे—इसलिए उनके अवतारों की आवश्यकता हुई। (देखिए "तुलसी के चार दल") परन्तु यह सिद्धान्त भ्रामक है। क्योंकि श्वेतद्वीप को पार्थिव अथ च अभारतीय मानना ही भूल है।

३. देखे जायँ पार्जीटर साहब आदि के ग्रंथ।

हैं कि ये श्रीकृष्ण जी से पहिले हुए हैं। परन्तु इतिहास की उपलब्ध सामग्रियों के अन्वेषण से पता चलता है कि इनकी महिमा श्रीकृष्ण जी के बहुत पीछे उदित हुई है। सर भण्डारकर महोदय के मत से और "वैष्णविज्म शैविज्म" नामक ग्रन्थ में उनके दिये हुए तर्कों से यह जान पड़ता है कि यद्यपि ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल से ही लोग राम को ईश्वरावतार मानने लगे थे परन्तु उनकी विशेष रूप से प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग से ही प्रारंभ हुई है। वाल्मीकीय रामायण के वे अंश प्रक्षिप्त समझे जाते हैं जिनमें राम के ईश्वरत्व पर जोर दिया गया है। वैदिक साहित्य में राम की चर्चा प्रायः नहीं के समान है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों अथवा शिलालेखों आदि में भी इस सम्बन्ध का बहुत ही कम मसाला मिलता है। यद्यपि आज दिन अध्यात्मरामायणादि अनेकानेक रामायणें और रामरहस्य, रामपूर्वतापिनी, रामउत्तरतापिनी, तारसार आदि उपनिषदें रामभक्ति के सम्बन्ध की मिलती हैं परन्तु आधुनिक विद्वान् उनकी प्राचीनता पर सन्देह ही करते हैं।[1] यद्यपि बृहत्तर भारत के कई प्रदेशों में प्रस्तर खण्डों पर अंकित रामायण की घटनाएँ देखते हुए यह मानना पड़ता है कि राम की महिमा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के पहिले ही द्वीपद्वीपान्तर तक फैल गई थी तथापि इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि वे घटनाएँ ईसा की पाँचवीं सदी

---

१. कई महानुभावों ने रामायण की सूची में न जाने कितने नाम गिना दिये हैं। (देखिए त्रिपाठी जी की भूमिका) परन्तु हमें तो इम्पीरियल लाइब्रेरी सरीखे बड़े पुस्तकालय टटोलने पर भी दो ही चार रामायणें (संस्कृत में लिखी हुई) मिलीं। गंगाधर प्रेस रायबरेली से श्री जंगबहादुर सिंह जी की जो टीका छपी है उसमें अनेकानेक रामायणों का उल्लेख है और कुछ श्लोकों के प्रमाण भी दिये हुए हैं। परन्तु इन "प्रमाणों" की पोल सावन्त जी ने अच्छी तरह खोल दी है। (देखिए लंकाकाण्ड की भूमिका)। हम समझते हैं कि रामायणों की लंबी सूची गिनानेवाले लोग केवल ठाकुर जंगबहादुर सिंह जी की नकल कर रहे हैं।

के पहिले की खोदी हुई हैं। इतना सब होते हुए भी राम के अद्वितीय मर्यादा पुरुषोत्तमत्व में और अपूर्व लोकरञ्जन-चरित में कुछ ऐसी शक्ति थी कि भारतीय जनता आप ही आप उनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होती गई और परिणाम यह हुआ कि आज दिन वे श्रीकृष्ण के समान ही पूर्णावतार माने जाते हैं।

वैदिक साहित्य में वैष्णवधर्म "एकान्तिक" धर्म ही था। जब गीता बनी—अनुमान है कि यह श्रीकृष्णचन्द्र जी के बाद तथा महाभारत ग्रन्थ से पहिले लिखी गई है—उस समय तक अवतारवाद स्थिर हो चुका था। जब महाभारत का नारायणीय धर्म लिखा गया (कहा जाता है कि यह गीता के बाद का है) तब "चतुर्व्यूह" की चर्चा भी चल पड़ी थी। जब पुराण लिखे गए उस समय तो वैष्णवधर्म की शाखाप्रशाखाओं की भी पूरी पुष्टि हो चली थी। पद्मपुराण में वैष्णवधर्म के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे ही चारों सम्प्रदाय क्रमशः रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित हुए, यह भी पद्मपुराण में जोड़ दिया गया है।[1] इसलिए आजकल इन्हीं चारों आचार्यों के सिद्धान्त वैष्णवधर्म में बहुत मान्य समझे जाते हैं। जो धर्म कृष्ण के द्वारा चलाया जाकर मथुरा के आसपास रहा और बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण उत्तरीय भारत में संकुचित सा हो गया वह दक्षिणीय आलवारों की कृपा से दक्षिण की ओर प्रचारित होकर ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्फुटित हो उठा और इस प्रकार फिर उसने आर्यावर्त्त में अपना आधिपत्य जमा लिया। कई लोगों की राय है कि रामानुजाचार्य ने ईसाइयों से भी भक्ति का बहुत कुछ तत्त्व लिया है। डाक्टर ताराचन्द महोदय का कथन है (देखिये "इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर") कि मुस्लिम सन्तों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों

---

१. "रामानुजं श्रीस्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः। श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥" पद्मपुराण वसु के "हिन्दी विश्वकोष" में।

को एकदम भारतीय रूपदेकर ही और श्रुतिसम्मत बनाकर ही लिखा है। निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने बहुत थोड़े फेरफार के साथ रामानुज के सिद्धान्तों को ही प्राधान्य दिया है। इन चारों आचार्यों के पूर्ववर्त्ती जगद्गुरु शंकराचार्य को और परवर्त्ती (वल्लभाचार्य के समकालीन) चैतन्य महाप्रभु को भी भक्तिमार्ग के प्रधान आचार्य मानना चाहिए। 'चैतन्य महाप्रभु की आचार्यता पर तो किसी को शंका हो ही नहीं सकती। शंकर के संबंध में अवश्य कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं; क्योंकि उन्होंने अपने भाष्य में पाञ्चरात्रों को अवैदिक ठहराया है और केवल—अद्वैत मत का स्थापन कर अनुरागात्मिका भक्ति को अन्तिम ध्येय नहीं माना है। परन्तु उनके नाम से प्रख्यात जो छोटे-छोटे ग्रन्थ और भक्ति के स्तोत्र हैं उनमें भक्ति का बड़ा सुन्दर रूप प्रकट हुआ है। "त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः" "विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां" 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं" "किं स्मर्तव्यं पुरुषैः ? हरिनाम सदा" 'शिवप्रसादेन बिना न मुक्तिः" आदि उनके वाक्य देखने ही योग्य हैं। वे भावाद्वैतता चाहते हैं क्रियाद्वैतता नहीं। वे मनुष्य को आजीवन गुरुभक्त और ईश्वरभक्त बना रहने की सलाह देते हैं।[1] वे स्वरूपानुसंधान और भगवद्भक्ति में कोई अन्तर नहीं मानते[2] तथा चित्तशुद्धि के लिए भक्ति को नितान्त आवश्यक कहते हैं।[3] उनका "प्रबोध सुधाकर" ग्रन्थ तो कृष्णभक्ति के विषय में बेजोड़ वस्तु है। संभव है, इनमें से कुछ पुस्तकें उनकी शिष्यपरम्परा

---

१. यावदायुस्त्वया वंद्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः। मनसा कर्मणा वाचा श्रुतिरेवैष निश्चयः॥ भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह—तत्त्वोपदेश ८६-८७ श्लोक।

२. स्वात्मैकचिन्तनं यत्तदीश्वरध्यानमीरितं—सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १२२वाँ श्लोक।

३. शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदांभोजभक्तिमृते—प्रबोधसुधाकर १६७वाँ श्लोक।

वाले किन्हीं अन्य शंकराचार्यों की लिखी हुई हों परन्तु जब कि उन पुस्तकों के सिद्धान्त शांकरसम्प्रदाय वालों को सम्मान्य हैं तब उन सिद्धान्तों की आचार्यता का श्रेय आदि गुरु शंकराचार्य को क्यों न दिया जाय। "शंकराचार्य तो तर्कियों के राजा थे। संसार के साहित्य में शायद ही ऐसी कोई वस्तु हो जो शंकर के तर्कवाद से आगे बढ़ सके। किन्तु उन्होंने पहला स्थान ज्ञान और भक्ति को ही दिया था।" (महात्मा गांधी का धर्मपथ पृष्ठ २७)।

शंकराचार्य ने विष्णु और शंकर दोनों को समान प्राधान्य दिया है। रामानुज ने कट्टर वैष्णव की भाँति लक्ष्मीनारायण की पूजा पर ही जोर दिया है। निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य ने कृष्णपूजा पर ही विशेष आस्था प्रकट की है। मध्व ने राम की ओर रुचि दिखाई अवश्य परन्तु इस पूजा के पूरे प्रचार का श्रेय महात्मा रामानन्द जी को है जो रामानुज की शिष्य-परम्परा में १४वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इन्होंने वैष्णवधर्म में तीन बड़े सुधार किये। एक तो उन्होंने भक्तिमार्ग में जातिभेद की संकीर्णता मिटाई दूसरे संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में उपदेश देना प्रारम्भ किया और तीसरे लोकमर्यादानुकूल सदाचारमूलक रामभक्ति पर पूरा जोर दिया। भक्त कोई ऐतिहासिक नहीं जो वह यह देखने की चेष्टा करे कि कृष्ण की प्राचीनता अधिक है अथवा राम की। वह तो हृद्गत भावों के अनुकूल अपने आराध्य परमात्मा का एक सच्चिदानन्दमय रूप चाहता है। उस रूप को जिसकी इच्छा हो कृष्ण कह ले और जिसकी इच्छा हो राम कह ले। कृष्ण-चरित में अलौकिकता थी, अतिमानवी विषयों की भरमार थी। वह चरित गतानुगतिक लोक के लिये दुरूह था। रामचरित में मर्यादापुरुषों-त्तमता थी। लोग अपने सामने उसे आदर्श रूप रखकर उसका अनुकरण कर सकते थे। इसीलिये भावुक भक्तों ने संस्कृत रामायणों और राम पूजा परक उपनिषदों के विषय में विशेष छानबीन न करके रामभक्ति को श्रद्धापूर्वक अपना लिया।

रामोपासना आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गई। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तमत के महात्माओं ने निर्गुण ब्रह्म को राम मानकर

भजन किया। रामानंदी वैष्णव वैरागियों ने प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते हुए सगुण साकार राम का भरपूर समर्थन किया। कृष्णोपासना अपनी उसी धारा से प्रवाहित होती हुई महात्मा सूरदास सरीखे भावुक भक्तों द्वारा हिन्दीभाषियों का कल्याणसाधन करती रही। उसमें निर्गुणता नहीं घुस पाई। रामोपासना को निर्गुणता की, निराकारोपासना की, धारा में बहा ले जाने में योगिसम्प्रदाय (नाथ गोरखसम्प्रदाय) और सूफीसम्प्रदाय भी कारणीभूत हुए थे। ये दोनों ही ज्ञानाश्रयी सम्प्रदाय हैं और दोनों ने ध्यान की एकाग्रता पर जोर दिया है। परन्तु पहिले सम्प्रदायवाले तो सच्ची भक्ति के अभाव में सिद्धियों के चक्कर से न उबरे और दूसरे सम्प्रदायवाले अभारतीय विचारस्रोत के कारण यहाँ विशेष न पनप पाये। पीछे जब "राम" नाम के साथ साकारमूर्ति का तादात्म्य घनिष्ठ होने लगा तब कुछ निराकारोपासकों ने वह नाम भी हटाकर ब्रह्मोपासना को प्राधान्य दिया। इनमें ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय और स्वामी दयानन्द सरस्वती मुख्य हैं। कुछ उदार विचारशील सज्जनों ने साकारता का तिरस्कार उचित न समझकर समन्वय मार्ग से निराकार और साकार सभी को समेट कर चलना उचित समझा। इनमें सौ वर्ष के पुराने रामकृष्ण परमहंस और आजकल के जीते-जागते महात्मा गांधी प्रमुख हैं। भारतीय भक्तिमार्ग के इतिहास में इन सबों का नाम उल्लेखनीय है।

धर्म में यदि संगठन न हो तो वह एक दर्शनमात्र रह जाता है।[1] और यह संगठन सांस्कृतिक एकता के द्वारा ही लाया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जो भारतीय जनता के सामने धर्मतत्त्व रखना चाहते थे। इसलिये उन्होंने सांस्कृतिक एकता का विचार करते हुए भारतवासियों की पूज्य श्रुतियों का आधार लेना आवश्यक समझा। इसीलिये उन्होंने अपने धर्म-

---

१. न हो मजहब में जब जोरे हुकूमत।
तो वह क्या है फकत एक फिलसफा है॥—अकबर

तत्त्व को श्रुतिसम्मत बताते हुए 'आगम निगम पुराण' का सहारा लिया है। उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् के लिये भी बड़ी श्रद्धा दिखाई है। यद्यपि रामायण में "जीह जसोमति हरि हलधर से" और "जब जदुबंस कृष्न अवतारा" के प्रसंगों पर श्रीकृष्णावतार का केवल उल्लेख मात्र है तथापि विनयपत्रिका में उन्होंने कृष्ण को राम से अभिन्न बताया है और कृष्णगीतावली में तो कृष्ण ही की महिमा गाई है। उन्होंने शंकरभगवान् को भी बड़ा ऊंचा स्थान दिया है और रामभक्ति के लिये शंकरभक्ति को आवश्यक बताया है। उन्होंने यदि बुरा कहा है तो शाक्तमत के उस अंश को जो आर्यभावनाओं के विरुद्ध है और सन्तमत के उस अंश को जिसमें सगुणवाद अथवा साकार-वाद तथा श्रुतियों के प्रामाण्य का खण्डन किया गया है। कौलों को वे जीवित शव कहते हैं[1] और वाममार्गियों को निन्दनीय ठहराते हैं[2] परन्तु शाक्तों की आराध्या देवी पार्वती के लिये उनके हृदय में न केवल ऊँचा स्थान ही है वरन् उन्हें वे अपनी आराध्या श्री सीता जी के मुख से "भवभय विभव परा-भव कारिणि। विस्वविमोहिनि स्वबस बिहारिणि" आदि उच्च संबोधनों से सम्बोधित कराते हैं। सूफी कवियों की शैली को तो उन्होंने प्रत्यक्ष अप-नाया ही है। योगिसम्प्रदाय वालों की तरह वे भी योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष होना मानते हैं। परन्तु उस सम्प्रदाय वालों का भक्तिहीन शुष्क ज्ञान उन्हें पसन्द नहीं है। रामानन्द जी की रामभक्ति गोस्वामी जी को इतनी पसन्द आई की उन्होंने भारतवर्ष में इसका पीयूषसागर ही बहा दिया। इस भक्ति की आड़ में उन्होंने ऐसे तत्त्व कहे हैं जो उनके परवर्त्ती धर्मप्रवर्त्तकों के सिद्धान्तों को भी अपने में समेटे हुए आज दिन भी जाज्वल्यमान बने बैठे हैं।

---

१. कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा...जीवत सबसम चौदह प्रानी
(३८७८ से १०)

२. तजि स्रुति पंथु वाम पथु चलहीं...
तिन्ह कहु गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं एहु जानऊँ भेऊ॥
(२३५-१२-१५)

वैधी भक्ति के पूरे प्रसंग को हम पाँच अंगों में विभक्त करते हैं। इस वैधी भक्ति को—विधिविधानमयी शास्त्र मर्यादापूर्ण भक्तिपद्धति को भली भाँति समझकर रागात्मिका भक्ति—भावप्रवाहपूर्ण सच्ची भक्ति-का रहस्य समझने की चेष्टा की जावे तभी भक्तिशास्त्र के रहस्य का पूरा आनन्द मिल सकता है। भक्तिशास्त्र के इन दोनों पहलुओं पर दृष्टि डाले बिना हमारा विषय-प्रवेश सचमुच अधूरा ही रह जावेगा।

वैधी भक्ति का पहिला अंग है उपासक। शास्त्रकार कहते हैं कि "देवो भूत्वा देवं यजेत्"। यह आवश्यक है कि उपासक अपनी शरीर शुद्धि और हृदयशुद्धि करके स्वयं देवतुल्य बनकर—तब देवता की उपासना करे। शरीर-शुद्धि के अन्तर्गत स्नान[१] तिलक[२] माला[३] आसन[४] पादुका आदि वस्तुओं का उपयोग आ जाता है। हृदयशुद्धि के अन्तर्गत प्राणायाम, गायत्रीजप और संध्योपासना की बातें आ जाती हैं। इन प्रयोगों से इच्छा शक्ति की वृद्धि होती है, चित्त स्थिर और निर्मल होता है तथा स्वाभाविक

---

१. जल जितना पवित्र होगा स्नान उतना ही लाभकारी होगा। इस विषय में नदियों और तीर्थों की महिमा का वैज्ञानिक अन्वेषण बड़ा मनोरंजक है।

२. भिन्न-भिन्न तिलक भिन्न-भिन्न वैष्णव साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के सूचक चिह्न हैं।

३. अपना शरीर ९६ अंगुल माना जाता है। श्वासप्रश्वास क्रिया से शरीर की प्राणवायु अधिक से अधिक १२ अंगुल तक और विस्तृत हो जाती है। इस प्रकार १०८ अंगुल विस्तृत प्राणवायु संशोधन के लिए १०८ मनकाओं की माला प्रशस्त कही गई है।

४. पादुका लकड़ी की और आसन रेशम, कम्बल या चमड़े के अच्छे कहे गये हैं। ये सब विद्युत् संरोधक पदार्थ हैं। उपासना के समय हमारे हृदय में इच्छाशक्ति की प्रेरणा से जिस विद्युत् प्रवाह की वृद्धि होती है वह नष्ट न होने पावे इसीलिए ये विद्युत् संरोधक पदार्थ रखे गये हैं।

रूप से हमारी प्रवृत्तियाँ ईश्वराभिमुख होती हैं। आचमन से शरीर और हृदय दोनों की शुद्धि होती है। यह जलचिकित्साप्रेमी अनेक विद्वान वैज्ञानिकों का भी मत है। वैधी उपासना के समय प्राणायाम, गायत्री और संध्योपासना द्वारा प्रबुद्ध हुई विद्युत्शक्ति का सङ्गोपन संभवतः शिखा द्वारा किया जाता है। प्रत्यक हिन्दू को चोटी रखना आवश्यक सा हो गया है[1]।

दूसरा अंग है उपास्य। वह वास्तव में तो निर्गुण और निराकार ही है परन्तु जिन लोगों के लिए आचार्यों ने वैधी भक्ति की परिपाटी का सृजन किया है उनके लिये सगुणसाकार परमात्मा ही विशष वांछनीय है, इसलिये निर्गुण निराकार होते हुए भी वह सगुण साकार कहा जाता है। आकृतिप्रकृतिहीन उपास्य की ओर आकर्षण होना ही कठिन है और यदि आकर्षण हुआ भी तो उसका स्थिर रहना महाकठिन है। इसलिए आचार्यों ने हृदय की आकांक्षाओं के अनुसार उपास्य के गुण कर्म स्वभाव निर्धारित किये। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार आकृतियों और नामों की कल्पना की[2]।

---

१. हिन्दू धर्म में शिखा के समान सूत्र (यज्ञोपवीत) का भी महत्त्व है। यह सांसारिक कर्तव्यों के ऋण का स्मरण दिलाने के लिए है जिसकी पूर्ति के लिए विद्युत् शक्ति की वृद्धि की जाती है। जहाँ वे कर्त्तव्य पूरे हुए—वे तीनों ऋण आदि दूर हुए—कि बस संन्यास में ये दोनों निरर्थक जान अलग कर दिये जाते हैं।

२. उदाहरण के लिए विष्णु के नामरूप की चर्चा ही देखिए। इनके रूप में कमल सृष्टि का द्योतक है क्योंकि स्थल के पहले जल और फल से पहिले फूल होने से प्रथम-जन्म जल का फूल कमल ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का उद्भवस्थान माना गया है। गदा संहार अथवा प्रलय का चिह्न है। चक्र कालचक्र (समय—time) का सूचक है और शंख 'शब्दगुणमाकाशं' की रीति के अनुसार देश (pace) का सूचक है। स्थिति की क्रिया के लिये देश और काल (space और time) का आधार अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह चतुर्भुजी रूप में शंखचक्र को ऊपर उठा कर भक्तों ने यह

आकृतियों और नामों अथवा नाम और रूप के अनुसार लीला और धाम की चर्चा की। उपासक किसी भी "नाम" और किसी भी "रूप" से परमात्मा का भजन कर सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि उसी नाम या रूप को परब्रह्म परमात्मा का—पूर्ण ब्रह्म का—नाम रूप समझे। अन्यथा या तो वह अपूर्णता की ओर परानुरक्ति रखने लग जायगा या अनन्यता के अभाव में अटल श्रद्धावान् न बन सकेगा। ये दोनों स्थितियाँ भक्ति के लिये घातक हैं।

भारतीय भक्तिमार्ग में पूर्ण ब्रह्म, जैसा कि पहिले कहा गया है, अकसर तीन तरह के नाम रूप से व्यक्त किया जाता है। पहिला नामरूप है "देवी" दूसरा "शिव" और तीसरा "विष्णु"। ये नामरूप किसी समय भले ही कल्पित रहे हों। परन्तु आज दिन तो ये एकदम सत्य, निश्चित और प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जो इच्छाशक्ति (will power) के रहस्य को भलीभाँति जानते हैं वे यह भी भलीभाँति समझ सकते हैं कि उपास्य के विषय में कल्पना ही सत्ता का रूप धारण कर लेती है[1]। उपासना के लिये उपास्य के विशिष्ट व्यक्तित्व की आवश्यकता हो ही जाती और इसी आवश्यकता की पूर्ति में इष्टदेवों का आविर्भाव भी हो ही जाता है। इस तरह भक्तों की इच्छाशक्ति के सहारे वह निर्गुण निराकार परमात्मा देवी बनकर, शंकर बनकर, विष्णु—राम अथवा कृष्ण—बनकर दर्शन देता और उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण किया करता है[2]।

बता दिया है कि यद्यपि परमात्मा सृष्टिस्थिति प्रलयकारी है तथापि प्रधानता उसमें जगद्रक्षा (स्थिति) के भाव की ही है। इसी प्रकार उनके वस्त्र, वर्ण आदि का हाल है। यह तो हुई रूप की बात। अब रही नामों की बात सो "विष्णुसहस्रनाम" की शंकराचार्य वाली टीका देखी जावे कि किस प्रकार गुणों के अनुसार नामों की रचना की गई है।

१. विशेष विवरण के लिये लेखक का जीवविज्ञान नामक ग्रन्थ देखा जावे।

२. वैदिक काल में वह परमात्मा इन्द्र वरुण इत्यादि के नामरूपों से

उपास्य को—भगवान् को—साकार मान लेने पर भी उनके प्रत्यक्ष दर्शन तो अक्सर हुआ नहीं करते। इसीलिये सामान्य भक्तों को स्थूल आलम्बन की— प्रतिमा की—आवश्यकता रहा करती है[1]। भागवत में आठ प्रकार की प्रतिमाओं का उल्लेख है।[2] उन सब में शैली प्रतिमा—पत्थर की बनी हुई प्रतिमा—ही सर्वसाधारण के लिये पूजार्थ अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। विष्णु की शैली प्रतिमा है शालग्राम और शिव की नर्मदेश्वर। शंकर की पार्थिव प्रतिमा भी अपना विशेष महत्त्व रखती है।[3] प्रतिमा-पूजन में पार्थिव शिवपूजा का विशेष स्थान है।

प्रतिमा के अनुकूल मन्दिररचना का विधान है। उसकी बनावट तथा सफाई आदि ऐसी रखी जाती है जिसे सात्त्विक भावों का आप ही आप उद्रेक हो। वह समाधियों का विकसितरूप है अथवा कन्दराओं या

भी व्यक्त होता था। भक्तों की इच्छाशक्ति के कारण इन देवताओं की विशिष्ट सत्ता बन चुकी थी। परन्तु यज्ञों का महत्त्व जब से कम हुआ तब से इन देवताओं की भी महिमा घट गई। ब्रह्मा (प्रजापति) का महत्त्व बहुत दिनों तक रहा परन्तु आखिर संसार को दुःखायतन माननेवाले तथा विधिविधान की सुदृढ़ श्रृंखलाओं को तोड़ने की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षु लोग इस संसार के और इस विधिविधान के रचयिता को कहाँ तक प्राधान्य दे सकते थे? इसलिए ब्रह्मा की उपासना के बहिष्कार में अनेक पौराणिक कहानियाँ रच दी गईं।

१. अग्नौ क्रियावतामस्मि हृदि चाहं मनीषिणाम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां......—अग्निपुराण

२. शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥—भागवत ११।२७।१२

३. सुरार्चनचन्द्रिका आदि आधुनिक ग्रन्थों तथा ब्रह्मा वैवर्त्त आदि पुराण ग्रन्थों में इन प्रतिमाओं के आकार-प्रकार और फलाफल का विस्तृत विवेचन है।

मानवी आश्रय स्थानों का, इस पर प्रकाश डालने का यह अवसर नहीं है। इस प्रसंग में इतना ही जानना अलम् है कि मन्दिरस्थ प्रतिमापूजन के सम्बन्ध में अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग आवश्यक कर्म बताए गये हैं और ३२ 'मन्त्र'' (मन्दिर की सफाई आदि में असावधानियाँ तथा ऐसी ही बातें) अपराध की कोटि में सम्मिलित हैं। विशेष विवरण के लिये नारदपञ्चरात्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

जो मनुष्य परमात्मा को एक प्रतिमा अथवा एक मूर्ति में बाँध रखेगा वह स्वयं संकीर्ण बनता जायगा। असल में तो मूर्तिपूजा का उद्देश्य यह है कि भगवत्सान्निध्य का भाव दृढ़ करके भक्त लोग उस सर्वान्तिर्यामी की ओर आप ही आप प्रकृष्ट अनुरागपूर्ण हो जायँ। श्रीमद्भागवत में क्या ही अच्छा कहा गया है—

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्।। भागवत ३।२९।२५
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्यात् भस्मन्येव जुहोति सः।। भा० ३।२९।२२

योगवाशिष्ठकार ने भी कहा—

अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः।
शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामयार्चनम्।।

अतएव वैष्णवाचार्यों ने भगवान् के पांच प्रकार के अवतारों की बात कही है। वे अवतार हैं—(१) अर्चा (प्रतिमाएँ—जगन्नाथ रामेश्वर आदि स्थायी विग्रह, शालग्राम नर्मदेश्वर आदि अन्य विग्रह) (२) विभव (मत्स्य, कच्छप, परशुराम आदि अंशावतार) (३) व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अथवा राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न; जो परमात्मा जीव, मन और अहंकार के प्रतिरूप हैं) (४) पर (पूर्णावतार—राम, कृष्ण आदि जो परमात्मा और सर्वान्तिर्यामी होते हुए भी व्यक्तित्वविशिष्ट हैं—Personal God हैं) और (५) अन्तर्यामी

(वे निराकार परमात्मा जो घटघटवासी अविनाशी और परमकल्याण देनेवाले हैं—Impersonal God)। कुछ आचार्यों ने इन अवतारों को प्राधान्य दिया है। कुछ ने इन को गौणता दी है। कुछ ने इनका खण्डन करते हुए कहा है कि परमात्मा का असली स्वरूप तो अवाङ्मनस-गोचर हैं। यह अपनी—अपनी समझ की बात है।

तीसरा अंग है पूजाद्रव्य। इन द्रव्यों में कलश, शंख, घंटी और दीप अपनी महत्ता के कारण स्वयं पूजनीय बन गये हैं। कलश में तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवों का आवाहन[1] हो जाता है। संभव है यह वैदिक वरुणदेव का प्रतीक हो। शंख और घण्टानाद अरिष्टनिवारक, शक्ति-वर्धक और एकाग्रता लानेवाले होते हैं। दीपक घी अथवा कपूर को भस्म कर वायुमण्डल शुद्ध करता है और भवत्प्रतिमा पर कई दृष्टिकोणों से प्रकाश डालकर सौंदर्यवृद्धि करता है। वह यज्ञ का एक छोटा सा भी रूप है क्योंकि जब तक दीपक जलता है तब तक समझना चाहिए कि अग्नि में घी की अथवा कपूर की आहुति भी होती रहती है। इन वस्तुओं के अतिरिक्त षोडशोपचार में काम आनेवाले दूसरे पदार्थ (पञ्चामृत, वस्त्र, यज्ञोपवीत, पुष्प, चन्दन, नवेद्य, ताम्बूल आदि) भी पूजाद्रव्यों में आवश्यक माने गये हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजाओं में भिन्न-भिन्न पूजापात्र भी रहा करते हैं।

चौथा अंग पूजाविधि। मानसिक पूजा के लिये तो ध्यान आदि की विधियाँ हैं परन्तु मूर्तिपूजकों के लिये षोडशोपचार पूजा बहुत उत्तम बताई गई है। सोलह उपचारों के निर्णय में कहीं-कहीं थोड़ा मतभेद मिलता है परन्तु आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन, अक्षतादि, पुष्प, तुलसी आदि, धूप, दीप, नैवेद्य, जल, आचमन, ताम्बूल, फल, नीराजना, परिक्रमा को सभी आचार्यों ने आवश्यक समझा है और घटाबढ़ाकर इन्हीं को सोलह उपचारों में विभक्त कर दिया है।

---

१. कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥ आदि

किसी संभ्रांत अतिथि का जिस प्रकार और जिस क्रम से सत्कार किया जात है ठीक वही क्रम अर्चा के इस षोड़शोपचार में रखा गया है। आवश्यकता नुसार षोड़शोपचार के बदले पंचोपचार पूजा—चन्दन, अक्षत, धूप दी नैवेद्यवाली पूजा—भी प्रशस्त मानी जाती है।

पाँचवाँ अंग है मंत्रजप। मंत्रों की शक्ति बड़ी प्रबल और एकदम प्रत्यक्ष रहती है। सर्पविष सरीखी भयंकर वस्तु मंत्रों की शक्ति से अब भी नष्ट कर दी जा सकती है।[1] परन्तु सब मंत्र सब को सिद्ध नहीं हो सकते। किस मनुष्य के लिये कौन-सा मंत्र उपयुक्त होगा और वह मंत्र उसे किस प्रकार सिद्धिदायक बन सकेगा, आगम शास्त्रों में इस विषय का बड़ा विचार किया गया है। इन बातों को भलीभांति समझने वाला व्यक्ति ही "गुरु" पद का अधिकारी हो सकता है। गुरु न केवल साधक की प्रकृति पहिचान कर उसके उपयुक्त मंत्र ही बता सकता है वरन् वह अपनी मानसिक शक्ति से उस मंत्र को प्रभावित करके साधक का विशेष कल्याण भी कर सकता है। इसलिये गुरु की इतनी महिमा कही गई है और गुरुमुख ही से मंत्र प्राप्त करने का विधान बताया गया है। प्रणवमंत्र (ओँ) ही परमात्मा का प्राचीनतम मंत्र है क्योंकि नाद और बिंदु का मूलरूप होने से वही सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र है। वही विकसित होकर गायत्री मंत्र बन गया। गायत्री अपनी महिमा के कारण वेदमाता कहाई। उस मंत्र के अनुकरण में अन्यान्य गायत्रियाँ बनीं। प्रत्येक देवता के चतुर्थ्यन्तरूप के पहिले ओँ और पीछे नमः लगाकर अनेक मंत्र बना लिये गये। कुछ में देवनाम के प्रथमाक्षर को अनुस्वार लगा कर भी जोड़ दिया गया, यथा ओं रां रामाय नमः। अन्य अनेकानेक देवमंत्रों की इसी प्रकार सृष्टि होती चली गई। कुछ अक्षरों के विशेष संयोग से भी खास-खास मंत्र बन गये हैं। साबरमंत्र तो खास अर्थ न रखते हुए भी बड़े प्रभावशाली रहा करते हैं। जिन मंत्रों के द्वारा सिद्धि

---

१. हम लोगों ने सर्पविष के सम्बन्ध में मन्त्रों के ऐसे अनेक सफल प्रयोग देखे हैं।

सुगम और निश्चित हुई वे विशेष महिमावान् समझे गये। ऐसे ही मंत्रों का जप प्रशस्त समझा जाता है। मंत्र जप में पञ्चतत्व का—गुरुतत्त्व, मंत्रतत्त्व, मनस्तत्व, देवतत्व और ध्यानतत्त्व का बड़ा महत्त्व है।[1] परन्तु इन तत्त्वों पर अब यहाँ अधिक विस्तृत विचार करना आवश्यक है।

मंदश्रद्धावालों के लिए वैधी भक्ति बहुत उपयुक्त है। वे अनेक प्रकार की फलप्राप्ति के लोभ से, अथवा यों भी विश्वास की दृढ़ता के अभिप्राय से भाँति भाँति के बाह्य विधानों में दत्तचित्त होते हैं और इस प्रकार इच्छा शक्ति और आस्तिक्य भाव की वृद्धि करके अवश्य हो लाभ उठाते हैं। आचार्यों ने तो इसी दृष्टि से भावहीन क्रिया तक को मान दिया है। तीर्थ यात्रा, व्रत, उपवास, देवदर्शन और मंत्रजप, वेषभूषा तथा तिलकादि के बाह्य नियम इसीलिए अन्धश्रद्धा की हद तक भी अच्छे ही बताये गये हैं। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि वैधी भक्ति का सच्चा उद्देश्य है रागात्मिक भक्ति का उद्रेक। इसलिए भावहीन क्रिया को अनावश्यक महत्त्व देना उचित नहीं। आचार्यों ने यह बात खूब समझी थी। इसीलिए चमत्कारिक वैधी पूजा की ओर लोगों को आकृष्ट करते हुए भी वे इसे अधिकाधिक जटिल बनाते चले गये हैं। कौन आसन निषिद्ध है, कौन प्रशस्त है, कौन फूल किस देवता के लिये उपादेय अथवा हेय है, किस मुहूर्त्त में कौन सा देवकर्म किस प्रकार करना और किस प्रकार न करना चाहिए आदि आदि बातें इतनी जटिल हैं कि साधक को इन सब बातों का ध्यान रखते हुए निर्दोष वैधी भक्ति पूरी कर ले जाना असम्भव ही सा रहता है।[2] परिणाम यह होता है

---

१. पञ्चतत्त्वविहीनानां कलौसिद्धिर्न जायते। तन्त्रसार।
तत्वज्ञानमिदं प्रोक्तं वैष्णवे शृणु यत्नतः
गुरुतत्वं मंत्रतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि।
देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं पञ्चतत्त्वं वरानने॥
निर्वाणतंत्र (देखिए विश्वकोष खंड १२ पृ० ५४१)

२. अधिक नहीं तो आह्निकसूत्रावली देखकर ही इन निषिद्ध और प्रशस्त कही जाने वाली बहुत सी बातों की जानकारी हो सकती है।

कि या तो वह अपनी वैधी भक्ति की शुद्धता की ओर अधिकाधिक प्रयत्न करता जाता है जिसके कारण उसकी भगवन्निष्ठा और संकल्पशक्ति दिन-दिन प्रबल होती जाती है या फिर वह अपने विधान को अपूर्णता अथवा सदोषता के लिये इष्टदेव से क्षमायाचना में अधिक ध्यान देने लगता है, जिसके कारण रागात्मिका भक्ति उसके अधिकाधिक समीप होती जाती है।

जो तीव्र श्रद्धावाले जीव हैं उनके लिए तो फिर रागात्मिका भक्ति का द्वार खुला ही है। इस रागात्मिका भक्ति वाले लोग बाह्य विधि-विधानों का बहुत कम सहारा लेते हैं। वे तो विधिनिषेध की मर्यादाओं की भी पर-वाह नहीं करते। प्रेमोन्माद में लोकबाह्य हो जाना उनके लिये मामूली बात है।

भगवत्प्रेम ही रागात्मिका भक्ति का सर्वस्व है। परन्तु इस प्रेम का उद्रेक किन अवस्थाओं में किस प्रकार हो जाता है इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। कभी तो दुनिया के झंझट हमें आर्त्त बनाकर भगत्वप्रेम की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। कभी हमारी जिज्ञासावृत्ति हमें उस प्रेम के पथ पर अनायास ले जाती है। कभी अर्थार्थी बनते-बनते हम उसके प्रेम के भिखारी बन जाते हैं। और कभी तत्वज्ञान का पूर्ण अनु-भव होने पर भगवत्प्रेम का उद्रेक आप ही आप होने लगता है।[1] अपनी अपनी रीझ और बूझ के अनुसार कोई उनके रूप पर रीझता है, कोई गुणों पर, कोई महिमा पर। कोई उनका दास बनना चाहता है, कोई मित्र और कोई अर्धाङ्ग। कोई उनके स्मरण में ही प्रेम के उद्रेक का अनुभव करता है, कोई पूजा में और कोई विरहभाव में। जिस भावुक श्रद्धालु के हृदय में

---

१. चतुर्विधा भजन्ते माम् जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ गीता ७।१६

गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधायेकादशधा भक्ति ॥—नारदकृत भक्तिसूत्र ८२।

अपनी प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुसार जिस प्रकार आसक्ति का उदय हो उसी का दृढ़ सहारा लेकर वह भगवत्प्रेममार्ग में अग्रसर हो सकता है। महर्षि नारद के अनुसार ऐसी आसक्तियाँ ग्यारह प्रकार की हैं यथा:—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति (२) रूपासक्ति (३) पूजासक्ति (४) स्मरणासक्ति (५) दास्यासक्ति (६) सख्यासक्ति (७) वात्सल्यासक्ति (८) कान्तासक्ति (९) आत्मनिवेदनासक्ति (१०) तन्मयासक्ति और (११) परमविरहासक्ति। इनमें से किसी एक आसक्ति के सहारे मनुष्य रागात्मिका भक्ति का पूर्ण माधुर्य प्राप्त कर सकता है। यदि ऐसी आसक्तियाँ न हों तो अन्य उपायों से भी अपने हृदय में भगवत्प्रेम का उद्रेक कराया जा सकता है। महत्पुरुषों की सेवा, धर्म में श्रद्धा, हरिगुणकीर्तन आदि साधन ऐसे हैं जो कालान्तर में प्रेमोद्रेक करा ही देते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने रागात्मिका भक्ति की ऐसी ११ भूमिकाएँ बताई हैं जो इस प्रकार हैं:— (१) महत्सेवा (२) तद्दयापात्रता (३) तद्धर्म में श्रद्धा (४) हरिगुणश्रुति (५) रत्यंकरोत्पत्ति (६) स्वरूपाधिगति (७) प्रेमवृद्धि (८) परमानन्दस्फूर्ति (९) स्वतः भगवद्धर्मनिष्ठा (१०) तद्गुणशालिता और (११) प्रेम की पराकाष्ठा।[१] फिर इतना तो निश्चित है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना रागात्मिका भक्ति का उद्रेक कभी होगा ही नहीं। यदि भगवान् की ओर श्रद्धा और उसके अस्तित्व पर हमें पूर्ण विश्वास है तो शृंगार, हास्य, करुणा, अद्भुत आदि रसों के समान कभी न कभी अपनी अनुकूल परिस्थिति में भगवत्प्रेम का रस भी तरंगित हो सकता है। भगवत्प्रेम रस अथवा भक्तिरस के विवेचन में श्री रूपगोस्वामी का हरिभक्ति-रसामृतसिंधु नामक ग्रन्थ देखने ही लायक है। सुनते हैं हरिभक्तिविलास भी इस सम्बन्ध का

---

१. देखिए मधुसूदन सरस्वती यतिवर विरचित "श्रीभगवद् भक्तिरसायनम्।" ये गोस्वामी जी के समकालीन लब्धप्रतिष्ठ वेदान्ती थे। रामचरितमानस पर इन्हीं की सम्मति ली गई थी।

एक उत्तम ग्रन्थ है। और भी अनेकों ग्रन्थ इस दिव्यरस के भाव विभाव संचारी भाव आदि की चर्चा करते हैं। यहाँ भी इस रस सामग्री का संक्षिप्त परिचय दे देना समुचित ही होगा।

भक्तिरस में इष्ट देव ही आलम्बन विभाव हैं। उनके सम्बन्ध के सभी विचार और सभी सामग्रियाँ उद्दीपन विभाव हैं। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, अश्रु आदि अनुभाव हैं। ये अनुभाव भक्तिभाव के सूचक भी हैं और प्रवर्धक भी। संचारीभाव इस रस के सहायक अंग हैं। उनके सहारे साधक कभी ईश्वर से रूठता है कभी उन्हें मनाता है, कभी उलाहना देता है, कभी अपना दैन्य प्रदर्शन करता है, कभी अधीर हो उठता है, और सुस्थिर चित्त से उनकी ओर तन्मय हो जाता है। हृदय के प्रायः सब भाव भक्तिरस में परिणत किये जा सकते हैं। नवों स्थायी भावों में रति का स्थायी भाव बड़ा प्रबल और रागात्मिका भक्ति के सर्वथा उपयुक्त है इसलिये रागात्मिका भक्ति के प्रकरण में इसी बीजभाव को विशेष महत्व दिया गया है। आचार्यों ने इस स्थायीभाव से दास्य, वात्सल्य सख्य, शान्त और मधुर इस प्रकार के पाँच रस विकसित किये हैं। अपनी अपनी रुचि के अनुसार भक्त लोग इन रसों को ग्रहण करते हैं। जब भावातिरेक में उपास्य और उपासक का द्वैत मिट जाता है तब उस सरस अवस्था विशेष को महाभाव कहते हैं। यह महाभाव मोहन और मादन इस प्रकार के दो भेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार भक्तिरस की शाखा प्रशाखाओं का विस्तार है। एक बात और है। भक्तिरस में विरह का विशेष गौरव है। संयोगावस्था की अपेक्षा वियोगावस्था में भाव की बड़ी तीव्रता रहा करती है। भक्त के हृदय में आराध्य के लिए जो आकर्षण रहता है वह अपनी उत्तेजना के लिए उसे विरहासहिष्णु बनाकर यद्यपि प्रत्यक्ष में रुलाता और हाय-हाय कराता रहता है तथापि परोक्ष में इष्टदेव के ध्यान को अधिकाधिक स्पष्ट और निकट करता हुआ वह उसे अधिकाधिक अनिर्वचनीय शान्ति देता जाता है। इस शान्ति में जो प्रकृष्ट माधुर्य रहता है वह अनुभव से ही जाना जा सकता है। परमभक्त लोग इसीलिये अत्यन्त

संयोगावस्थावाली मुक्ति की कामना छोड़कर आकर्षण प्रधान भक्ति (भेद भक्ति) ही को बनाये रखना चाहते हैं।

जो किसी सांसारिक कामना की पूर्ति के लिये भक्ति करता है वह व्यवसायी है क्योंकि वह निश्चय ही इष्ट देव की अपेक्षा अपनी कामना पूर्ति को अधिक महत्व दे रहा है। संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं इसलिये परम वैराग्यशील बनकर इष्टदेव की उपासना में रत रहना ही सच्ची भक्ति है। यह बात नहीं है कि सकाम भक्ति का कुछ फल ही नहीं होता। इष्टदेव अपने भक्त की सब अभिलाषाएँ अवश्य पूर्ण करते हैं। परन्तु जब हम भक्ति के बल पर स्वयं इष्टदेव को अपना बना सकते हैं तब उस असीम बल को संसार के नश्वर पदार्थों की प्राप्ति में नष्ट कर देना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। अब प्रश्न यह होता है कि जब कोई कामना ही न रही तो फिर इष्ट देव अपने कैसे बनते हैं और वे भक्त को अभ्युदय (इस लोक का सुख और ऐश्वर्य) तथा निःश्रेयस (परलोक का कल्याण) किस प्रकार प्रदान करते हैं। इसका सीधा उत्तर इस प्रकार है। प्रेम का आकर्षण यदि सच्चा है तो उसका असर दोनों ओर हुए बिना नहीं रहता। हमारा तथा इष्टदेव का परस्पर आकर्षण होने से हम दोनों कृतज्ञता के स्नेह सूत्र में बँधे रहते हैं और फिर परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार हमें उनके ही इशारों पर चलना, उनकी रुचि के कार्य करना और उन्हीं के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना सदा पसन्द आता है, उसी प्रकार उन्हें भी हमें अपना लेना हमारी रक्षा करना और हमें सुखी बनाए रखना हमेशा पसन्द आता है। यदि ऐसा न भी हो और हमारे इष्टदेव हमारे न भी बनें तो भी वे हमारे हृद्‌गत प्रेम के अनुपम माधुर्य को तो हमसे छीन न लेंगे। भक्तिरस में स्वयं ही इतना अपूर्व आनन्द भरा हुआ है कि उसके आगे मुक्ति का आनन्द भी फीका पड़ जाता है। तब फिर इस आनन्द को सांसारिक कामना के कीचड़ से गँदला कर देना बुद्धिमानी नहीं। इसलिये वास्तविक भक्ति वही है जो वैराग्य की नींव पर स्थित हो।

सच्ची भक्ति के लिये जिस प्रकार वैराग्य एक प्रधान अंग है उसी

प्रकार विवेक भी। सब कुछ इष्टदेव का समझना और सब में इष्टदेव ही को देखना यही विवेक का प्रधान लक्षण है। जिस भक्त में ऐसा विवेक हुआ वही स्वयं तर कर दूसरों को तार सकता है और उसीसे लोक का वास्तविक कल्याण होता है। ऐसा भक्त भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है और कई दृष्टियों से वह भगवान् से भी अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। आचार्य लोगों ने न केवल यही कहा है कि "भक्ति-भक्त भगवन्त गुरु चतुर-नाम बपु एक" (नाभादास), वरन् उन्होंने यह भी कहा है कि "मेरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक रामकर दासा।" (तुलसीदास)।

प्राचीन आचार्यों ने नवधा भक्ति के क्रम पर बहुत जोर दिया है। भक्ति के वे नव साधन अथवा अंग इस प्रकार हैं—(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन। ये नव प्रकार के अंग वैधी तथा रागात्मिका दोनों प्रकार की भक्ति अपने में समेट लेते हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण द्वारा श्रद्धा की वृद्धि करके पादसेवन अर्चन और वन्दन द्वारा विश्वास की दृढ़ता प्राप्त करनी चाहिए। तब क्रमशः दास्य सख्य और आत्मनिवेदन द्वारा रागात्मिका भक्ति का सच्चा आनन्द मिलने लगेगा। शास्त्रोक्त नवधा भक्ति का यही क्रम है। जिन लोगों ने केवल रागात्मिका भक्ति ही पर विशेष ध्यान दिया है उन्होंने अपने ढंग की नई नवधा भक्ति बताई है। इस प्रसंग में अध्यात्म रामायण का वह अंश देखने योग्य है जिसमें शबरी के प्रति भगवान् राम ने नवधा भक्ति कही है।

रागात्मिका भक्ति के प्रेमी लोग मन, वाणी और क्रिया इन तीनों का सच्चा उपयोग करने के लिये मन से प्रेम, वाणी से जप (और कीर्त्तन) तथा क्रिया से सत्संग (और धर्माचरण) करते रहने की सदैव सलाह दिया करते हैं। रागात्मिका भक्ति के ये तीन परम प्रधान साधन हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् के सच्चे और पक्के प्रेमी थे इस लिये रागात्मिका भक्ति की ओर उनका झुकाव रहना स्वाभाविक था। उन्होंने भक्ति के साधनों में रागात्मिका भक्ति वाले साधनों ही का विशेष

उल्लेख किया है। भक्ति के आनन्द के लिये ही भक्ति की जाय यही गोस्वामी जी को अभीष्ट जान पड़ता है। उन्होंने विरति और विवेक की सुदृढ़ नींव पर ही अपनी भक्ति के भव्य भवन का निर्माण किया है। उनके उपास्य का यद्यपि "राम" नाम और "रघुनाथ" रूप है परन्तु यह नामरूप भी इस खूबी के साथ वर्णित हुआ है कि वह विभिन्न नामरूपधारी उपास्य के प्रेमियों को भी बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। गोस्वामी जी की वर्णनशैली के जादू से मन्द श्रद्धा भी तीव्रता को प्राप्त हो जाती है। इसलिये रामचरितमानस का सहारा लेनेवाले व्यक्ति को वैधी भक्ति के झंझटों में उलझने की आवश्यकता नहीं। गोस्वामी जी ने प्रतिमापूजन आदि वैधी भक्ति के साधनों को निन्दनीय नहीं कहा है परन्तु उनके लिये कहीं विशेष आग्रह भी नहीं किया है। उन्होंने तो इन विधिविधानमय साधनों को द्वापर त्रेता की चीजें कहा है। इस तरह वे यद्यपि भाव ही को हर कहीं प्राधान्य देते हैं तथापि प्रसंगवश कहीं-कहीं भावहीन क्रिया और अन्ध-श्रद्धा तक को उपादेय कह देते हैं। तीर्थों की महिमा, वेष की पूजा, यंत्र-वत् नामोच्चारण, आदि ऐसे ही विषय हैं। इन्हीं विषयों के कारण कई लोनों ने तुलसी-सिद्धान्त पर आक्षेप भी किये हैं। परन्तु पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर यदि इन प्रसंगों पर अथवा इन विषयों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि गोस्वामी जी ने इन्हें एक समुचित सीमा तक ही उपादेय कहा है। उनका ऐसा कहना अनुचित नहीं माना जा सकता।

गोस्वामी जी ने भगवत्प्रेम से भगवत्तन्मयत्व की प्राप्ति का रोचक वर्णन तो किया ही है साथ ही उन्होंने भगवद्विरोध से भी भगवत्तन्मयत्व की प्राप्ति का हाल बड़े अच्छे ढंग से कहा है। भगवत्तन्मयत्व ही जीव का मोक्ष है क्योंकि अपूर्ण जीव का पूर्णपुरुष में तन्मय हो जाना ही अपनी अपूर्णताओं से मुक्त हो जाना है। यह तन्मयता चाहे द्वेषमार्ग से हो चाहे प्रेममार्ग से। दानवों ने द्वेषमार्ग से मुक्ति पाई। मानवों ने प्रेम-मार्ग से मुक्ति और भक्ति (परम आनन्ददायिनी भेदभक्ति) दोनों ही इच्छानुसार पाई। एक बात और है। गोस्वामी जी का भक्तिमार्ग केवल व्यष्टि

के कल्याण की बात लेकर ही नहीं चला है। इसलिए उसमें साधुमत और लोकमत दोनों का समन्वय है।[1]

३. भक्तिमार्ग के गुणदोष

इस मार्ग का पहिला गुण तो यह है कि यही वास्तव में लोकधर्म कहाने योग्य है। श्रीमद्भागवत के अनुसार कामनावान् क्रियाशील व्यक्तियों के लिये कर्ममार्ग, वैराग्यशील और तार्किक प्रवृत्तिवालों के लिये ज्ञानमार्ग तथा मध्यमावृत्तिवालों के लिये भक्तिमार्ग है।[2] जनता अधिकांश में मध्यमा-वृत्तिवाली (एकदम विरक्त न एकदम अतिसक्त) होती है। इसीलिये भक्तिमार्ग सर्वसाधारण को सदैव रुचिकर रहता आया है। यहाँ एक बात जान लेने योग्य है। वास्तव में तो कर्म भक्ति और ज्ञान इन तीनों के समन्वय के बिना कोई मार्ग शुद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिये विशुद्ध भक्तिमार्ग भी असल में समन्वय मार्ग ही है[3] जिसमें कर्म का अंश विरति (अनासक्ति) के रूप से और ज्ञान का अंश विवेक (तत्वसाक्षात्कार) के रूप से समाया हुआ है। समन्वयमार्ग होते हुए भी इसमें प्रेम की प्रधानता है इसलिये यह भक्तिमार्ग कहाता है। प्रेम प्रारम्भ से ही आनन्दप्रद होता है, इसलिये यह

---

१. अब तो गोस्वामी जी की समन्वय साधना पर विस्तार से अध्ययन किया गया है।

२. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेस्वनिर्विण्ण चित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्ति योगोऽस्य सिद्धदः॥

भागवत ११।२०।६ से ८ तक

३. विशेष विवरण के लिए लेखक का "जीवविज्ञान" देखिए।

मार्ग न केवल सुगम है वरन् वैसा ही सुखद भी है। इस मार्ग में न तो कठोर क्रियाओं की आवश्यकता है न गंभीर चिन्तन की। यह पथ किसी मरु-स्थल के पथ के समान नहीं है जो समाप्त होकर ही हमें कृतकृत्यता प्रदान करे—हरित भूमि के दर्शन करावे। इसे तो अविनाशी मीनाबाजार का वह राजपथ समझना चाहिए। जिसके पद-पद पर आनन्द ही आनन्द है।

इस मार्ग का दूसरा गुण यह है कि इस पर चलकर मनुष्य न केवल मुक्ति के फल प्राप्त कर सकते हैं वरन् लीला के अनुपम आनन्द का भी भरपूर उपभोग कर सकते हैं। यह मार्ग कोई मृगमरीचिका नहीं है। इष्ट-देवों का अस्तित्व ठीक उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार उनके भक्तों का और भक्तों की भावनाओं का। मनुष्यों की इच्छाशक्ति अखंड चैतन्य परब्रह्म परमात्मा का ही चमत्कार है। इसलिये उस इच्छाशक्ति द्वारा इष्टदेव का निर्माण भी "भगतन हित लागी" ब्रह्म का ही सगुण साकार बनना कहा जायगा। पूर्व के महात्माओं ने इष्टदेव की कल्पना करके उनके दर्शन कर लिये। जब एक बार इष्टदेव का दर्शनीय व्यक्तित्व बन गया तब तो परवर्ती भक्तों के लिए वह रूप और भी सुलभ हो गया है। विभिन्न स्थलों और विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों ने एक ही इष्टदेव पर अपना ध्यान जमाकर उनकी सत्ता और शक्ति को और भी दृढ़ कर दिया है। राम और कृष्ण के समान ऐतिहासिक महापुरुषों में इष्टदेवत्व का स्थापन होने से उनके व्यक्तित्व की सत्यता तो सामान्य जीवों के अस्तित्व की सत्यता से भी अधिक सत्य हो गई है। ऐसे इष्टदेव अवश्य ही हमारी प्रार्थनाएँ सुनते और हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं। हमारी शक्ति ससीम है और उनकी शक्ति असीम है। हम अपने प्रयत्न से जो कुछ प्राप्त कर सकते हैं उससे अधिक अनायास ही उनकी कृपा से प्राप्त कर सकते है। जब वे परब्रह्म परमात्मा ही हैं तब फिर उनके दरबार में क्या कमी है। वे इस लोक के सब ऐश्वर्य हमें दे सकते हैं, परलोक के सब कल्याण हमें दे सकते हैं, मुक्ति की दिव्य शान्ति हमें दे सकते हैं, और प्रेम के प्रमोदमय लीलालावण्य में भी हमें मस्त बनाए रख सकते हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि इष्टदेव

पर भक्ति करते हुए भी अभीष्ट फलप्राप्ति शीघ्र नहीं होती। ऐसी स्थिति में इष्टदेव के अस्तित्व पर ही शंका करने लग जाना अथवा भक्तिमार्ग को ही निन्दनीय कहने लगना सरासर अनुचित है, क्योंकि साधक का प्रारब्ध, लोक-संग्रह की दूरदर्शिता, अनुराग की अपरिपक्वता आदि ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे हमारे इष्टदेव फलप्रदान करने में देर कर दिया करते हैं।

इस मार्ग का तीसरा गुण यह है कि इस पर चलकर हमारा हृदय शुद्ध, सबल और सरस बन जाता है। थोड़ी देर के लिये यदि मान भी लिया जाय कि इष्टदेव का वास्तविक व्यक्तित्व है ही नहीं अथवा यदि वे हैं भी तो हमारी पुकार की ओर उदासीन हो रहा करते हैं तो भी यह निश्चित है कि उनके सौंदर्यमय अस्तित्व पर श्रद्धा और विश्वास दृढ़ करते जाने से हमारे आस्तिक्य भाव, इच्छाशक्ति और प्रेमानन्द की बृद्धि हो होती जायगी। इन बातों को तो कोई हमसे छीन नहीं सकता। आस्तिक्य-भाव के कारण जहाँ एक ओर हम लोक-कल्याण के लिये प्रवृत्त होते रहेंगे वहाँ दूसरी ओर विषम परिस्थितियों में भी भगवान् का भरोसा रख कर एक सच्चे आशावादी की भाँति अपना धैर्य अटल रख सकेंगे। इच्छा-शक्ति की वृद्धि से तो हम न जाने क्या क्या पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं, न जाने कैसे-कैसे असाध्य कार्य सिद्ध कर सकते हैं। प्रेमानन्द की उपयोगिता के लिये जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। मुक्ति का आनन्द अधिक महत्वपूर्ण है अथवा भक्ति का—इस प्रश्न के उत्तर में बहुमत भक्ति के आनन्द (प्रेमानन्द) ही की ओर झुक रहा है। इस प्रेमोन्माद के लिये यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि प्रेमपात्र हमारा होकर रहे। यह आवश्यक नहीं है कि वह हमारे प्रेम को स्वीकार करे। यह भी जरूरी नहीं है कि वह वास्तविक सत्तावान् हो हो और कल्पित न हो। प्रेम करते करते प्रेम में ही वह आनन्द आने लगता है कि फिर प्रेमपात्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसीलिये सच्चा भक्त केवल भक्ति के आनन्द के लिए भक्ति करता है। उसके सामने न तो कामना पूर्ति का सवाल उठता है और न प्रेमपात्र को अपनाने का।

इन गुणों के अतिरिक्त और भी अनेक गुण गिनाए जा सकते हैं। जो तीव्र श्रद्धावाले व्यक्ति हैं उनकी तो बात ही अलग है परन्तु जो मन्द श्रद्धा वाले हैं वे भी इस मार्ग से पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पहिली बात तो यह है कि इष्टदेव में आदर्श पूर्णत्व मानने के कारण मनुष्य आप ही आप आदर्श की ओर खिचता चला जाता है और इस प्रकार सरलतापूर्वक विकसित होता चला जाता है। दूसरी बात यह है कि इष्टदेव की महत्ता के अनुभव के कारण उसका अहंकार आप ही आप दूर हो जाता है। तीसरी बात यह है कि शान्ति के साथ कुछ देर भगवान् का स्मरण करने से मन को विश्राम का अवसर मिल जाता है और वह नई-नई बातें भली भाँति सोच तथा सुझा सकता है। इसी प्रकार के और भी अनेक लाभ बताए जा सकते हैं।

संसार गुणदोषमय है इसलिए इस मार्ग में जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी गिनाये जा सकते हैं। पहिला दोष तो यह है कि इष्टदेवों की (नामरूपात्मक इष्टदेवों की—परब्रह्म परमात्मा की नहीं) संख्या अनेक होने के कारण और उनके विशिष्ट व्यक्तित्व अलग-अलग होने के कारण उनके उपासक लोग आपस में झगड़ने लग जाते हैं। वैष्णव लोग विष्णु को सर्वश्रेष्ठ मानकर शिव, गणेश आदि को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते हैं। शैव लोग शिव को सर्वश्रेष्ठत्व प्रदान करके अन्यों के इष्ट देवों को सामान्य दृष्टि से देखने लग जाते हैं। विभिन्न धर्मों और विभिन्न सम्प्रदायों में इस तरह इष्टदेव के नाम—रूपभेद के कारण बड़े-बड़े झगड़े मच जाया करते हैं। जो विचारवान् लोग हैं वे तो इन झगड़ों को निर्मूल समझ कर शान्त रहते हैं परन्तु सर्वसाधारण के मन में तो इष्टदेवों का यह भेद कठिनता ही से हटाया जा सकता है। दूसरा दोष यह कि अन्ध श्रद्धा के कारण लोग अक्सर इष्टदेवों की "मर्जी" पर इतने अधिक निर्भर हो जाते हैं कि व्यवहार में भी स्वावलम्बी बनना छोड़कर एकदम आलसी और निकम्मे से ही रहते हैं तथा अपनी कमजोरियों और आपत्तियों का दोष ईश्वर (इष्टदेव) के मत्थे मढ़कर चुप हो जाया करते हैं। जब ईश्वर ने हमें विवेक

दिया है, कार्य करने की शक्ति दी है और उपयुक्त शरीर तथा परिस्थिति के साधन प्रदान किये हैं, तब उनका समुचित उपयोग न करके एकदम पर-वशता धारण कर ली जाय यह तो कोई बुद्धिमानी नहीं है। परन्तु इतना जानते हुए भी लोग इस विषय में कभी-कभी विशेष भ्रान्ति उत्पन्न कर ही लिया करते हैं। तीसरा दोष यह है कि अन्धविश्वास का प्राबल्य कभी कभी इतना अधिक हो जाता है कि लोग दम्भियों के चक्कर में पड़कर दुःख भी खूब उठाते हैं। दुनिया में सन्तवेषधारी सभी लोग वास्तविक सन्त नहीं रहा करते। यह भली भाँति जान लेना चाहिए कि ईश्वर के नाम पर अनेक पाखण्डी दुनिया को खूब ठग सकते हैं। फिर, वैधी भक्ति के विधानों पर अधिक जोर देने से आडंबरप्रियता और सामाजिक विषमता की वृद्धि हो सकती है, प्रेम और सौन्दर्य भाव को अनुचित प्राधान्य देने से भक्तिमार्गी लोग विलासिता के दलदल में फँस जा सकते हैं और दैन्य को अत्यधिक महत्व देने से दासत्व की मनोवृत्ति बढ़कर व्यक्ति तथा समाज दोनों को हानि पहुँच सकती है। इसी तरह के और भी कुछ दोष हैं। परन्तु इन दोषों की उलझन में वे ही फँसते हैं जिन्होंने न तो सच्चे गुरु की सेवा की है न सत्संग किया है न सद्ग्रन्थों का मनन किया है और न सद्विवेक से काम लिया है। ऐसे-ऐसे दोषों को देखकर इस मार्ग को ही हेय अथवा गौण बता देना सरासर नासमझी है। काँटों के डर से कोई गुलाब को हेय नहीं बताता। मच्छड़ों के डर से कोई उपवन-विहार नहीं बन्द कर देता। कछुओं के डर से कोई तीर्थ का स्नान नहीं छोड़ देता।

गोस्वामी जी ने अपने भक्तिमार्ग को दोषों से बचाने की भरपूर चेष्टा की है। पहिले दोष को मिटाने के लिए उन्होंने भारत के सम्मान्य इष्ट देवों का सामञ्जस्य कर दिया है और वह सामञ्जस्य इस खूबी से किया है कि किसी इष्टदेव की ओर द्वेष अथवा तिरस्कार का भाव उठने ही नहीं पाता। दूसरे दोष को मिटाने के लिये तो उन्होंने स्वतः भगवान् के मुँह से कहला दिया है कि जो नरशरीर पाकर भी परलोक के लिये प्रयत्नशील नहीं होता वह काल कर्म और ईश्वर को मिथ्या ही दोष लगाता फिरता

है। तीसरे दोष को मिटाने के लिये उन्होंने बाह्य आडम्बर को—जटा रखाना, तिलक लगाना, मठ मंदिर की पद्धतियों को पूरा करना आदि भी—अपने भक्तिपथ में कोई प्राधान्य दिया ही नहीं। फिर न तो वे वैधी भक्ति के विधानों ही पर जोर देते हैं, न अपनी भक्ति के प्रेम और सौन्दर्य को "सेव्यसेवक भाव" की मर्यादा से आगे बढ़ने देते हैं और न इस सेव्य सेवकभाव ही को वे ऐसा अमर्यादित होने देते हैं कि वह दास्यमनोवृत्ति उत्पन्न करके आत्महन्ता बन जाय। वे तो उपयुक्त अवसर पर अहिंसा के समान परम धर्म[1] को भी ताक पर रखने की सलाह देते हुए कहते हैं:—

संत संभु स्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा।
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूंदि नत चलिय पराई॥३५-१,२

लोकसेवा के लिये। (जिसके समान और कोई धर्म नहीं है[2]) वे प्राणों के उत्सर्ग को भी प्रशंसनीय कहते हुए लिखते हैं—

परहित लागि तजइ जो देही। सन्तत सन्त प्रसंसहि तेही॥४३-४,५

---

१. परम धरम स्रुति विदित अहिंसा। ५०४-५
२. पर हित सरिस धरमु नहिं भाई। ४६१-२५

तृतीय परिच्छेद

जीव-कोटियाँ

जीवों के लिये जीव से बढ़कर अध्ययन की वस्तु और दूसरी कोई नहीं हो सकती। यदि दूसरी वस्तुओं का—जगत् आदि का—अध्ययन किया भी जाता है तो अपने लिये—जीवों के लिये—उनकी उपयोगिता का दृष्टि-कोण सामने रखकर ही किया जाता है। इसलिये भारतीय दार्शनिकों ने अपनी विचारधाराओं को 'जीव के कल्याण' पर ही विशेष रूप से केन्द्रित किया है। इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए हम गोस्वामी जी के तत्वसिद्धान्तों को पाँच परिच्छेदों में विभक्त कर रहे हैं। पहिला परिच्छेद है जीव के सम्बन्ध का। दूसरा है जीवों के आदर्श—जीवों की पूर्णता—जीवों के ध्येय—के सम्बन्ध का। तीसरा परिच्छेद है माया के सम्बन्ध का—उस शक्ति के सम्बन्ध का जो जीव की अपूर्णता का कारण है अथवा यों कहिए कि जो जीव को अपने आदर्श से भिन्न रख रही है। चौथा परिच्छेद है भक्ति के सम्बन्ध का—उस शक्ति के सम्बन्ध का जो माया से विपरीत कार्य करती है अर्थात् जो जीव को उसके ध्येय से मिला देती है।[1] और पाँचवाँ परिच्छेद है जीवों के लिये उपादेय इस भक्ति के साधनों का। इस प्रथम परिच्छेद में हम जीवकोटियों की चर्चा करेंगे।

गोस्वामी जी ने "विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने।" (२७७-१३) कहकर जीवों को तीन कोटियों में विभक्त

---

१. देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।।
९५-१७, १८

किया है। पहिली कोटि है विषयी लोगों की, दूसरी साधकों की और तीसरी सिद्धों की। सिद्ध लोग तो सिद्ध ही हैं उनके लिये भक्तिशास्त्र का प्रयोजन ही क्या। साधक लोगों को ही गोस्वामी जी ने अपने रामचरित-मानस का अधिकारी माना है।[1] परन्तु इस कलिकाल में अधिक संख्या तो विषयी लोगों की ही है। इसलिये गोस्वामी जी ने उनका खूब वर्णन किया है। वे यदि एक ओर, साधकों को इनसे सावधान रहने की बात कहते हैं तो दूसरी ओर विषयियों को भी कल्याणमार्ग बताने में नहीं चूक रहे हैं। अपने तत्त्व सिद्धान्त को सर्वजनरोचक काव्यचमत्कार में लपेटकर कहने का वही तो अभिप्राय है जो क्विनाइन की गोली को शक्कर में लपेट रखने का रहा करता है।

गोस्वामी जी जिस युग में उत्पन्न हुए उसमें विषयी जीवों की भरमार थी। कलिवर्णन में मानों उन्होंने अपनी ही परिस्थिति का रूप खींचा है। वे कहते हैं।—

नारि बिबस नर सकल गोसाई। नाचहिं नट मरकट की नाई॥४८८-५
गुनमंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी॥४८८-८

---

१. राम भगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥
४९८-२
यह न कहिय सठहीं हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुनि हरिलीलहिं॥
कहिय न लोभिहिं क्रोधहि कामिहिं। जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं॥
द्विजद्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥
रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥
गुरुपदप्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥
ताकहुँ यह विशेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥
५०८-११ से १६

२. विषयन्हि कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥
४६६-१९

बहुदाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्ह रही विरती ॥४८९-६
कुलवन्ति निकारहिं नारिसती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती ॥४८९-८
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥४९०-३

उस समय धर्म कर्म का तो कोई हिसाब ही न था क्योंकि—

कलिमल ग्रसे धरम सब लुप्त भये सद ग्रन्थ।
दंभिन्ह निजमत कलपि करि प्रकट किये बहु पन्थ ॥५८७-१३, १४

स्वतःशासक भी—

"नृप पापपरायन धर्म नहीं। करिदंड विडंब प्रजा नितहीं" ४८९-१० थे। तब सामान्य लोगों के लिये यदि कहा जाय कि "सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा" (४८८-२४) तो आश्चर्य ही क्या। ऐसी परिस्थिति में माता पिता लोग स्वाभाविक ही उसी शिक्षा और सभ्यता की ओर अपने बच्चों को झुकाना चाहते थे जिसमें उन्हें चार पैसों की—सांसारिक सुविधाएँ संग्रह कर सकनेवाले साधनों की—प्राप्ति हो।

मातुपिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धरमु सिखावहिं ॥४८८-११

यह उदरंभर धर्म था यावनी संस्कृतिवाला विलासितामय मुगल-दरबारी ठाट। जो लोग धर्म की ओर कुछ झुकते भी थे वे—

श्रुतिसम्मत हरिभगतिपथ संजुत विरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस कलपहिं पंथ अनेक ॥४८९-३, ४

इस तरह वे यावनी संस्कृतिपूर्ण नये-नये पथ चलाकर भारतीयता पर ही गहरा धक्का लगा रहे थे। इन्हीं लोगों के कारण सन्तप्रवर गोस्वामीजी का हृदय परोपकार की भावना से प्रेरित होकर सद्धर्म संस्थापना के लिये विचलित हो उठा और परिणाम में यह ग्रन्थरत्न तैयार हो गया।

ऐसी स्थिति में यह तो निश्चित ही है कि इस ग्रन्थ में श्रुतिसम्मत हरि-भक्तिपथ की जितनी अधिक प्रशंसा होगी विषयवासना की उतनी ही अधिक

निन्दा भी होगी। इस विषयवासना की निन्दा का भाव गोस्वामी जी में इतना अधिक है कि उन्होंने अपने भक्तिमार्ग में अथवा अपने आराध्य के चरित्र में विलासिता की बास तक भी कहीं नहीं आने दी है। उन्होंने पक्के विषयी लोगों को असन्तों की कोटि में रखकर सर्वथा त्याज्य बताया है। गोस्वामी जी ने इस सम्बन्ध में देवताओं तक पर रियायत नहीं की। इन्द्रादि देव पुण्यकार्यों के फलभोग के लिए ही स्वर्गलोक तथा देवशरीर पानेवाले बताये गये हैं। तब फिर वे भी निःसन्देह विषयी हैं।[1] जब वे विषयी हैं तब गोस्वामी जी की श्रद्धा के पात्र वे कभी हो ही नहीं सकते। इसलिये—

जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥
सूख हाड़ लेइ भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुरपतिहिं न लाज॥६३-६ से ८
तिन्हहिं सुहाय न अवध बधावा। चोरहिं चाँदिनि राति न भावा॥
१७४-१४।

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहि पराइ विभूति॥१७४-२३
कपट कुचालि सीवं सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाक रिपुरीति। छलीमलीन कतहुँ न प्रतीती॥२८६-२१, २१
आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥४३१-१२

ऐसी ऐसी पंक्तियाँ कहकर गोस्वामी ने इनकी अच्छी पूजा की है।

---

१. इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखने योग्य हैं:—

देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिसाच भूत बैताला॥
इन्हकी दसा न कहेउ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥४३-२३४४
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। ३३७-२१
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सुहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई॥५०१-२२

विषयों में सबसे प्रबल है कामोपभोग और पुरुषों के लिए इसका प्रधान साधन है प्रमदा अथवा नारी। इसलिए विषयवासना की निन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बनानेवाले गोस्वामी जी ने नारीनिन्दा में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। रामचरितमानस का यह प्रसंग ऐसा है जिसके सम्बन्ध में कई सज्जनों ने कई प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। जिन्हें स्त्रियों का नियत्रण अभीष्ट है वे तो गोस्वामी जी की पंक्तियों की दुहाई देकर अब भी "ढोल गँवार सूद्र पशु नारी" पर दो चार हाथ चला दिया करते है। (कहना न होगा कि विचारशील सज्जनों में ऐसे लोगों की संख्या आजकल बहुत कम है)। जो स्त्रियों के समानाधिकार अथवा स्वातंत्र्य के पक्षपाती हैं (और ऐसे लोगों की संख्या आजकल बहुत अधिक है) वे या तो गोस्वामी जी कृत "अपराध" (?) मार्जन के लिये लचर दलीलें पेश किया करते हैं या फिर उन्हें खुल्लमखुल्ला गालियाँ सुनाने लगते हैं।

ऐसी दलीलों में से एक यह है कि गोस्वामी जी ने गतानुगतिक सन्त की तरह रूढ़िवश नारीनिन्दा कर दी है। भागवत में लिखा है कि स्त्रियाँ तो स्त्रियाँ हैं स्त्रियों का संग करनेवाले का भी संग एकदम त्याज्य हैं[1] नारद पञ्चरात्र में तो नारीनिन्दा का एक अध्याय ही है। स्वयं मनु महाराज ने भी स्त्री-स्वातंत्र्य के विरोध में अनेक श्लोक कहे हैं[2]। अनेकानेक आगम निगम पुराणों में ऐसी ही चर्चा मिल सकती है। तब फिर गोस्वामी जी ने भी लिख दिया तो क्या बुरा हुआ! इस दलील का उत्तर यह है कि यदि यह नारीनिन्दा वास्तव में बुरी है तो इसका अन्धानुकरण करके गोस्वामी जी ने सचमुच बुरा किया है। दस पचीस मनुष्यों ने जानबूझकर

---

१. अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥भा० ११।२७।२२

२. बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्रीस्वतंत्रताम् ॥मनु० ५-१४८

या भूल से ही यदि कोई असन्मार्ग ग्रहण कर लिया है तो उस पर चलनेवाला गोस्वामी जी सदृश विचारशील व्यक्ति आलोचना की सीमा के बाहर नहीं कहा जा सकता।

दूसरी दलील यह है कि गोस्वामी जी ने स्वत: नारीनिन्दा में कुछ भी नहीं कहा। जो कुछ कहा सो मानस के पात्रों ने कहा। इसीलिए वे इस हेतु दोषी नहीं। इस दलील का उत्तर यह है, जैसा कि पहिले कहा गया है, कि मानस कोई नाटक नहीं जिसमें उक्तियों का दायित्व पात्रों के सिर पर रखा जाता है। फिर मानस के पात्र गोस्वामी जी की ही कल्पना के परिणाम तो हैं। सभी तरह के पात्रों की सभी तरह की उक्तियाँ रहते हुए भी हमें पुरुष जाति की निन्दा के सम्बन्ध में वैसे वाक्य नहीं मिलते जैसे स्त्री जाति की निन्दा के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष दोनों के मुंह से कहे हुए पाये जाते हैं। जाति भर की इस प्रकार की निन्दा का चाहे प्रसंग हो चाहे न हो परन्तु गोस्वामी जी ने "सहज अपावनि नारि" (३०३-२), "नारि सहज जड़ अज्ञ" (३२-१२), "जदपि जोषिता अनअधिकारी" (५६-१९), "अबला अबल सहज जड़ जाती" (४९९-१६), "अधम ते अधम अधम अति नारी" (३२०-८) "नारि विस्वमाया प्रगट" (४९९-२०), "अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि" (३२४-२५) आदि कह ही तो दिया है। इसलिये यह दूसरी दलील भी किसी काम की नहीं है।

महात्मा गांधी ने कहा है कि "गोस्वामी जी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया।"—(धर्मपथ पृष्ठ ६५) हम प्रयत्न करने पर भी इस निर्णय से सहमत नहीं हो सकते। गोस्वामी जी के ग्रन्थप्रणयन का जो उद्देश्य था उसको देखते हुए जिस प्रकार नारी निन्दा की गई है वह परम आवश्यक थी। और नारीनिन्दा के उन अंशों को अलग कर देने पर नारी के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की जो विचारधारा मिलती है वह अत्यन्त उज्ज्वल है। उसे देखते हुए गोस्वामी जी का 'अन्याय' कहीं भी नहीं प्रगट होता। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त होंगे—

(१) स्त्रियाँ परमगति की प्राप्ति के लिए पुरुषों के बराबर ही नहीं

वरन् उनसे भी अधिक उपयुक्त हैं। बराबरी के दावे के लिए तो—"राम-भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी" (४५३-१८) का उल्लेख पर्याप्त है और श्रेष्ठता के लिए उस सुगम पातिव्रत्य धर्म का संकेत, ही बहुत है जिसको धारण करने से 'बिनु स्रम नारि परमगति लहई" (३०१-२८) की बात कही गई है।

(२) जिस तरह स्त्रियों के लिए "एक धरम एकु ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपदप्रेमा" (३०१-२०) कहकर गोस्वामी जी ने पातिव्रत्य पर जोर दिया है उसी प्रकार अपने आदर्श रामराज्य में उन्होंने पुरुषों को भी एकपत्नीव्रती ही रखा है। देखिए :—
"एकनारिब्रतरत सब झारी। ते मन क्रम बच पतिहितकारी" (४५४-१०)

गोस्वामी जी का यह धर्मशास्त्र सर्वसाधारण के लिए लिखा गया है इसलिए इसमें स्त्रियों का सामान्य धर्म ही विशेष रूप से कहा गया है। यह सामान्य धर्म पातिव्रत्य और गृहपरिचर्या से बढ़कर कोई दूसरा नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने इन विषयों पर बहुत जोर दिया है। असामान्य परिस्थिति की स्त्रियाँ असामान्य धर्म पालन कर सकती हैं। गोस्वामी जी को इससे विरोध नहीं। उमा ने जगद्हित के लिए रामचरितमानस का अवतार ही करा दिया। गिरा ने बुद्धियों की प्रेरणा का काम अपने ज़िम्मे लिया है। मन्दोदरी में पातिव्रत्य से भी बढ़कर भगवद्भक्ति का जोर था। गोस्वामी जी ने इन सब बातों को मान्यता दी है।

(३) कालिदास ने स्त्री को जिस प्रकार "गृहिणी सचिव, सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" कहा है, उसी प्रकार गोस्वामी जी भी उसे नेक सलाह देने की अधिकारिणी मानते हैं। तारा ने बालि को कितनी अच्छी सलाह दी थी; परन्तु जब बालि ने न माना तो स्वयं भगवान् ने उसे डाँटते हुए कहा था—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना।" ३३२-२३।

(४) जो नारी कुमार्गगामिनी होती है, वह चाहे सूर्पणखा की तरह नकटी बूची करके ही छोड़ दी जाय, परन्तु जो पुरुष नारी की ओर कुदृष्टि

से देखता है, वह एकदम बधार्ह ही बताया गया है। देखिए:—"अनुज बधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥ इनहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहिं बधे कछु पाप न होई॥" (३३२-२१, २२)। यदि कहा जाय कि ये पंक्तियाँ विशिष्ट स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने के सम्बन्ध की है तो सामान्य स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने वाले के लिये भी गोस्वामी जी कहते हैं:—

कामी पुनि कि रहइ अकलंका—४९६-२४
सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी—४९६-२६

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुखनाना॥
सो परनारि लिलारु गोसाईं। तजइ चौथ के चन्द कि नाईं॥
३६१-१२, १३

(५) गोस्वामी जी ने अपना ग्रन्थ केवल लोकहितसाधकों के लिए तो लिखा नहीं है; (उस समय वातावरण भी कुछ ऐसा था कि राष्ट्र उत्थान का प्रत्यक्ष प्रयत्न करना—लोकहित साधना की बात को विशेष प्राधान्य देना—यवनशासकों को खटक सकता था) उन्होंने आत्महितसाधकों (व्यक्तिगत आत्मकल्याण की साधनावालों) की विचारधाराओं का भी अपने धर्मतत्त्व में सामंजस्य किया है और समय देखते हुए अपनी वर्णनपरिपाटी में व्यक्तिगत साधनावाली बातों को प्राधान्य भी दिया है। आत्महित की साधना में विषयनिन्दा, कामोपभोगनिन्दा और अतएव नारीनिन्दा पर अन्य आचार्यों द्वारा जितना अधिक कहा गया है, वह देखते हुए गोस्वामी जी की उक्तियाँ न केवल उचित ही हैं वरन् अनिवार्य भी हैं। लोकहित के साधक लोग उन उक्तियों को आत्महित के साधकों के लिए छोड़कर गोस्वामी जी की अन्य उक्तियों की ओर और गोस्वामी जी कृत स्त्रीपात्रों के चरित्रचित्रण की ओर क्यों नहीं ध्यान देते?

(६) गोस्वामी जी के स्त्रीपात्र बहुत उज्ज्वल चित्रित हुए हैं और पुरुषों की अपेक्षा उन्होंने भगवद्भक्ति को अधिक अपनाया है। इस सम्बन्ध

में सीता, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया आदि की तो बात ही क्या है, तारा सदृश बानर नारी और मन्दोदरी सदृश राक्षस नारी की ओर देखिए। उन दोनों के चरित्र कितने उज्ज्वल हैं और उन दोनों के विशुद्ध हृदयों ने किस प्रकार भगवत्तत्त्व के रहस्य को पहिले ही से प्राप्त कर लिया था। शबरी का हाल देखिए। सीता के रहते हुए भी भगवान् जिसे 'भामिनि" कहकर "मानहुँ एक भगति कर नाता" (३२०-९) की घोषणा करें उसके परमोज्ज्वल सौभाग्य का क्या ठिकाना। रामबनवास के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जिस प्रकार कैकेयी मन्थरा और सरस्वती तक को दोष से मुक्त किया है, वह देखते हुए कौन कह सकता है कि वे स्त्री जाति से चिढ़े हुए थे।

कुछ लोगों का कहना है कि गोस्वामी जी ने न तो माता का प्यार पाया (क्योंकि पैदा होते ही ये त्याग दिये गये थे) और न पत्नी का (क्योंकि उसी की फटकार पर ये विरक्त हुए थे।) तथा उन्हें बड़े घर की स्त्रियों से मिलने जुलने का सौभाग्य भी नहीं हुआ, इसीलिये उन्होंने नारी के सम्बन्ध में अपने बड़े संकीर्ण विचार प्रकट किये हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि नारी निन्दा विषयक प्रसंगों का कारण स्पष्ट रहते हुए भी गोस्वामी जी की इन रचनाओं पर ऐसे-ऐसे तर्क ढूंढ़कर क्यों लीपापोती की जा रही है।

सीता जी भी तो एक नारी हैं। परन्तु वे ऐसी नारी हैं जिनके नाम का स्मरण ही पातिव्रत्य धर्म की रक्षा का अमोघ मन्त्र कहा गया है[1]। गोस्वामी जी ने ऐसी नारियों की निन्दा कदापि नहीं की। उन्होंने "नारी" शब्द से जिन व्यक्तियों की निन्दा की है वे कामोपभोग साधन के अतिरिक्त और कोई दूसरे व्यक्ति नहीं। "स्रक चन्दन वनितादिक भोगा" (२५३-२९) पंक्ति ही बता रही है कि बनिता अथवा नारी स्रक् (माला) चन्दन आदि भोग्य पदार्थों की श्रेणी में समझी जाने लगी थी। गोस्वामी जी को जो परिस्थिति थी उसमें भी "नारी" विलासिता का एक प्रधान साधन बन गई थी। विषय

---

१. **सुन सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं ॥**
तोंहि प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित ॥३०२-४, ५

विलास और आत्म कल्याण में आग पानी का सा विरोध है। इसलिए अखिल जीव कोटि के आत्मकल्याण में संलग्न गोस्वामी जी विषयविलास की प्रधान साधनरूप उस "नारी" की भरपेट निन्दा न करते तो क्या करते? ऐसी निन्दा से——ऐसी दोषदृष्टि से——ही तो उस ओर वैराग्य उत्पन्न होगा और उस ओर वैराग्य होने से फिर राम की ओर अनुराग उत्पन्न होने लगेगा। यही गोस्वामी जी की विचारशैली है। उनकी "नारी" और "प्रमदा" में कोई अन्तर नहीं। उन्होंने अपना मानस विशेष कर उन पुरुषों के लिए लिखा था, जिनका कुछ दिग्दर्शन हमने इसी परिच्छेद के प्रारम्भ में करा दिया है। इसीलिए विलासिता के इस हेय प्रतीक को उन्होंने "नारी" कहकर पुकारा। अध्यात्मपथ की स्वतंत्रताप्रेमिणी असाधारण स्त्रियाँ——वे स्त्रियाँ जिन्होंने विरतिविवेकमय हरिभक्तिपथ अपनाकर गार्हस्थ्य से अपना पीछा छुड़ा लिया है——यदि चाहें तो "नारी" शब्द से कामान्ध पुरुष का भाव ग्रहण कर सकती है।

गोस्वामी जी सुधारक होते हुए भी क्रान्तिकारी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने पुरुषकृत अत्याचारों के विरुद्ध स्त्री को भड़काने का कोई चित्र अपनी रचना में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने मर्यादा की रक्षा के लिए स्त्रीस्वातंत्र्य के विरोधी वाक्य ही कहे हैं।[१] परन्तु स्त्री की परतंत्रता से उनका साधुहृदय अवश्य द्रवित रहा करता था। इस सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति कि——"कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥ (५३-५०) देखने ही योग्य है।

यह अवश्य है कि कथाभाग में भी उन्होंने जहाँ कहीं नारीनिन्दा का उपयुक्त अवसर पाया वहाँ उसका पूरा उपयोग करते हुए——

"विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।"

२३३-३

---

१. **महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी॥**

२३३-२०

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।।
होइ विकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि विलोकी।"
३०७-२२, २३

आदि वाक्य कह दिये है। परन्तु इन सब उक्तियों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि—

"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मदु, करहि सदा संतसंग।।"३२५-२५, २६

स्त्री की ओर पुरुष का आकर्षण तो स्वाभाविक है इसलिये इस आकर्षण के उज्ज्वल पक्ष के पोषण में कविकल्पना का उपयोग करना अपने उद्देश्य के अनुकूल न समझ कर गोस्वामी जी ने इसके श्यामपक्ष ही पर बहुत जोर दिया है। सती स्त्री के हृदय की शुचिता और दृढ़ता पर तो उनको वैसा ही विश्वास है जैसा किसी विचारशील व्यक्ति को होना चाहिए।[1]

विषयी जीव प्रभुता पाकर उच्छृङ्खल हो जाया करते हैं[2]। उनकी उच्छृङ्खलता से समाज को सदैव हानि है। इसलिये उन्हें सदैव मर्यादित रहना ही—ताड़न के अधिकारी बने रहना ही—उचित है। यदि वे जड़ होते हुए भी विवेकाभिमानी बनकर किसी समर्थ से "हिसिषा" करने लगे तो निश्चय ही नारकी बनेंगे क्योंकि वे जीव ईश की समता के लायक नहीं हैं। समर्थ और विषयी में—ईश और अनीश में—वही अन्तर है जो विशाल और क्षुद्र में रहा करता है। स्वल्प गंगाजल से यदि वारुणी तैयार हुई हो तो उसमें वारुणी का अंश विशिष्ट होने के कारण वह त्याज्य है परन्तु वही वारुणी यदि गंगा जी की विशाल धारा में डाल दी जाय तो गंगा जल की विशिष्टता हो जाने के कारण वह ग्राह्य बन जाती है।[3] जिस जीव में

---

१. डगइ न संभु सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे।।१११-८
२. विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहि जनाई।।२५८-१७
३. ढोल गँवार सूद पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।३२९-२४

विषयवासना का आधिक्य है वह इसी प्रकार अनीश अतः मर्यादा से बद्ध रह जाता है और जिसमें सद्भावना का आधिक्य है वह ईश अथवा समर्थ और इस प्रकार विधि-निषेध की मर्यादा से परे हो जाता है। ऐसे लोग परमात्मा ही की कोटि के हैं। इस संसार में ऐसे लोगों का अभिवांछित आधिक्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान् जब स्वयं "श्रुतिपथपालक धरमधुरंधर" (४५४-२२) हैं तब वे अपनी रची मर्यादा में उच्छृंखलता कभी पसन्द ही नहीं कर सकते। तब ऐसी स्थिति में सभी लोगों का मर्यादित रहना—लोकव्यवस्था के प्रबन्ध से आबद्ध रहना—वांछनीय है। जब समर्थ लोगों का भी यह हाल है तब गोस्वामी जी ने जिस नारी को विषयोपभोग का साधन बताकर विषयी जीवों की कोटि में रखा है उसके ताड़न अथवा नियंत्रण अथवा मर्यादा में चलते रहने की बात लिखकर उन्होंने समग्र नारी जाति पर कोई भीषण अत्याचार नहीं कर दिया।

यह बात नहीं है कि विषयी लोग सदासर्वदा विषयी ही बने रहें। उनमें से अनेकों को साधक होना ही पड़ता है। बात यह है कि प्रत्येक जीव आखिर अपने आदर्शपूर्णत्व का—ईश्वर का—अंश ही तो है। केवल अंश ही नहीं वह उसका "सहज संघाती" और सहज स्नेही भी है[1]। इसलिए महत्त्वाकांक्षो—स्वतः पूर्ण बनने की अभिलाषा—उसमें स्वाभाविक है। इस अभिलाषा को वह अपनी अज्ञता के कारण बहुधा उलटे ही मार्ग से पूर्ण करना चाहता है। अपने शरीर को ही अपना वास्तविक रूप समझ कर इन्द्रियों की तृप्ति के लिये विषयवासनाओं की पूर्ति में ही वह अपनी पूर्णता मानने लगता है और इसी ओर दत्तचित्त हो जाता है। परन्तु जब वह ययाति की तरह देखता है कि—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।मनु०

---

१. **ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती।१२-२**
ब्रह्मजीव इव सहज सनेहू। १०२-२०

तब वह अपनी भूल को समझकर सीधे रास्ते पर आ जाता है और इस शरीर से विषयों की साधना के बदले तत्त्व की साधना, रोगों की साधना के बदले रोग मुक्ति की साधना, कुपथ्य की साधना के बदले सुपथ्य की साधना करने लगता है। ऐसी साधना से वह परम शान्ति और परम आनन्द का अधिकारी बनकर निःसन्देह पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है। जिन जीवों में इतना विवेक नहीं है वे भी किसी न किसी प्रकार साधक हो हो जाते हैं। जब कभी विषम परिस्थिति के आघात प्रत्याघात से दुःख और संकटों की प्रबल आँधी उठकर जीवन को चंचल बना देती है उस समय जीव को बरबस साधक बनना पड़ता है। जब वह किसी वस्तु, विभव अथवा परिस्थिति की इच्छा करता है और उसे प्राप्त करना अपनी शक्ति के बाहर की बात समझता है, वह साधक बन उठता है। जब उसे भले आदमियों के बीच उठना बैठना अथवा कीर्तिमान् कहलाना पसन्द आने लगता है तब वह साधक बन जाता है। जब मृत्यु अथवा अज्ञात परलोक का भय किसी के मन पर अपना आतंक जमाने लगे तब वह साधना की ओर झुक पड़ता है। इसी प्रकार के अनेक प्रसंग हैं जो मनुष्यों को साधक बना देते हैं। जो विवेकी और दृढ़ निश्चयी हैं वे तो साधना में पक्के होकर सिद्ध भी हो जाते हैं। जो सामान्य साधक हैं वे हृदय की दुर्बलता के कारण विषयी रहा करते हैं और येन केन प्रकारेण कुछ न कुछ साधना भी करते जाते हैं। ऐसे जीवों की संख्या बहुत अधिक है; और जैसा कि पहिले कहा गया है, इन्हीं की ओर——सर्व-साधारण की ओर——विशेष लक्ष्य रखते हुए गोस्वामी जी ने यह ग्रन्थ लिखा है।

सच्चा साधक विषय-वासना को मानस रोग मानता है। शरीर-रोग-ग्रस्त-सन्निपातग्रस्त——मनुष्य शीतल जल पान करने की ओर बड़ा आग्रह दिखाता है, वह यह नहीं समझता कि जल पीने से उसकी बीमारी और बढ़ जायगी। ठीक इसी प्रकार मानसरोगग्रस्त मनुष्य विषयोपार्जन में दत्तचित्त रहता है, वह यह नहीं समझता कि विषयोपार्जन से उसकी अशान्ति और बढ़ जायगी। मानस रोगों को पहचानना बड़ा कठिन है। नारदादि मह-

षियों से भी भूलें हुई हैं! और उन्होंने कुपथ्य ही को सुपथ्य समझकर भगवान् तक से वही मांगने का साहस किया है। परन्तु साधक यदि मानस रोगों की ओर से निरन्तर सावधान रहने की चेष्टा करें तो इनके चक्कर से वह अपने को बहुत कुछ बचा सकता है।

गोस्वामी जी ने मानस रोगों के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका कहना है कि जीवों के दुःख के प्रधान कारण यही मानस रोग हैं। वे मोह (शरीराभिमान) ही को सब व्याधियों का मूल समझते हैं। इसी से अनेक प्रकार के विषयमनोरथरूपी शूल उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शरीर की व्याधियाँ अनेक हैं उसी प्रकार मानस के रोग भी अपरिमित हैं। जब तक जीवों का जीवत्व—अपूर्णत्व—है तब तक इन रोगों का निवास भी बीजरूप से उनमें रहता ही है। हाँ, जो उन्हें पहिचान लेता है उसके ऊपर ये अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखाते हैं। फिर भी यदि उन्हें विषय का कुपथ्य मिल जाय तो अवश्य अंकुरित, पल्लवित हो उठते हैं। इन रोगों के समूल उन्मूलन की रामबाण ओषधि है श्रद्धापूर्ण हरिभक्ति, जिसे गोस्वामी जी ने अपने मानस द्वारा इस प्रकार सर्वसुलभ कर दिया है।[1]

---

१. मानस रोग का पूरा प्रसंग ही यहाँ पर लिख देना अनुचित न होगा—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जेंहि ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्निपात दुखदाई॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई॥
परदुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई॥
अहंकार अति दुखद डँहरुआ। दंभ कपट मन मान नेहरुआ॥
तृस्ना उदर वृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी॥
जगविधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका॥

सिद्ध की श्रेणी में गोस्वामी जी ने संत, भक्त आदि सभी पहुँचे हुए जीवों को रखा है। जो पहुँचा हुआ जीव रहता है—ब्रह्मसादृश्य प्राप्त कर चुकता है—वह काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ही चुकता है।

"नारि नयनसर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुमह समान रघुराया॥"

३३७-२२, २३

साथ ही वह "हेतु रहित जग उपकारी" भी हो जाता है।

"हेतु रहित जुग जग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥"

४६४-१०

एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं सन्तत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।
नेम धरम आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भवज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाइ हरिजान।

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी॥
मानस रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्हि पाये॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन-परितापी॥
विषय पतग्र पाई अकुरें। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥
राम कृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भीति बनइ संजोगा॥
सदगुरु बैद बचन विश्वासा। संजम यह न विषय कै आशा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥
जानिय तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाईं॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुरबलता गई॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥

४०५-११ से २६, ५०५-१ से ९

इसलिए यदि संसारी जीवों का किसी से वास्तविक कल्याण होता है तो वह इन सिद्ध जीवों से ही। ये लोग विकारहीन शुद्ध हृदय से जब बिना किसी स्वार्थ भावना को अथवा राजसी-तामसी प्रकृति को लिये हुए लोककल्याण में दत्तचित्त होते हैं, तब फिर जनता का इनसे वास्तविक कल्याण न होगा तो किनसे होगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि ब्रह्म तो समुद्र की तरह विशाल, गंभीर, अगम्य और अग्राह्य है। भक्त हृदय उसे कैसे अपना सकता है। असल में इन सिद्ध पुरुषों ने ही अपने ज्ञानरूपी मन्दर पर्वत से ऐसे समुद्र को मथकर वह भगवत्कथा-रूपी अमृत निकाला है, जिसमें भावुक-हृदय-संग्राह्य भक्तिरस का माधुर्य ओतप्रोत भरा हुआ है।[1] इस दृष्टि से वे इन सिद्धों को भगवान से भी अधिक बताते हुए कहते हैं :—

"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चन्दनतरु हरि सन्त समीरा॥"

५०३-३, ४

बात भी सच है। यद्यपि बादल अपना जल समुद्र से ही लाते हैं और मलयानिल अपनी सुगन्धि चन्दन वृक्ष से ही लाता है तथापि लोगों का प्रत्यक्ष उपकार तो बादलों से और मलयानिल से ही होता है। समुद्र और[2] चन्दन-तरु तक पहुँच कर ऐसे कितने हैं कि जो लाभ उठा सकते हैं। इसीलिए प्रत्यक्ष में तो राम की अपेक्षा रामदास का ही महत्त्व अधिक होना चाहिए।

रामदास अथवा हरिजन के इस महत्त्व पर गोस्वामी जी ने बहुत सुन्दर उक्तियाँ कही हैं।

---

१. ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़इ भगति मधुरता जाहि॥५०३।७, ८

२. कवि सम्प्रदाय का चन्दनतरु मलयाचल के किसी दुर्गम स्थान में रहता है।

"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥"
२४४-२२, २३

"मानंत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥"
२५५-२

आदि पंक्तियाँ लिखकर गोस्वामी जी ने स्पष्ट बता दिया है कि चाहे कोई भगवान् की ओर उपेक्षाभाव हो रख ले——नास्तिक हो बना रहे——परन्तु सिद्धों की ओर——सात्त्विक बुद्धिवाले निर्हेतुक परोपकारी सज्जनों की ओर, तो उसे श्रद्धा रखनी हो चाहिए। ऐसे सन्तों का तिरस्कार उन्हें किसी प्रकार सह्य नहीं।[1] इतना हो नहीं उन्होंने ऐसे सिद्धभक्तों की सेवा को भगवान् की सेवा से किसी प्रकार कम नहीं बताया है। वे कहते हैं——

"सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनुसत सरिस सोहाई॥"

वे ऐसे ही सज्जनों की सेवा और संगति में अखिल कल्याण के बीज पाते हैं। इसलिए संतसेवा और सत्संग की महिमा में वे कहते हैं——

संतसंग अपवर्ग कर कामी भवकर पंथ।
कहहिं सन्त कवि कोविद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥४५९-४, ५
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानव सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥४-१९,२०
सतसंगति मुदमंगलमूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥४-२२

परोपकारी सज्जनों की सेवा और संगति पर गोस्वामी जी ने इतना अधिक जोर दिया है और इन विषयों को कुछ इस ढंग से लिखा है कि उससे

**१. सन्त सम्भु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूंदि नत चलिय पराई॥
३५-१, २**

कौन दुर्जन है कौन सज्जन है यह जाने बिना त्याग और संग्रह[1] की बात ही कैसे बन सकती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने दुर्जनों और सज्जनों के वस्तुतः लक्षण बताये हैं। दुर्जनों की श्रेणी में उन्होंने विशेष रूप से दो प्रकार के लोगों का वर्णन किया है। एक तो हैं खल और दूसरे राक्षस। 'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी" (५०४-१) यही खलों की बड़ी सुन्दर परिभाषा है। गोस्वामी जी ने यत्र-तत्र इन खलों का विस्तृत वर्णन किया है। ये खल लोग जब अपनी खलता में इतने मंज जाते हैं कि फिर जीते जी उनका उद्धार प्रायः असंभव हो जाता है, तब ये ही लोग राक्षस कहाते हैं। राक्षसों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की परिभाषा देखिए—

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा॥
मानहिं मातु-पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। जे जानहु निसचर सम प्रानी॥
—२७-७-९

परद्रोही परदार रत परधन पर आपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद[2]॥४६१-१३, १४

जो राक्षसी वृत्ति से (१) सुख (२) सम्पत्ति (३) सुत (कामोपभोग द्वारा वंश विस्तार) (४) सैन्य (शासनबल) (५) सहाय (प्रभुत्व के लिये संगठन) (६) जय (७) प्रताप (८) बल (शक्ति) (९) बुद्धि (१०) बड़ाई (जयघोष कराने की आकांक्षा) इस तरह दशों दिशाओं में आधि-

---

१. तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥
६-११

२. संभव है कि गोस्वामीजी ने राक्षसों की भिन्न योनि की अमान्यता न प्रकट होने देने के लिए 'निसिचर सम" और "देह धरे मनुजाद" की बात कही है।

पत्य का प्रयत्न करता है, वह राक्षसराज दशमुख रावण की तरह है।[१] यदि कहीं ऐसा मनुष्य अपने प्रयत्न में कृतकार्य हुआ तो संसार में त्राहि-त्राहि मच जाती है।[२] उस समय किसी ऐसी विभूति (डिक्टेटर) का, सिद्धान्त विशेष का, किसी क्रान्ति का अथवा (किसी अवतार का) आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है, जो इन राक्षसों का दमन करके आर्य सज्जनों का पुनः संगठन कर दे। जगत् में सुव्यवस्था की स्थापना ही स्वाभाविक नियम है। अव्यवस्थित जगत् बहुत दिन तक टिक ही नहीं सकता। लोगों को सुव्यवस्था की ओर झुकाना ही पड़ता है। इसलिए दुर्जनों का प्राबल्य एक तो होता ही कम है और यदि हुआ भी तो वह चिरस्थायी नहीं होता। उनके सामूहिक प्राबल्य को तोड़ने का सबसे सीधा उपाय यह है कि उनसे "असहयोग" किया जाय—उनकी संगति से दूर रहा जाय—और सज्जनों का एक सुचारु संघटन कर लिया जाय। सज्जनता की मनःशक्ति ही कुछ इतनी जबरदस्त होती है कि दुर्जनों पर उनका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। और यदि सब आर्य सज्जनों का सुचारु (सुन्दर संघटन) हो गया तब फिर उस आर्य-समाज अथवा आर्य राष्ट्र की शक्ति और उसके प्रभाव का कहना ही क्या है। इस शक्ति का प्रभाव दुर्जनों पर पड़े बिना रह ही नहीं सकता। अपना ऐसा संघटन बनाये बिना प्रारम्भ से ही "बिनु स्वारथ पर अपकारी" लोगों से मिल कर चलने की रीति बरती जायगी तो न तो आर्यसंघटन ही हो सकेगा और न खल ही सुधर सकेंगे, वरन् उन खलों का प्रलय और भी अधिक बढ़ जायगा।

---

१. सुख सम्पति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।।
८५-५, ६

२. रावण राज्य के ऐसे वर्णन में कई लोग गोस्वामी जी के समय के यावनी साम्राज्य की ओर इशारा पाते हैं (देखिए 'मानस हंस')

दुर्जनों का सामूहिक सुधार का रास्ता तो ऊपर बता दिया गया। अब यदि कोई दुर्जन के व्यक्तिगत कल्याण के सम्बन्ध में पूछे तो गोस्वामी जी इस विषय में और भी अधिक स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि यदि दुर्जन को सत्संगति मिल जाय तो वह उसी प्रकार सुधर जाता है जैसे पारस का स्पर्श करके कुधातु[1]। परन्तु प्रश्न यह है कि सज्जन लोग दुर्जन को अपने पास फटकने ही क्यों देंगे? इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने दो सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। प्रथम तो वे कहते हैं :—

"विधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।"
(५-२)

फिर वे कहते हैं :—

"सुरसरि-जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे॥" ३७-७, ८

इन सूक्तियों का भाव यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समाज में सज्जनता का बल यदि उस दुर्जनता के बल से अधिक प्रबल है तो निश्चय ही सज्जनता के प्रभाव से वह दुर्जन प्रभावित हो उठेगा और इस प्रकार उसका सुधार हो जायेगा।

सज्जनों के विषय में गोस्वामी जी ने बहुत कुछ कहा है। पहिले सज्जन तो संत लोग हैं। उनकी गुणावली की पूरी सूची दी ही नहीं जा सकती। गोस्वामी जी स्वतः भगवान् रामचन्द्र के मुख से दो स्थानों पर यही विषय स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद स्रुति तेते॥"
(३२५-१८)

'सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगिनित स्रुति पुरान बिख्याता॥"
(४६०-१६)

---

१. सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥—५१

इन दोनों ही स्थलों पर सन्तों के लक्षणों की सूचियाँ भी दी गई हैं जो साधकों के लिये भलीभांति मनन करने योग्य हैं। इन सूचियों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी उन्होंने सन्तों के सम्बन्ध में सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं। कहीं उन्हें वे कथारूपी अमृत निकालने वाला देवता कहते हैं।[१] कहीं उन्हें संसार का सच्चा सेवक कहते हैं[२]। कहीं उनके उदय को वे जगत् के लिये सतत हितकारी बताते हैं[३]। कहीं उनके चरित्र को कपास के समान अनासक्त, विशद, गुणमय और दुख सहकर भी परछिद्र दुरानेवाला बताते हैं।[४] और कहीं उनके हृदय को नवनीत से भी अधिक कोमल कहकर उनकी परोपकारवृत्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।[५] गोस्वामी जी की सूचियों के अनुसार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो सच्चरित्र व्यक्ति है वही सन्त है, जो भगवद्भक्त है वही सन्त है, जो तत्त्व का यथार्थवेत्ता है वही सन्त है और जो करुणापूर्ण होकर परोकार में रत रहता है वही सन्त है। जो वास्तविक सन्त है वह चाहे कुवेशधारी ही क्यों न हो उसका सम्मान होता ही है और होना भी उचित है। परन्तु जो केवल ',भेख धारी'' 'सन्त' है––वष्णव वैरागी साधू आदि का भेष धर कर ही घूम रहा है––वह भी सम्मान के योग्य है क्योंकि आखिर वह भी हिन्दूसमाज का एक अङ्ग ही तो है। न तो सब भेषधारी बुरे ही होते हैं और न सब अच्छे ही। दुर्जनता और सज्जनता की पहचान ही अलग है। फिर 'भेख' जिसका प्रचार आत्मकल्याण और लोकसेवा की दृष्टि ही से किया गया था––क्यों निन्दनीय मान लिया जाय। जो ढोंगी लोग वेषधारी होंगे उनका भण्डा-फोड़ करना अलग बात है और वेष के विरुद्ध ही क्रान्ति मचाना अलग बात

---

१. ५०२-७, ८

२. ५०७-६

३. ५०४-४

४. ४-४, ५

५. ५०७-७,८

है। गोस्वामी जी अपने समाज-पुरुष के अङ्गों को अनावश्यक रूप से छिन्न-भिन्न कर देने के पक्षपाती नहीं थे इसलिए पहिले प्रकार के सज्जनों में उन्होंने सब साम्प्रदायिक साधु सन्तों को भी समेट लिया है[१]।

दूसरे प्रकार के सज्जन हैं ब्राह्मण लोग। गोस्वामी जी ने इन्हें केवल सन्त ही नहीं वरन् अनन्त के समान कहा है और इनके अपमान को सर्वथा निन्दनीय माना है[२]। गोस्वामी जी ने ब्राह्मणों को जो यह महत्त्व दिया है उसके कई कारण हैं। पहिली बात तो यह है कि ब्राह्मण ही आर्य-संस्कृति के प्रकृत संरक्षक थे। इसीलिए गोस्वामी जी ने "द्विजपदप्रीति" को "धर्मजनयित्री" बताया है[३]। दूसरी बात यह है कि वे संस्कारजन्य तपोबल के कारण "बरियार" समझे जाते थे[४]। इस तपस्या के कारण उनका सात्त्विक मनोबल अवश्य प्रभावोत्पादक होना चाहिए। तीसरी बात यह है कि ब्राह्मणों की ओर सनातनी हिन्दुओं में संस्कारजन्य श्रद्धा रहती चली आयी है इसलिए कल्याण मार्ग में अग्रसर होने के लिए वह श्रद्धा बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है।

मैक्फ़ी सदृश कई विद्वानों ने गोस्वामी जी के ब्राह्मण सम्मान को पक्षपातपूर्ण अतएव दूषित माना है।[५] इसलिए गोस्वामी जी की विप्रपूजा के समर्थन में कुछ विस्तृत विवेचन कर देना उचित जान पड़ता है।

---

१. लखि सुवेषु जगबंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजियत तेऊ।।
उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू।।
किएहु कुवेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवन्त हनुमानू।।
७-५ से ७

२. अब जनि करहि विप्र अपमना। जानेसु सन्त अनन्त समाना।।
४४–१७

३. द्विजपद प्रीति धरमजनयित्री—४०६-२६

४. तपबल बिप्र सदा बरियारा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा। ७०-२

५. देखिए "दि रामायण आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दर्न इण्डिया।"

जिस समय गोस्वामी जी इस संसार में वर्तमान थे उस समय वैरागी और सन्त नामधारी लोग मनमाने पन्थ निकालते चले जा रहे थे और श्रुतिरीति का सम्यक्‌ज्ञान न रखने के कारण या तो कट्टरता के या यावनी संस्कृति के प्रवाह में बहते चले जा रहे थे। इधर श्रुतिसम्मत धर्म वंशपरम्परागत संस्कारों के कारण विप्रकुल में (ब्राह्मण कुटुम्बों में) ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से परिपालित होता चला आ रहा था। इसीलिए "ब्राह्मण" और "वैष्णव" (पन्थवाले) लोगों के बीच एक विरोध सा उपस्थित हो गया था। "सन्त" लोग "विप्रों" का अनादर करते थे और "विप्र" लोग "सन्तों" का। गोस्वामी जी अपने सङ्गठन के लिए दोनों को आवश्यक अङ्ग मानते थे। इसलिए जहाँ उन्होंने सन्त-सेवा को इतना महत्त्व दिया वहाँ ब्राह्मण-सेवा को भी सन्त-सेवा के बराबर गौरव दिया।

जिस समय गोस्वामी जी वर्तमान थे उस समय मुद्रणकला के न होने के कारण एक तो पुस्तकें ही बहुत कम रहा करती थीं और फ़िर जो थी भी वे पाखण्ड विवाद के भय से ब्राह्मणों के पास छिपी पड़ी रहती थीं। यदि मिलती भी थीं तो संस्कृत में होने के कारण दुरूह हो गई थीं और यदि कोई संस्कृत पढ़कर उन्हें समझ भी लेता था तो परस्पर-विरुद्ध वाक्यों और सिद्धान्तों के चक्कर में पड़कर वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ बन जाता था। भारतवर्ष की जनता के लिए गोस्वामी जी श्रुतिसम्मत धर्म ही को अत्यन्त उपयोगी मानते थे। इसलिए उस धर्मतत्त्व को समझने के हेतु गोस्वामी जी के मत में ब्राह्मण सेवा ही एकमात्र सरल उपाय था।

भगवान् की ओर श्रद्धापूर्ण सेवा तभी अच्छी तरह हो सकती है जब ऐसी श्रद्धापूर्ण सेवा का पाठ इस संसार ही में सीख लिया जाय। विभिन्न पंथानुयायी सन्त लोग तो "कल की चीज़" थे। एकमात्र ब्राह्मण ही ऐसे थे जो 'भूमिसुर' कहाकर चिरकाल से श्रद्धा के पात्र बने हुए थे। इसलिए

---

१. जिमि पाखण्ड विवाद ते गुप्त होहिं सदग्रन्थ—३३५-३

विप्रों की श्रद्धापूर्ण सेवा ही को गोस्वामी जी ने भगवत्सेवा का प्रथम सोपान कहा है[१]।

भेखधारी सन्तों से श्रुतिसम्मत पथ जानने की आशा नहीं। सच्चे सन्त मिलना आसान नहीं। गुरु मिलना और भी कठिन है। ब्राह्मण सर्वत्र सुलभ हैं। इसलिए श्रुतिसम्मत हरिभक्ति के लिए आवश्यकी श्रद्धा का पाठ पढ़ने के हेतु यदि गोस्वामी जी ने लोगों को ब्राह्मण सम्मान की ओर प्रेरित किया तो क्या बुरा किया।

गोस्वामी जी जिस तरह सन्तों के "भेख" को भी सम्मान्य मानते हैं उसी तरह ब्राह्मण के कुल को (जन्म के ब्राह्मण को) भी सम्मान्य मानते हैं। भेख तो ऊपरी बात है परन्तु कुल के साथ तो वंशपरम्परा के संस्कारों का अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिए भेखधारी जीवों का चाहे विशिष्ट परि-स्थितियों में तिरस्कार भी कर दिया जाय परन्तु कुलपरम्परागत ब्राह्मण पूज्य ही है चाहे वह शीलगुणहीन भी क्यों न हो[२]। उसमें वंशपरम्परा के कुछ न कुछ सात्त्विक गुण और कुछ न कुछ आर्य संस्कार रहते ही हैं। इसी लिए गोस्वामी जी ने इनकी महिमा गायी है।

सनातन धर्म को लोग ब्राह्मण धर्म कहा करते हैं क्योंकि उसका प्रवर्त्तन ब्राह्मणों द्वारा ही हुआ है। शास्त्र मर्य्यादा के अनुसार अपने-अपने धर्म में रत रहना ही प्रत्येक सनातनी हिन्दू का कर्त्तव्य है। इस शास्त्र-मर्य्यादा का ज्ञान हमें ब्राह्मणों के द्वारा ही होता है। गोस्वामी जी के जीवन काल में ब्राह्मणविरोध बढ़ चला था और लोग आँख दिखा दिखाकर कहने लग गये थे कि जो वेद जाने वही ब्राह्मण है, कुछ जन्म से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता[३]। भारतवासियों को जिन ब्राह्मणों का ऋणी होना चाहिए

---

१. **प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती। निज निज करम निरत स्रुति रीती** **३०८-९**

२. **पूजिय बिप्र सीलगुनहीना। ३१९-२३**

३. **वार्दाहं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कुछ घाटि।**
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहि डाँटि॥ ४८८-१४, १५

था उनके प्रति ऐसे अश्रद्धा के भाव गोस्वामी जी के समान विचारशील सज्जन कहाँ सह सकते थे। इसीलिए उन्होंने इतनी अधिक ब्राह्मण भक्ति दिखाई।

ब्राह्मणों के ऊपर लांछन लगाया जाता है तो यही कि उन्होंने समाज में वैषम्य की सृष्टि कर दी है और अपने को आवश्यकता से अधिक पुजाया है। जो धर्मतत्त्व को समझनेवाले हैं वे जानते हैं कि समाज की प्रवृत्तियों में न तो केवल साम्य ही रहता है और न केवल वैषम्य ही। ब्राह्मणों ने संग्रह, त्याग, प्रभुत्व और सेवा की मूल प्रवृत्तियों के वैषम्य की रक्षा को समाज के लिए लाभदायक मान कर वर्णधर्म का संस्थापन किया और इन चारों प्रवृत्तियों के अनुसार क्रमशः वैश्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र की चर्चा की। परन्तु वे इस वैषम्य को दृढ़ करके ही नहीं रह गये। उन्होंने समाज की प्रवृत्तियों के साम्य की ओर भी विचार करके आश्रमधर्म की संस्थापना की जिससे आर्यजाति के सभी लोग ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार धर्मतत्त्ववेत्ता लोग यह भी जानते हैं कि धर्मशास्त्र की व्यवस्था देने वाले ब्राह्मण ने अपने निर्वाह के लिए भिक्षा-वृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन ही नहीं रखा। तप और त्याग का कष्टमय जीवन बिताकर लोककल्याण का मार्ग सुझाने का भार स्वतः अपने ऊपर लेने वाला ब्राह्मण यदि इस संसार में सर्वतोधिक पूज्य समझा जाने लगा तो उसमें उस ब्राह्मण का क्या दोष ? इतना होते हुए भी यह मानना ही पड़ेगा कि कुछ ब्राह्मणों ने अनेकानेक अनार्य जातियों के सम्मिश्रण को भयावह समझकर आर्य द्विजातियों की पवित्रतारक्षा के उद्देश्य से आश्रम धर्म में भी ऐसे अड़ङ्गे लगाये, जिनके कारण शूद्र लोग——अनार्य जातियों के अधिकांश लोग——द्विजों के समान वेदाध्ययन निरत ब्रह्मचारी न बनने पाये और संन्यास न लेने पाये। साथ ही उन्होंने स्थान-स्थान पर धार्मिक विधानों में ब्राह्मणों की इतनी आवश्यकता रख दी कि अपढ़ ब्राह्मण अपने को पुजाने का पेशा-सा खोल बैठे। गोस्वामी जी ने इस विषय का भलीभांति अनुभव किया था। इसलिए उन्होंने इन दोनों दोषों को मेटने का

भरपूर प्रयत्न किया है। परन्तु वह प्रयत्न इस खूबी के साथ है कि ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्वेष की आग किसी भी स्थल में नहीं भड़कने पायी है।

पहिले लांछन के परिहार के लिए--अर्थात् साम्यसंस्थापन के लिए, उनके भक्तिपथ का माहात्म्य देखा जावे। भगवान् के आगे ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री, शूद्र सब बराबर हैं। उनकी तो घोषणा है कि "मानहुँ एक भगति कर नाता" (३२०-९)। भगवान् का नाम लेते ही नीचातिनीच भी परम पावन हो जाता है[1]। फिर ऊँच नीच, स्पृश्य अस्पृश्य की बात ही कहाँ रही। इस एक ही प्रहार से गोस्वामी जी ने अवांछनीय वैषम्य की जड़ काट दी है। वशिष्ठ के समान ब्राह्मणसत्तम और निषादराज गुह के समान निपट अनार्य का जब मेल हुआ है, गोस्वामी जी के उस समय के उद्‌गार देखिए। केवट से जिस प्रकार वशिष्ठ और भरत आदि मिले हैं वह दृश्य देखिए। बानर भालु कहाने वाले जङ्गली जीवों की किस प्रकार इज्जत की गई है इसका ख्याल कीजिए। तब विदित होगा कि गोस्वामी जी ने अपने "भक्त" में किस प्रकार "सन्त" और "ब्राह्मण" दोनों का सामञ्जस्य और सहयोग कराकर ब्राह्मणत्व के मस्तक से प्रथम लांछन मिटा दिया है। गोस्वामी जी ब्राह्मणपूजक होते हुए भी हरिजन उत्थान के प्रबल समर्थक थे। उनके काकभुशुंडि ही शूद्र योनि में भी हरमन्दिर तक पहुँच कर जप किया करते थे और मंत्र दीक्षित बन सकते थे[2]। उनकी शबरी मर्यादा पुरुषोत्तम का भी आतिथ्य कर सकती थी। उनके "अस्पृश्य" अत्यंज को भी

---

१. स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥२४५-१८, १९

२. तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भयेउ सूद्र तनु पाई॥
४८७-३

...एक बार हरमन्दिर जपत रहेउँ शिव नाम। ४९२-२७

द्विजाति-श्रेष्ठ लोग इस प्रेम से गाढ़ालिंगन करते थे मानों कोई जमीन में बिखरते हुए स्नेह को समेट कर छाती से चिपका रहा हो[१]।

दूसरे लांछन के परिहार के लिए उन्होंने स्थलों-स्थलों पर ऐसे वाक्य कहे हैं जो ब्राह्मणों का अहंकार तोड़ने के लिए पर्याप्त हैं। "सोचिय विप्र जो वेदविहीना। तजि निज धरम विषय लय लीना।।" (२३६-२५) "द्विज स्नुति वेचक भूप प्रजासन" ४८७-१६ सरीखे वाक्य रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर पाये जा सकते हैं। फिर, यदि ब्राह्मण अत्याचारी हुआ—दुर्जन हुआ—तब तो वह निःसंदेह त्याज्य है, क्योंकि गोस्वामी जी ने सभी प्रकार के दुर्जनों के त्याग की बात कही है और यह कहीं नहीं कहा है कि ब्राह्मण यदि दुर्जन और अत्याचारी हो तब भी पूज्य है। साथ ही "पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सव मानयहि राम के नाते" (१९८-२२) और "जरउ सो सम्पति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ।" (२४२-६, ७) वाले नियम के अनुसार तो भक्तिहीन ब्राह्मण (स्मरण रहे कि लोकसेवा भक्ति का एक प्रधान अंग है) न केवल अपूज्य है वरन् भस्म हो जाने योग्य है।

लांछनों का परिहार अवश्य किया जाय परन्तु कुछ लोगों के ऐसे दोषों को देखकर ब्राह्मणमात्र के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करा दी जाय यह नितान्त अनुचित था। इसीलिए गोस्वामी जी ने पूर्व परम्परा की रक्षा करते हुए ब्राह्मणों को मान दिया है।[२]

---

१. रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा।।
२६४-१५

२. महाभारत में लिखा है—

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।
जायतां, ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः।।
म० अ० ३४-३

तीसरे प्रकार के सज्जन हैं अपने पूज्य कुटुम्बी और अपने इष्टमित्र। गोस्वामी जी कहते हैं :—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनमु जग जाय।
१९७।१०

उनका तो यहाँ तक कहना है कि पूज्य कुटुम्बियों के आदेशों के औचित्य और अनौचित्य पर तर्क करना ही एक पातक की बात है।[1] वे "मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी।" (४०-७) का आदेश देते हुए "पितु आयसु सब धरम कै टीका" (१९१-१६) तक कह देते हैं। परन्तु पूज्यत्व के सम्बन्ध में गोस्वामी जी की वह कसौटी न भूलनी चाहिए जो ब्राह्मणों के प्रकरण में ऊपर बताई गई है। इसी कसौटी पर कसकर कदाचित् मीरा-बाई को उन्होंने यह सिद्धान्त लिख भेजा था कि—

"जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

वृहद्धर्म पुराण में आया है—
ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपः क्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥
(उत्तरखंड २-४४)

मनुस्मृति में आया है—
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
मनु० ९-३१७

१. गुरु पितु मातु स्वामी हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी।
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥
२३९-१,२

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत व्रजवनितनि, भये सब मंगलकारी ।।"
[विनय० १७४ वां पद]

गोस्वामी जी जानते थे कि युवक-मण्डली ही बहुधा क्रान्तिकारी बिचारों वाली अथवा नई रोशनी वाली हुआ करती है। जब कि उन्हें हिन्दू धर्म का संगठन अभीष्ट था तब पूर्वजों के प्रति श्रद्धा के भाव को दृढ़ करना भी आवश्यक था। यह श्रद्धा ऐसे ही पूर्वजों की ओर हो जो श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ के अनुयायी हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने इस सम्बन्ध में सामान्य और विशेष नियम दोनों बताकर युवकों को अनावश्यक क्रांति के बदले सच्चे समन्वयपूर्ण आर्यधर्म का मार्ग दिखा दिया।

इष्टमित्र ही बहुधा निर्हेतुक रूप से परोपकारी हुआ करते हैं इसलिए "श्रुति कह सन्त मित्र गुन एहा" (३३१-६) कहते हुए गोस्वामी जी ने भगवान् के मुख से मित्रों का माहात्म्य सन्तों की बराबरी का दिखा दिया है।

अपने पूज्य सज्जनों की श्रेणी में अपने सद्गुरु का भी समावेश हो जाता है। गोस्वामी जी के मत में गुरु ही सर्वश्रेष्ठ सज्जन है क्योंकि उसके बिना कोई भी मनुष्य चाहे वह ब्रह्मा और शंकर के समान ही क्यों न हो भव सागर से पार नहीं हो सकता[1]। गोस्वामी जी का कहना है कि जो शिष्य के संशय, भ्रम और शोक को हर सके वही सच्चा गुरु है[2]। यह काम वही कर सकता है जिसमें सदाचार, सद्विचार और सद्भाव पूरी मात्रा में विद्यमान हों। वह कृपा का समुद्र रहता है और उसे मनुष्य के रूप में साक्षात् ईश्वर

---

१. गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।
४८५-७

२. सद्गुरु मिले ते जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाय। ३३६-१४
हरइ सिस्यधन सोक न हरई सो गुरु घोर नरक महँ परई ।।४८८-१
बन्दउँ गुरु पद कञ्ज कृपासिन्धु नररूप हरि।३-११

ही समझना चाहिए। दूसरे सन्त तो जीवों को अपना सामान्य प्रभाव ही प्रदान करते हैं परन्तु गुरु अपनी विशेष शक्ति प्रदान करके शिष्य के कल्याण साधन का मार्ग विस्तृत करता है। इसलिए आचार्यों ने उसकी इतनी महिमा गाई है।

आजकल लोग "गुरु" पर भी बहुत व्यंगप्रहार करने लगे हैं। इसलिए इस विषय को भी कुछ अधिक स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा। साधुमत में गुरुशब्द से अक्सर दीक्षागुरु का ही अर्थ लिया जाता है। लोकमत में मार्गप्रदर्शक नेता अथवा व्यवस्थापक को हम अकसर गुरु कह दिया करते हैं। गुरु केवल जीवित व्यक्ति ही हो यह बात नहीं है। अतीत काल के किसी सन्त, आचार्य या महापुरुष को गुरु मानकर कई लोगों ने अपना कल्याण साधन किया है। देवकोटि के किसी आराध्य को गुरु मानकर बहुतों ने सिद्धि प्राप्त की है। दत्तात्रेय के समान कई लोगों ने संसार की सामान्य वस्तुओं से भी उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरुरूप माना है। सबसे बड़ा गुरु तो अपनी ही आत्मा है।

जिस प्रकार आयुर्वेद के ग्रन्थ पढ़ लेने मात्र से कोई अपना शारीरिक कष्ट दूर कर लेने में समर्थ नहीं हो जाता उसी प्रकार कल्याणमार्ग के ग्रन्थ पढ़ लेने मात्र से अथवा मंत्रमहोदधि सरीखे विशाल ग्रन्थों के पन्ने उलट लेने मात्र से कोई अपने मानसरोगों से मुक्ति नहीं पा जाता। यदि वह स्वतः प्रयत्नशील हुआ तो समझिए उसकी आत्मा ही उसके लिए वैद्य अथवा गुरु का काम कर रही है। यदि स्वतः का प्रयत्न पर्याप्त न हुआ, और अकसर स्वतः का प्रयत्न पर्याप्त होता भी नहीं है, तब तो वैद्य अथवा सद्गुरु की आवश्यकता रहती ही है। जिस प्रकार वैद्य रोगी को पहिचानकर उसके उपयुक्त ओषधि उपयुक्त मात्रा में उपयुक्त अनुपानों के साथ देता है और रोगी को अपने निरीक्षण में रखकर आरोग्य की प्रगति देखता हुआ रोगमुक्ति करा देता है उसी प्रकार गुरु भी शिष्य की मानसिक स्थिति का पर्याप्त निरीक्षण करके उसके लिए उपयुक्त मन्त्र को, उपयुक्त साधना के साथ, व्यवस्था करता है और शिष्य की मानसिक प्रगति का निरीक्षण करता हुआ मानस-

रोगों से उसे मुक्ति दिला देता है। इतना ही नहीं वह शिष्य की क्रियाशक्ति में अपनी भी मनःशक्ति का योग देता है जिससे शिष्य का हृदय अनेक गुण अधिक बलवान होकर अपना कल्याण साधन कर सकता है। इसीलिए गुरु की इतनी महिमा है।

जिस मनुष्य को जो मंत्र सिद्ध हो गया वही उस मंत्र का गुरु अथवा ऋषि कहाता है। सिद्धमंत्र ही शिष्यों के लिए विशेष लाभदायक है। मंत्र यदि सिद्ध गुरु के द्वारा प्रदत्त होंगे तो निश्चय ही गुरु की सद्भावना, सदिच्छा और सत्प्रयत्न के कारण शिष्य उन्हें शीघ्र ही सिद्ध कर सकेगा। परन्तु सब मंत्र सब किसी को सिद्ध नहीं हो सकते। जो मंत्र शरीरसम्पत्ति (कष्टसहिष्णुता आदि) मन: सम्पत्ति (निश्चय की दृढ़ता आदि) और हृदय की प्रवृत्ति (निर्गुण की ओर प्रवृत्ति, सगुण की ओर प्रवृत्ति, शिव-विग्रह पर विशेष रुचि अथवा रामविग्रह पर विशेष रुचि आदि) के सर्वथा अनुकूल होगा वही सुगमता से सिद्ध हो सकेगा। इसीलिए शास्त्रों में लिखा है कि गुरु पहिले कम से कम एक साल तक तो शिष्य की स्थितिगति का निरीक्षण करता रहे फिर उसके ग्रह, राशि, नक्षत्र आदि तक का भी पूर्ण विचार करके उसे उपयुक्त मंत्र दे।

आजकल ऐसे ही लोग अकसर "गुरु" पद पर प्रतिष्ठित देखे जाते हैं, जो शिष्यों का शोक हरने के बदले उनकी "दक्षिणा" हरने की ओर ही रुचि रखते हैं। वे हर किसी का कान फूंकने के लिए हर वक्त तैयार रहते हैं। गोस्वामी जी ने ऐसे गुरुनामधारी जीवों को घोर नारकी कहा है।[1] जो घोर नारकी है वह निश्चय ही सर्वथा त्याज्य है। लोग ऐसे गुरुओं को भले ही त्याग दें परन्तु इनके कारण "गुरु" पद ही की तो अप्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। इसलिए गोस्वामी जी ने गुरु की महिमा गाई है। हमने पहिले ही कह दिया है कि वे क्रान्ति के मार्ग से समाज का संस्कार अथवा उद्धार नहीं करना चाहते थे इसलिए रद्दी गुरुओं की अधिकता देखते हुए भी उन्होंने

---

१. हरइ सिष्यधन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई॥ ४८८-१

गुरुवाद का तिरस्कार नहीं किया। हाँ, उन्होंने इतना अवश्य कर दिया है कि "राम" नाम सदृश महामंत्र प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रत्येक समय में सुलभ हो जावे। जब गोस्वामी जी के समान पहुँचे हुए सिद्ध महापुरुष ऐसा महामंत्र दे रहे हैं तब फिर लोक में दीक्षागुरु ढूँढ़ने की आवश्यकता ही क्या है ? रामचरितमानस उन्हीं का जीवित रूप है। हम अपने जीवन की हर एक पहेली की सुलझन उसमें पा सकते हैं। साधना में कहीं भी संकट आते ही रामचरित मानस के पन्ने उलट कर देख लिये जावें। समाधान मिल जायगा और यही जान पड़ने लगेगा मानों गोस्वामी जी स्वतः गुरुरूप से उत्तर समझा कर शिष्य की हृदयग्रंथि का भेदन कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने रामचरितमानस को भगवान् राम का ही शरीर बना छोड़ा है। "रामायण श्रीरामतनु" का कथन सर्वथा यथार्थ है। इसका आरम्भ उस दिन, घड़ी, नक्षत्र आदि में तो हुआ ही है जिस दिन, घड़ी, नक्षत्र आदि में भगवान् राम का जन्म हुआ था साथ ही इस वाङमय तनु ने कई साधकों के हृदयों के मोहरूपी रावण को मारकर धर्मसंस्थापन का कार्य कर भी दिखाया है। तब भगवान् राम के इस वाङमय तनु से निःसृत महामन्त्र की दीक्षा जब गोस्वामी जी की कृपा से सर्वजन सुलभ हो गई है तब गुरु की खोज में इधर-उधर भटकना बेकार है। ढोंगी गुरु से बचने की ऐसी सुन्दर व्यवस्था सामने रखकर ही गोस्वामी जी ने सद्गुरु की महिमा में प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है।

गुरु पुकार कर नहीं कहता कि हम गुरु हैं हमसे कान फुँकाओ। सत्सङ्गी मनुष्य जिस सन्त से—जिस भक्त से—जिस ब्राह्मण से—जिस अतीत महापुरुष के वचनामृत से—जिस देव पुरुष के सिद्धान्तों से—परम शान्ति लाभ करता है उसे गुरुरूप में स्वीकार करने के लिए आप ही आप तैयार हो जाता है। ऐसे सज्जन के लिए उसकी श्रद्धा आप ही आप निर्बाध बढ़ चलती है। उसकी गुरुभक्ति ही उसके लिए ईश्वरभक्ति का प्रधान साधन बन जाती है। ऐसी साधना के लिए यह आवश्यक है कि वह गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर ही न समझे। "गुरु देव परब्रह्म" का तत्त्व ही उसे परम फल-

दायक बन सकता है। इतना ही नहीं, कई साधकों ने तो गोविन्द से भी ऊँचा दर्जा सद्गुरु को दिया है[1]। गुरु की इतनी ऊँची महिमा को समझने वाले अनेक सज्जन इसीलिए किसी मनुष्य को अपना गुरु मानने से बहुत हिचका करते हैं। उनके मत में सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा और कोई गुरुपदवाची हो ही नहीं सकता[2]।

अपने ही को अपना गुरु मानना है तो आसान परन्तु संकीर्ण बुद्धि वाले सामान्य जीव के लिए यह सिद्धान्त खतरे से खाली नहीं है क्योंकि एक तो सद्विवेक द्वारा अपने ही भीतर से बोधमय सिद्धान्त प्राप्त करने की ओर उसकी प्रेरणा ही प्रबल नहीं रहती और यदि रही भी तो यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि जो सिद्धान्त उसने निकाले हैं अथवा जो रास्ता उसने पकड़ा है वह वास्तव में निःभ्रान्त है। मनुष्य अपनी गलतियाँ मुश्किल से पकड़ पाता है। इसलिए अपने से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति ही बहुधा गुरु बनाया जाता है। यदि वह व्यक्ति जीवित हो तो उसको मनुष्यता के कारण उससे प्रमाद हो जाना भी सम्भव हो रहा करता है यदि प्रमाद न भी हो तो शिष्य की दृष्टि में वह प्रमाद जान भी पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में शिष्य का "द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध कि द्वैत कि बिनु अज्ञान" (४९६-२१) सरीखी श्रद्धा विघातक बातें सोचना स्वाभाविक है। अतीत के महापुरुषों के विषय में यह बात बहुत कम हो सकती है क्योंकि वे लोग अपने प्रमाद तो अपने साथ ही ले जाते हैं केवल अपने सत्सिद्धान्त ही हम लोगों के लिए छोड़ जाते हैं। इसीलिए सच्चे साधुमत और लोकमत दोनों सिद्धान्त वालों ने, ज़माना देखते हुए, जीवित मनुष्यों के प्रति गुरुभाव की पूर्ण आस्था रखने में बहुत कम आग्रह दिखाया है।

---

१. **गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पायँ।**
बलिहारी उन गुरु की (जिन) गोविन्द दिया बताय॥ कबीर

२. **धर्मपथ—प्रभु बड़े या गुरु—पृष्ठ ४४**

यद्यपि कसौटी पर खरा उतरने वाला गुरु इस संसार में दुर्लभ है तथापि पथ प्रदर्शक लोगों की अब भी कमी नहीं है। उन्हें ही सापेक्ष दृष्टि से (अंश रूप से) हम गुरु मानकर अपनी साधना में अग्रसर हो सकते हैं। यदि हम ऐसा कोई भी व्यक्ति अपने सामने न रखेंगे और "मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा" (४८७-१९) वाले कलियुगी न्याय से 'गुरु' शब्द से ही चिढ़कर ऐसे सभी व्यक्तियों की पूज्यता पर कुठाराघात करने लगेंगे तो न तो हम साधुमत के ही साधक बन सकेंगे न लोकमत के ही। विशिष्ट सज्जनों की बात अलग है परन्तु सामान्य लोगों के लिये तो पथप्रदर्शक की आकांक्षा रखना और उसके प्रति श्रद्धा रखना अनिवार्य है। राष्ट्रीय नेताओं की पूजा गुरुपूजा का ही एक सामान्य रूप है।

चौथे प्रकार के सज्जन हैं भक्त लोग। वास्तव में इन्हें तो सज्जनों का पर्याय ही समझना चाहिए क्योंकि भक्तों की कोटि के भीतर ही प्रथम तीनों प्रकार के सज्जनों का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्तों की महिमा में तो जो कुछ कहा जाय थोड़ा ही है। "राम तें अधिक राम कर दासा" वाली बात वास्तव में भक्तों ही के लिये है। गोस्वामी जी ने अनेक स्थलों पर भक्तों की महिमा गाई और भक्तों के लक्षण बताए हैं। भक्तों के जिन विशिष्ट गुणों का गोस्वामी जी ने दो स्थलों में उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं :—

जो नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोहीं॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कइ ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरसु सोकु भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्राण समान मम जिन्ह के द्विजपद प्रेम॥ ३६५-४से१२

इस प्रकरण में प्रथम दो पंक्तियाँ निकृष्ट अथवा कर्ममार्गी भक्त के लिए, बाद की चार पंक्तियाँ मध्यम अथवा ज्ञानमार्गी भक्त के लिए और अन्त का दोहा उत्तम अथवा उपासनामार्गी भक्त के लिए हैं।[१] इन पंक्तियों में जिन गुणों का उल्लेख हुआ है वे हैं :—(१) निश्छल शरणागति (२) सर्वात्मा की ओर अनुराग (ममतात्याग) (३) समदर्शिता (४) निरीहता (५) निर्द्वन्द्वावस्था (६) सगुणोपासना पर रुचि (७) परहितव्रत (८) धर्मनीति में स्थैर्य और (९) ब्राह्मणभक्ति

बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपबर्गा।
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥
मम गुनग्रास नाम रत गत ममता मदमोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानन्द सन्दोह॥४६३-२७
४६४-१ से ५

इस प्रकरण में जिन गुणों का उल्लेख हुआ है वे हैं :—(१) निर्वैरत्व (२) आशाहीनता (निराशिता) (३) अभयत्व (४) अनारंभता (कार्यारम्भ अहंकारहीनता) (५) अनिकेतना (संसार की बस्ती में अपनी आसक्ति न रखना) (६) अमानिता (७) अनघता (८) अरोषता (९) दक्षता (१०) विज्ञान (अनुभवपूर्णता) (११) सत्सङ्ग (१२) परम वैराग्य (१३) भक्तिपथ पर एकान्तनिष्ठा (१४) सरलता (१५) अदुराग्रह (१६) जप कीर्तन प्रेम और (१७) निर्विकारिता[२]

---

१. देखिए "मानस पीयूष" सुन्दरकाण्ड पृष्ठ ३९९

२. इन दोनों प्रकरणों में गीता के अनेक श्लोकों का सार आ गया है। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक देखिए—

इन गुणों के अतिरिक्त गोस्वामी जी ने चौदह प्रकार के भक्तों की चर्चा में (यह चर्चा वाल्मीकि जी ने श्रीरामचन्द्र जी को निवास योग्य भवन बताते समय की थी) कुछ और गुणों का भी उल्लेख किया है।

यह नहीं कहा जा सकता कि भक्तों में इतने ही गुण रहते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये सब गुण एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सन्तों के जिन गुणों का पहिले उल्लेख हो चुका है उनसे ये गुण किसी प्रकार पृथक हैं। हम तो समझते हैं कि जिस प्रकार सन्तों के अनन्त लक्षण मानते हुए भी गोस्वामी जी ने बानगी के तौर पर कुछ लक्षण लिख दिये हैं उसी प्रकार उन्होंने भक्तों के विषय में भी किया है। उनके दिये हुए लक्षणों पर विचार करने से (१) विवेक (२) वैराग्य (३) भगवत्प्रेम और (४) परोपकार ही वे प्रधान लक्षण जान पड़ते हैं जिनके भीतर शेष सब लक्षणों और गुणों का समावेश हो जाता है।

रामचरितमानस में भगवान् और उनके भक्तों की चर्चा तो है ही। इसलिए भक्तों के विषय में हमें स्थल-स्थल पर इस ग्रन्थरत्न में बड़ी सुन्दर सूक्तियाँ मिल सकती हैं। क्या उनकी नम्रता और प्रतीति क्या उनकी अनन्यता, क्या उनकी भगवद् विषयक आसक्ति क्या उनका त्याग और क्या जगद्बन्धुत्व, क्या उनकी शक्ति—जिस विषय में देखिए उसी विषय

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ गीता ९-३०
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत॥गीता १८-६२
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः॥
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ गीता १२-१५
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥गीता १२-१६
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥गीता १२-१९

में सुन्दर वाक्य मिल जावेंगे। उनके सेव्यसेवक भाव से सम्बन्ध रखने वाली जिन प्रधान भावनाओं का विस्तृत उल्लेख गोस्वामी जी ने अपने मानस में किया है वे इस प्रकार हैं :—

(१) भक्त के मन में निर्गुण की अपेक्षा सगुण (मूर्तिमान् परमात्मा) की ओर विशेष रति रहती हैं।

(२) आराध्य को सुखी देखना ही भक्त की एकमात्र इच्छा रहती है।

(३) जो वस्तु आराध्य के काम आई वह धन्य है और जो आराध्य के काम न आई वह व्यर्थ है।

(४) आराध्य के दर्शन पाकर ही भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। सान्निध्य बना रहा तब तो कहना ही क्या। और यदि वह दर्शनप्रद सान्निध्य अन्तकाल के समय भी बना रहे तब तो फिर उस आनन्द की बात ही न पूछिए।

(५) यदि आराध्य के चरणकमल, वरदहस्त, प्रेमपूर्ण भाव आदि मिल गए तब तो फिर समझिए कि कृतकृत्यता ही हो गई।

(६) वे भेदभक्ति के आनन्द के लिए अविनाशी जीव बना रहना ही पसन्द करते हैं और इसीलिए मुक्ति की इच्छा नहीं करते।

(७) वे भक्ति के आनन्द के लिए ही भक्ति करते हैं। यदि वे "भवभीर" भंजन कराना चाहते हैं तो केवल इसीलिए कि अविद्या के विनाश के अनन्तर उन्हें भक्ति का निर्बाध आनन्द मिलेगा। सन्तों से अथवा परमात्मा से वे इसके अतिरिक्त और कोई याचना ही नहीं करते।

इन विषयों पर गोस्वामी जी ने इतना अधिक लिखा है कि सामान्य पाठक भी सरलतापूर्वक इस सम्बन्ध की पंक्तियाँ खोज सकते हैं। प्रमाण के लिए उनमें से कुछ पंक्तियाँ भी देना निबन्ध की अनावश्यक कलेवर वृद्धि करना ही होगा।

इस परिच्छेद में हमने पहिले त्रिविध जीवों का दिग्दर्शन कराया फिर दुर्जनों और सज्जनों की चर्चा की। अब अन्त में अन्य कुछ जीवों की चर्चा करके हम यह प्रसङ्ग समाप्त करते हैं।

भारतीय विचारपद्धति के अनुसार गोस्वामी जी जीवों का अस्तित्व केवल मनुष्ययोनि ही में नहीं वरन् वानर, भालू गिद्ध, काक आदि पशुपक्षियों और कीटपतगों तक में मानते थे। जीवों का एक योनि से दूसरी योनि में संक्रमण भी उन्हें मान्य था।[१] वे जीवों को शरीर से भिन्न और शरीर की दृष्टि से अविनाशी मानते थे।[२] मनुष्य की मृत्यु के बाद भी उसके जीव का अस्तित्व उन्हें मान्य था।[३] देवयोनियों पर भी उन्हें पूर्ण विश्वास था और देवताओं को भी वे जीवकोटि में रखना पसन्द करते थे।[४]

इन्द्रादि देवताओं को यद्यपि "विषयी" मानकर उन्होंने बहुत फटकार बताई है और उनके प्रधान कार्यों में केवल दुन्दुभी बजाने और फूल बरसाने का ही स्थल-स्थल पर उल्लेख किया है तथापि गोस्वामी जी ने कुछ स्थानों पर उनके प्रशस्त कार्यों की भी चर्चा की है। राम के लिये पर्णकुटी और रुचिर गिरि गुहाएँ सजा देना, उनके आरोहण के लिए दिव्य रथ भेज देना, आदि ऐसे ही कार्य हैं। भरत के सम्बन्ध में लक्ष्मण जी ने

---

१. आकर चार लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करमु सुभाव गुन घेरा॥
४६३-६, ७

२. छिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
३३७-१७, १८

३. देखिए लंकाविजय के बाद दशरथ का आगमन।

४. विषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी॥३७३-२१
देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिशाच भूत बेताला॥४३-२३
इनकी दसा न कहेउ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥४४-१
हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ बस तव भगति बिसारी॥
४३१-२१

जो कटूक्ति कही थी उसके लिए उन्हें चेतावनी देकर सुरों ने अपने गौरव की बहुत कुछ रक्षा कर ली है। गोस्वामी जी ने राम लक्ष्मण सीता की इन्द्र, जयन्त और शची से, मदन मधु और रति से तथा विधु, बुध और रोहिणी से तुलना करके इन देवों को आदरणीय ही बना दिया है। राम बनवास के प्रकरण में भी इनके मुख से सुन्दर तर्क की चर्चा करके गोस्वामी जी ने एक प्रकार से इनकी सम्मानरक्षा ही की है। फिर भी मानना ही होगा कि इन देवों के प्रति गोस्वामी जी की कुछ विशेष श्रद्धा नहीं थी।

त्रिदेवों और पञ्चदेवों के सम्बन्ध में अश्रद्धासूचक एक शब्द भी गोस्वामी जी के मुख से नहीं निकला है। उन्होंने इन देवों का न केवल उल्लेख ही किया है[1] वरन् उनकी वन्दना भी की है और उन्हें सम्मान्य समानता ही प्रदान की है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार यद्यपि ब्रह्मा जी पितामह हैं। शिवजी पिता हैं और गणेश जी पुत्र हैं, तथापि शिव-विवाह के समय ब्रह्मा जी कहते हैं :—

"कह विधि तुम्ह प्रभु अन्तरजामी तदपि भगति बस विनवउँ स्वामी।।
सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर अमित उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु।।" ४५-२२ से २४

और स्वतः शंकर जी के सम्बन्ध में कहा गया है :—

"मुनि अनुसासन गनपतिहिं पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करइ जनि सुर अनादि जिय जानि।।" ५२-९, १०

वैष्णव ग्रन्थों में चतुर्व्यूह और पंचायतन की भी पर्याप्त चर्चा है। रामावतार में भी चतुर्व्यूह और पचायतन विद्यमान हैं परन्तु गोस्वामी जी

---

१. देखिए पृष्ठ ३ पंक्ति ५ से १०, पृष्ठ १२ पंक्ति ७, ८ तथा निम्न उद्धरण —

करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी।।
रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी।।
२७५-२३, २४

ने चतुर्व्यूहत्व अथवा पञ्चायतनत्व को कहीं स्पष्ट नहीं किया। उन्होंने अध्यात्म रामायण के अनुकरण पर लक्ष्मण जी को तो स्पष्ट ही शेषावतार लिखा है। भरत और शत्रुघ्न किसी भी देवता के अवतार नहीं बताये गये। भगवान् ने "अंशन्ह सहित मनुज अवतारा, लैहौं दिनकर बंश उदारा" कहकर उन्हें भी अपना अंश बताया है अवश्य, परन्तु यों तो "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" के सिद्धान्तानुसार सभी जीव उनके अंश हैं[1]।

त्रिदेव, पंचदेव, चतुर्व्यूह और पंचायतन के व्यक्तियों पर यदि भली भाँति विचार किया जाय तो विदित होगा कि सूर्य, गणेश और शत्रुघ्न जी की चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं के बराबर है राम से व्यतिरिक्त विष्णु का एक तो बहुत कम उल्लेख है और यदि कहीं है भी तो उनकी कोई विशेष महिमा नहीं। सतीमोह और विधिविधान की विचित्रता तथा गुणदोषमयता की चर्चा करके गोस्वामी जी ने उन दोनों को भी कोई विशेष प्राधान्य नहीं दिया है। लक्ष्मण जी को शेषावतार मानते हुए भी और विशेष महत्त्व देते हुए भी सर्वज्ञ नहीं कहा है[2]। अब रहे भगवान् रामचन्द्र,

---

१. श्री जयरामदास जी दीन ने 'श्रीरामचरितमानस में रामावतार' शीर्षक लेख लिखकर (देखिए कल्याण भाग ११ संख्या ७ पृष्ठ १५६१) यह दिखाने की चेष्टा की है कि भरत जी विष्णु के अवतार, लक्ष्मण जी शिव के अवतार और शत्रुघ्न जी ब्रह्मा के अवतार थे तथा विशेष प्रयोजन के कारण भगवान् ने अपने इन त्रिदेवरूपी अंशों का अवतार कराया था। हमें तो यह चेष्टा कष्ट-कल्पना ही जान पड़ी।

२. लछिमन हूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना।
३१३-२५

सो माया रघुबीरहिं बांची। लछिमनु कपिन्ह सो मानी साँची
४१३-११

बहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥
(४१८-१, २)

भगवती सीता देवी, भगवान् शंकर और महात्मा भरत। इन चारों का चरित्र परम उज्ज्वल और एक दम निर्दोष चित्रित किया गया है इतना ही नहीं गोस्वामी जी ने इन चारों में अभेद भी बताया है। भगवान् के साथ सीता जी के अभेद के सम्बन्ध में "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" (१४-११) का उद्धरण ही पर्याप्त है। भगवान् के साथ भरत के अभेद सम्बन्ध में देवगुरु बृहस्पति ने ठीक ही कहा है कि "मन थिर करहु देव डरु नाहीं भरतहिं जानि राम परछाहीं' (२७३-७)। भगवान् के साथ शंकर जी के अभेद के सम्बन्ध में तो अनेकानेक उक्तियाँ हैं। रुद्राष्टक (४९३-४ से २३) में तो यह विषय स्पष्ट ही है। सप्तर्षियों के पार्वती के प्रति इस कथन में कि "तुम्ह माया भगवान् शिव सकल जगत पितु मातु" (४१-७) यही बात ध्वनित हो रही है। "जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी" (३५-३) आदि वाक्य भी इसी अभेद की स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं।

महात्मा नाभादास जी ने एक स्थल पर लिखा है कि "भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक।" हमारी समझ में गोस्वामी जी ने भी इसी सिद्धान्त के अनुसार राम सीता भरत और शंकर को "चतुर नाम बपु एक" बता दिया है। सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो भक्ति के साथ सीता जी का, भक्त के साथ भरत जी का और गुरु के साथ शंकर जी का तादात्म्य भी खूब जमकर बैठता है।

शंकर जी के सम्बन्ध के कुछ वाक्य देखिए :—

इच्छित फल बिनु शिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे।। ३७-१४
शिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सुहाहीं।। ५४-९

---

१. लक्ष्मण जी को मर्मवचन बोलने वाली सीता छायासीता थीं न कि प्रकृत सीता। फिर पूर्वापर प्रसंग देखते हुए कहना ही पड़ेगा कि यह मर्मवचन बोलना भी हरिइच्छा के कारण एकदम आवश्यक और सर्वथा समुचित था।

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥ ६८-५
शिव सेवा कै फल सुत सोई। अविरल भगति रामपद होई॥ ४९२-२

अब गुरु के सम्बन्ध के निम्न वाक्यों से उन्हें मिलाइए :—

गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥ ४१-२०
जे गुरुचरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं॥ १७१-९
गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौ विरंचि संकर सम होई॥ ४८५-७

फिर इस बात का विचार कीजिए कि रामनाम रूपी महामंत्र के आदि गुरु भगवान् शंकर ही हैं और रामकथामृत का प्रादुर्भाव भी सर्वप्रथम उन्हीं से हुआ है। इन वाक्यों के साथ गोस्वामी जी की इन वन्दनाओं पर भी विचार कीजिए :—

"गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी"॥ १२-१३
तथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणं।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते"॥ (१-५, ६)

तब स्पष्ट हो जायगा कि गोस्वामी जी ने किस प्रकार गुरु और शंकर का तादात्म्य दिखाया है।

भरत जी के सम्बन्ध की तो अनेकानेक पंक्तियाँ दर्शनीय हैं। उदाहरण के लिए हम यहाँ कुछ पंक्तियाँ दे देना ही पर्याप्त समझते हैं :—

तात भरत तुम सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥ २४९-२३
तुम्ह तउ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु रामसनेहू॥ २५१-२०
भरत सरिस को रामसनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥ २५४-२५
भगतसिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल। २५५-१०
जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरमधुर धरनि धरत को॥ २६०-१५
होत न भूतल भाउ भरत को अचर सचर चर अचर करत को॥
प्रेमु अमिय मंदर विरह भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटे सुरसाधुहित कृपासिंधु रघुबीर॥ २६२-१८ से २० तक

अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।
२६३-२०

कहउँ सुभाउ सत्यशिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥ २७२-१०
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम पद होत न रत को॥ २८७-१४
सुमिरत भरतहिं प्रेमु राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥ २८७-१५
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरमसारु जग होइहि सोई॥ २९५-२
सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥ ३९६-६,-७

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भवरस विरति॥ ३९६-१०, १

आदर्श भक्त के विषय में इससे बढ़ कर और क्या कहा जा सकता है।

अध्यात्म रामायण आदि ग्रन्थों के आधार पर यद्यपि सीता जी आदि-शक्ति मूलप्रकृति महामाया का अवतार मानी गई हैं और अन्य पुराणों के मतानुसार वे "रमा" भी कही गई हैं तथापि गोस्वामी जी की वाक्यावली पर विचार करने से वे निःसंकोच भक्ति का प्रत्यक्ष रूप भी कही जा सकती हैं। काकभुशुन्डि जी ने एक स्थल पर कहा है —

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभुप्रेरित व्यापहिं तेहि विद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ विहंगवर॥
४७८-६, ७

सो भेद भक्ति (जो भक्तों के लिए परम वांछनीय भक्ति है) के लिए तो विद्यामाया की आवश्यकता होती ही है। इस दृष्टि से माया (विद्या-माया) और भक्ति कोई विरुद्ध शक्तियाँ नहीं हैं। परन्तु सामान्यतः माया से अविद्यामाया की ओर ही विशेष ध्यान जाता है। इसलिए गोस्वामी जी ने माया और भक्ति का अलग-अलग वर्णन करते हुए माया को "नर्त्तकी" (भगवान् की रखेली) और भक्ति को "प्रियतमा" (भगवान् की ब्याही)

कहा है।[१] भक्ति के इस विशेषण के अनुसार सीता जी को "अतिसय प्रिय करुना निधान की" (१४-७) बताते हुए गोस्वामी जी ने स्पष्ट ही उन्हें भक्ति का प्रतिरूप माना है। फिर ग्रन्थारम्भ में सीता जी की बन्दना करते हुए वे उन्हें न केवल "उद्भवस्थितिसंहारकारिणी" कहकर विद्यामाया का ही अवतार बताते हैं वरन् "क्लेशहारिणी" "सर्वश्रेयस्करी" और "रामवल्लभा" कहकर साफ शब्दों में भक्ति का प्रतिरूप भी कह देते हैं। सीता जी भगवान् की परमशक्ति हैं क्योंकि भगवान् ने "परम शक्ति समेत अवतरिहउँ (८९-६) कहा है। इसलिए यदि इनमें मूर्तिमन्त भक्तितत्त्व नहीं है तो फिर ये परमशक्ति कैसी ! गोस्वामी जी ने इसीलिए उन्हें यदि कहीं "ब्रह्म जीव बिच माया जैसा" (६०३-३) कहा है तो कहीं "ग्यान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चितानन्दु" (३६३-५) तथा 'भगति ग्यान बैराग जनु सोहत धरे शरीर" (२९४-९) कहकर भक्ति से भी उपमित कर दिया है। भक्ति वैराग्यशील सज्जनों के हृदय में उत्पन्न होती है और भगवान् को ओर अर्पित की जाती है। सीता जी भी विदेह-राज की अयोनिजा आत्मजा थीं और भगवान् के साथ ब्याही गई थीं। भगवान् ही भक्ति के प्रकृत अधिकारी हैं। यदि कोई मनुष्य अहंकारवश अपने ही को भक्ति का अधिकारी मानकर लोकपूज्यता के आसन पर, भगवान् को हटाकर स्वयं बैठना चाहेगा तो वह अपने प्रयत्न में उसी प्रकार अकृतकार्य होगा जैसा रावण हुआ था। इस प्रकार सीता जी का सम्पूर्ण चरित भी भक्ति का कलापूर्ण चरित बन जाता है। फिर सीता जी की रामपदाब्जसेवा की ओर उनके साहचर्य की ओर, उनकी दिनचर्या की ओर

---

१. पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी । माया खलु नर्त्तकी बिचारी ॥
भगतिहिं सानुकूल रघुराया । तातें तेहि डरपति अति माया ।
४९९-२६, १७

२. उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥२-३, ४

दृष्टि डालिए तो हर कहीं भक्ति का ही रूप प्रस्फुटित होता हुआ पाया जायगा। इस तरह सीता और भक्ति की एकात्मता स्थापित हो जाती है।

इस दृष्टि से विचार करने पर रामचरितमानस में सीताचरित, भरत-चरित और शंकरचरित भी साधकों के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। उनका पारायण करना मानों भगवच्चरित्र का पारायण करना ही है। विशेषकर भरतचरित्र तो साधक भक्तों के लिए अमूल्य सम्पत्ति है। ये तीनों महानुभाव भगवान् से अभिन्न हैं परन्तु फिर भी भगवान् की लीला में इनका प्रत्यक्ष भेद देखा और माना जाता है। इसलिए हमने भी इन्हें जीवकोटि में ही रखा है।

गोस्वामी जी की इन जीवकोटियों पर विचार करने से विदित होगा कि जहाँ एक ओर उन्होंने साधुमत (आत्मकल्याण) की प्रथा के अनुसार व्यक्ति के कल्याण साधन पर पूरा विचार रखते हुए विषयी, साधक, सिद्ध आदि जीवों की चर्चा की और सत्संग का महत्त्व बताया है वहाँ दूसरी ओर लोकमत (राष्ट्रकल्याण) की प्रथा के अनुसार पूरे हिन्दू समाज के कल्याण साधन पर पूरा विचार रखते हुए सन्तों, ब्राह्मणों, गुरुजनों (गुरु तथा पूज्य कुटुम्बियों) और भक्तों के संगठन की चर्चा करके (रामराज्य के प्रकरण में) अपनी यही कामना प्रकट की है कि :—

'सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधरमनिरत श्रुतिनीती ॥"

४५३-१५

चतुर्थ परिच्छेद

तुलसी के राम

परम अनुराग जब ईश्वर की ओर हो तभी वह भक्ति कहाता है। ईश्वर के तो अनेक नाम हैं। अल्लाह, खुदा, गाड, आलमाइटी तथागत आदि नामों को छोड़कर विशुद्ध सनातनी हिन्दूधर्म की नाम सूची में भी उस "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" के हजारों नाम मिल जावेंगे। भक्तों ने नाम के साथ रूप का संयोग देखा और इस प्रकार एक ही ईश्वर विष्णुरूपधारी, शिवरूपधारी, शक्तिरूपधारी आदि बन गया। किसी भक्त ने अपनी भावना के अनुसार शंकर को इष्टदेव माना, किसी ने दुर्गा को, किसी ने गणेश को, और किसी ने कृष्ण को। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रघुवीर रामचन्द्र जी को अपना इष्टदेव माना[1]। आराधना के लिए इस प्रकार का एक इष्टदेव चुन लेना वांछनीय है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि वह इष्टदेव ईश्वर (परब्रह्म परमात्मा) का ही प्रतिरूप माना जाय, क्षुद्रदेव का नहीं; अन्यथा आराधक का परम अनुराग भक्ति की कोटि का न कहावेगा।

गोस्वामी जी ने अपने इष्टदेव की ईश्वरता पर बहुत जोर देकर लिखा है। एक तो उस समय रामभक्ति का प्रचार ही बहुत कम था और दूसरे यदि था भी तो लोग अकसर कृष्ण के आगे राम को न्यूनपद ही प्रदान किया करते थे। श्रीमद्भागवत आदि लोकमान्य ग्रन्थों के आधार पर वे श्रीकृष्णचन्द्र जी को पूर्णावतार और श्रीरामचन्द्र जी को अंशावतार ही

---

१. **जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई।।**
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।।

२९-२२-२३

कहा करते थे।[1] कई कारणों से गोस्वामी जी का उद्देश्य था कि भारतवर्ष में रामभक्ति का प्रचार विशेष रूप से हो और रामचन्द्र जी ही अधिक से अधिक लोगों के इष्टदेव बन जायँ। इसलिए रामचन्द्र जी की पूर्ण ईश्वरता पर ज़ोर देना गोस्वामी जी के लिए आवश्यक ही था[2]।

जिस तरह व्यासदेव ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" से अपने ब्रह्मसूत्रों की रचना प्रारम्भ की है उसी प्रकार गोस्वामी जी ने "अथातो रामजिज्ञासा" से अपने वर्ण्य विषय की रचना प्रारम्भ की है। "राम कवन मैं पूछहुँ तोहीं। कहहु बुझाय कृपानिधि मोहीं।" (२७-१८) ही इस ग्रन्थ का मूल प्रश्न है। राम के प्रभुत्व का प्रतिपादन ही इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप, इस ग्रन्थ में ओतप्रोत है। "जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥" (४७०-४)

गोस्वामी तुलसीदास जी के राम न केवल ब्रह्म हैं (निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण अशरीरी परमात्मा हैं) न केवल महाविष्णु हैं (सगुण शरीरी परमात्मा हैं) न केवल मर्यादा पुरुषोत्तम हैं (आदर्श मनुष्य हैं) वरन् तीनों के सामञ्जस्य से पूर्ण परम आराध्य हैं। हम उनके ब्रह्मत्व, उनके महाविष्णुत्व और उनके मर्यादापुरुषोत्तमत्व का अलग-अलग विवेचन करके एक आराध्य के इस त्रैविध्य को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है, इस विषय को गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर प्रकट किया है :—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥ (१०-२२)
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथ वादी॥

---

१. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (भागवत)

२. न तो गोस्वामी जी ने रामचरित को अपना वर्ण्य विषय चुनने में कोई गलती ही की और न राम के ईश्वरत्व प्रदर्शन की ओर उनका कोई शौक ही था। उन्होंने जो कुछ लिखा है सोच समझ कर लिखा है। इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं की सम्मति हमें ग्राह्य नहीं जँचती।

नेति नेति जेहि वेद निरूपा। चिदानन्द निरुपाधि अनूपा।। ७२-११, १३

व्यापक अकल अनीह अज निगुन नाम न रूप। ९७–५

आदि अनेकानेक प्रमाण इस ग्रन्थ में मिल सकते हैं। इस निर्गुण ब्रह्म से उन्होंने अपने आराध्य राम का भलीभांति तादात्म्य बताया है। देखिए––

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा।।
२०६-९, १०

राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।।
२१९-१५-१६

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा।।
व्यापक व्याप्य अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता।।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अनीता।।
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी।।
४७५–३ से ७

गोस्वामी जी ब्रह्म की निर्गुण अवस्था को सगुण अवस्था से भिन्न समझते हैं। इसलिए कहते हैं :––

फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा।। ३३६–६

इस निर्गुण ब्रह्म का न तो कोई नाम ही हो सकता है और न रूप ही[1]। जब इसमें गुण ही नहीं हैं तब यह किस प्रकार समझा समझाया जाय! गोस्वामी जी कहते हैं कि जो आदमी सगुण का सहारा लिये बिना निर्गुण की चर्चा कर सके, हम उस मनुष्य के दास बनने के लिए तैयार हैं[2]। ऐसी

---

१. नाम रूप दुइ ईस उपाधी।१५-१०

२. निर्गुन कहे जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास।।दोहावली (५१)

चर्चा संभव हो नहीं। इसीलिए अलख के "लखनेवालों" को गोस्वामी जी ने करारी फटकार बताई है[1]। इन्हीं कारणों से "अनध्यस्त विवर्त"[2] का सहारा लेते हुए ऋषियों और आचार्यों ने ब्रह्म की सगुण अवस्था भी मानी है।

वही ब्रह्म निर्गुण भी है और वही सगुण भी। इसलिए स्थान-स्थान पर ब्रह्म का निर्गुण भावात्मक वर्णन भी पाया जा सकताहै। उपनिषद कहती हैं :—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

ईश, ८

गीता का कहना है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभसं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ गीता ३–१२

श्रीमद्भागवत की उक्ति है :—

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्।

नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्॥ भा० ७–९, ४८

गोस्वामी जी महाराज कहते हैं :—

अनवद्य अखंड अगोचर गो सब रूप सदा सब होइ न सो।

इति वेद बदन्ति न दन्तकथा रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा॥

४३२–१५, १६

सगुन अगुन गुनमन्दिर सुन्दर। भ्रमतम प्रबल प्रताप दिवाकर॥

४३४-२३

अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय॥

---

१. तुलसी अलखहि का लखै राम नाम जपु नीच॥ दोहावली (१९)

२. यह विषय आगे समझाया जायगा।

मीन कमठ सूकर नरहरो । वामन परसुराम बपु धरी ॥
४३१–१६, १७

जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूप सिरोमने ॥ ४४८–१९
निर्गुन सर्गुन विषम समरूपं ज्ञानगिरा गोतीतमरूपम् ॥ ३५–१३
जय भगवन्त अनन्त अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय ॥
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमन्दिर सुन्दर अति नागर ॥
४५९–६, ७

तग्य कृतग्य अग्यता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन ॥
सर्व सर्वगत सर्व उरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय ॥
४५९–९, १०

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही ॥ ४१८–२०

ब्रह्म चाहे निर्गुन हो चाहे सगुण परन्तु इतना तो निश्चित है कि वह सर्वव्यापी है। जब वह सर्वव्यापी है तो वह निराकार भी होगा ही क्योंकि आकार में एकदेशीयता आ जाती है और जोसर्व देशीय है वह केवल एकदेशीय नहीं हो सकता। इसीलिए जहाँ ब्रह्म के रूप की चर्चा की हुई है वहाँ कोई विशिष्ट आकार न बताकर उनको विश्वरूपता का ही वर्णन कर दिया गया है। सर्वान्तर्यामी के रूप का इससे बढ़िया वर्णन और हो ही क्या सकता है। वेद कहते हैं :—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
(देखिए ऋग्वेद का पुरुषसूक्त)

उपनिषदें कहती हैं :—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशःश्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।
मुण्डक २-१, ४

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
श्वेताश्वतर ३-३

गीता भी श्वेताश्वतर के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती है :—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखं।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ गीता १३-१३
(श्वेताश्वतर ३-१६)

श्रीमद्भागवत का कहना है :—

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगोह्यादिवृक्षः॥
भागवत १० पू०-२, २१

हमारे गोस्वामी जी महाराज भी कहते हैं :—

अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पञ्चबीस अनेक परन सुमन घने॥
फलजुगल बिधि कटुमधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे॥ ४४९-९ से १२

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु वचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥

पद पाताल शीश अजधामा। अपर लोक अंग अंग बिस्रामा॥
भृकुटि विलास भयंकर काला। नयनदिवाकर कच घनमाला॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥
स्रवन दिसा दस वेद बखानी। मारुतस्वास निगम निजु बानी॥

अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सयल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु को बहु कलपना॥

अहंकार सिवं बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुजबास चर अचरमय रूप राम भगवान॥[१]

३७९–२१ से २६, ३८०-१ से ६

ब्रह्म की इस निराकारता अथवा विश्वरूपता को भगवद्विग्रह के व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक प्रधानता देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥गीता ७–१३

गोस्वामी जी इसी अभिप्राय से कहते हैं :—

राम स्वरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥ २१९–१५, १६

सगुण का अर्थ होता है (हेय गुणों से रहित) कल्याण गुणगणों का आकर। उस परमात्मा में अनन्त कल्याण गुणगण हैं परन्तु मानव समाज के लिये जो गुण विशेष उपयोगी और विशेष आकर्षक जान पड़ते हैं उन्हीं की

---

१. कारपेण्टर साहब ने अपने "थिओलाजी आफ तुलसीदास" में (देखिए पृष्ठ ९८-९९) इस विश्वरूप वर्णन को गोस्वामी जी के सिद्धान्त के प्रतिकूल बताया है। और लिखा है कि ठीक ही हुआ जो यह वर्णन एक अनार्य नारी मन्दोदरी के मुँह से कहाया गया है। यदि यही बात है तो वेदों ने उपर्युक्त संसार विटप का वर्णन कैसे किया? असल में यह विश्वरूप वर्णन गोस्वामी जी के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है जैसा उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा।

चर्चा आचार्यों और भक्तजनों ने की है। परमात्मा के कुछ कल्याणगुणों की चर्चा आगे आनेवाली है इसलिए राम के ब्रह्मत्व को यहीं स्थगित किया जाता है।

राम की दूसरी झांकी है उनका महाविष्णुत्व। जो राम निराकार और सर्वदेशीय बताये गये हैं वे ही इस झांकी में साकार और एकदेशीय बन गये हैं। जो विश्वरूप कहे गये थे वे सुर रूप होकर भक्तों के सामने आ रहे हैं। जिनके अनन्त नाम थे, अनन्त रूप थे, अनन्त लीलाएँ थीं और अनन्त धाम थे उनके विशिष्ट नाम, विशिष्ट रूप, विशिष्ट लीलाएँ और विशिष्ट धाम की कथा चल पड़ती है।

परमात्मा सृजक भी हैं, पालक भी हैं, संहारक भी हैं; परन्तु आत्म-कल्याण और लोककल्याण की भावनाएँ रखनेवाला भक्त उनके पालक भाव की ओर ही विशेष रूप से आकृष्ट होता है। इस पालक तत्त्व को गोस्वामी जी ने कल्याणधाम शिव के रूप में नहीं वरन् जगद्भर्ता विष्णु के रूप में देखा था। इसीलिए उन्होंने अपने आराध्य राम का तादात्म्य विष्णु के साथ किया है। रामावतार के उपक्रम में ब्रह्मा और शंकर समेत अन्य देवगण विष्णुलोक (वैकुण्ठ और क्षीरसागर) ही की चर्चा कर रहे थे। और उन्होंने "सिंधु सुता प्रिय कन्ता" की ही स्तुति की थी। फिर, जहाँ रामचन्द्र जी के रूप का वर्णन आया है वहाँ हृदयस्थल पर पड़े हुए भृगुचरण के चिह्न की—'उर स्रीवत्स' की—भी बराबर चर्चा की गयी है। इतना ही नहीं, उनके "निज आयुध भुज चार" का भी एक से अधिक स्थलों पर उल्लेख है। इसलिए वे अपनी इस दूसरी झांकी में विष्णु से व्यतिरिक्त कोई अन्य देव नहीं हैं। परन्तु वैष्णव भाव वाले होते हुए भी राम परब्रह्म परमात्मा के पूर्णरूप होने के कारण अनेक कल्पों के करोड़ों विष्णुओं की शक्ति रखते थे—"विष्णु कोटि सम पालन करता" थे। इसलिए गोस्वामी जी ने त्रिदेवों तथा पञ्चदेवों में सम्मिलित करके विष्णु को न केवल राम का भक्त ही बताया है वरन् उनकी शक्ति के आगे इन्हें (विष्णु को) नीचा दिखाने में भी नहीं हिचके हैं।

गोस्वामी जी के राम देवाधिदेव हैं—महाविष्णु हैं—इसलिए निश्चय ही वे अद्वितीय होंगे। गोस्वामी जी कहते हैं :—

देखे सिव विधि बिस्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥

× × ×

पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेखा। राम रूप दूसर नहिं देखा॥
३१—५, ६ और ११

देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहुगिरि सहित सिंधु महि कानन॥
९५-१३ से १५

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिस्नु सिव मनु दिसि त्राता॥

× × ×

भिन्न भिन्न मैं देखि सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
४७९-३ और ११, १२

जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायेउ परम बिस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
५०९—२१, २२

भगवान् राम की यह देवाधिदेवता गोस्वामी जी ने अनेक प्रकार से प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। स्वतः जो कुछ कहा सो तो कहा ही। इसके अतिरिक्त जड़ और चेतन तत्त्वों पर उनका प्रभाव प्रकट करके तथा सम्मान्य देवों द्वारा उनके महत्त्व को व्यक्त कराकर उन्होंने इसी विषय की पुष्टि की है।

क्या निश्चय ही आकाशतत्त्व पर पूर्ण विजय प्राप्त करनेवाले नहीं कहे जा सकते? इस तरह इन अलौकिक बातों का उल्लेख करके गोस्वामी जी ने अपने राम के प्रभुत्व का संस्थापन किया है।

जो भगवान् रामचन्द्र पञ्चतत्त्वों के नैसर्गिक नियमों में भी इस प्रकार के परिवर्तन कर सकते थे उनके लिये :—

देत चापु आपुहिं चढ़ि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥
१३०–२०

परसि चरन रज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी॥ २२४–१

सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचान देहि वर बाटा॥
जहँ जहँ जाहि देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया॥
३०३–४, ५

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥
३७५–९

आदि बातें लिखना कोई आश्चर्यजनक नहीं।

जीवतत्त्व पर भी राम की विजय बताने के लिए गोस्वामी जी ने न केवल देवेन्द्र आदि बड़े-बड़े जीवों से उनकी स्तुति कराकर उनकी महत्ता स्थापित करायी है, वरन् जीव के प्रति शरीर-भिन्नत्व धर्म का उच्छेद कराते हुए राम के विषय में वे लिखते हैं :—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेखा॥ ९५–११
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहिं कृपाला॥
४४४–२६, २७

रामभक्ति में निरत त्रिदेवों और पञ्चदेवों के सम्बन्ध की पंक्तियों का भी मुलाहिजा कर लिया जाय :—

ब्रह्मा—ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जाकरि तैं दासी सो अविनासी हमरउ तोर सहाई।।
८७–१७, १८

विष्णु—हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।।
१४४५

महेश—जय सच्चिदानन्द जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन—
२९–८

गौरी—तब कर अस विमोह अब नाहीं राम कथा पर रुचि मन माहीं।।
५६-१५

गणेश—महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।।
१४–१६

सूर्यदेव—यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुनगाना।।
९३–३

सुराकार ईश्वर के विशिष्ट नाम, विशिष्ट रूप, विशिष्ट लीलाविलास और विशिष्ट धाम रहा करते हैं यह आचार्यों का मत है। विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ विशिष्ट नाम रूप लीलाधाम का संयोग अनिवार्य है। जब तक वह विशिष्ट व्यक्तित्व रहेगा तब तक उस विशिष्ट व्यक्ति का विशिष्ट 'नामरूप लीलाधाम' भी रहेगा। इसीलिए कहा गया है :—

"रामस्य नामरूपं च लीलाधामपरात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।।"
(वशिष्ठ संहिता)

गोस्वामी जी के आराध्य सुराकार परमात्मा के अनेक नामों में "राम" नाम ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। नारद जी ने वर माँगा है :—

---

१. यह श्लोक मानसपीयूष बालकाण्ड के पृष्ठ १९१ में उद्धृत है।

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका।।
राम सकल नामन तें अधिका । होहु अखिल अघ खग गन बधिका।।
३२३–२६, २७

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन विमल बसहु भगत उर व्योम।। ३२४–१, २

भगवान् ने एवमस्तु कहते हुए इस नाम को अमित प्रभावशाली कर दिया है। सुराकार भगवान् रामचन्द्र के धाम का उल्लेख रामचरितमानस के कई स्थलों पर आया है। "रामधामदा पुरी सुहावनि" (२२-६) 'अति प्रिय मोहि इहाँ के वासी, मम धामदापुरी सुखरासी" (४४३–१५) "जे रामेश्वर दरसनु करहहिं, ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं" (३७४-११)। परन्तु उस धाम के वर्णन को गोस्वामी जी ने अनेक कारणों से गुप्त रखा है। सुराकार परमात्मा के रूप की चर्चा विष्णु भगवान् के रूप के समान ही है। यदि अन्तर है तो यही कि वे द्विभुज हैं और शंख चक्र गदा पद्म के बदले "शर चापधर" हैं। उनकी लीलाएँ ऐसी अपूर्व हैं कि उनसे न केवल राम के पूर्ण भगवत्तत्त्व और अतएव श्रेष्ठत्व की ही अभिव्यक्ति होती है वरन् उनके परम आराध्यत्व और अतएव प्रेष्ठत्व की भी बात स्पष्ट हो जाती है।

नाम धाम और रूप के विषय में आगे कुछ और लिखा जाने वाला है। भगवान् की लीला के सम्बन्ध में यहाँ कुछ अधिक पंक्तियाँ लिख देना अनुचित न होगा। उनकी सबसे बड़ी लीला है रावण का वध। यह रावण कोई भौतिक रावण नहीं। भौतिक रावण को तो नराकार राम ने मारा होगा। यह रावण है प्रवृत्ति रूपी लंकागढ़ में निवास करने वाला महामोह। (देखिए विनयपत्रिका का ५८ वाँ छन्द)। इस महामोह के ही करण मनुष्य मैं—मेरा, तू—तेरा कहता रहता है। अपने "मैं" को—अपने भौतिक व्यक्तित्व को—वह इसी महामोह के कारण सर्वशक्तिमान् बनाना चाहता है। महामोहाभिभूत अपने व्यक्तित्व को वह दशों दिशाओं में

प्रसारित करता है। वे दश दिशाएँ हैं "सुख, सम्पत्ति, सुत, सेन, सहाई, जय, प्रताप, बल, बुद्धि, बड़ाई" इसी में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की सब बातें आ गयीं। इन्हीं दश मुख्य भोगों के कारण वह महामोह दशमुख कहाता है और "ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी" है वह सब इसी "दशमुख" महामोह को "बशवर्ती" रहा करती है। परन्तु ब्रह्मसृष्टि में केवल एक ही जीव तो रहता नहीं है। जैसे एक जीव अपना व्यक्तित्व प्रसारित कर सकता है वैसे ही दूसरे जीव भी तो कर सकते हैं। यदि एक ही जीव अपने विशेष प्रयत्न से सबको दबा बैठे तब तो सृष्टि का बुरा हाल ही हो जाय। परन्तु सृष्टि तो विकासशील है। इसलिए जब ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाता है तब सृष्टि की व्यवस्था के लिए कोई न कोई ईश्वरीय विभूति किसी न किसी रूप में आविर्भूत होकर उस महामोहग्रस्त जीव का दमन करके सद्धर्म का संरक्षण कर दिया करती है। यही अवतार का रहस्य है। जिस प्रकार जगत् में उन भगवान् के अवतारों की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार जीव के हृदय में भी तो उनकी आवश्यकता रहा करती है। इसलिए गोस्वामी जी के सुराकार राम प्रत्येक मानव हृदय की अयोध्या में विद्यमान बताये गये हैं। कुप्रवृत्ति रूपी लंका दुर्ग का अधिपति महामोह अहंकार रूपी रावण जिस समय शान्ति अथवा आस्तिकता रूपिणी सीता को अपनी वशवर्तिनी बना लेना चाहता है उसी समय राम रावण युद्ध का सूत्रपात हो जाता है। साधक का हृदय राम रावण युद्ध—भगवान् और शैतान की लड़ाई का—भगवत् कृपा और अविद्या के संघर्ष का—समरक्षेत्र ही सा तो बना रहता है। मानों इसी चिरंतन युद्ध की ओर लक्ष्य करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है :—

श्रीराम रावण समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कवि तेउ तदपि पार न पावहीं।।
ताके गुनगन कछु कहे जड़ मति तुलसीदास।
निज पौरुष अनुसार जिमि मसक उड़ाहिं अकास।।

४१६, १ से ४

मनुष्यों के हृदय के अहंकार का जब तक विगलन न होगा तब तक परम कल्याण हो ही नहीं सकता। इसीलिए सुराकार राम की यह खास 'बानि' बताई गयी है कि वे अपने भक्त के हृदय में अहंकार रहने ही नहीं देते।[1] गोस्वामी जी ने इस संबंध की अनेक लीलाओं का उल्लेख किया है। नारद जी के समान भक्तप्रवर के हृदय में कामविजय के सम्बन्ध का अभिमान ज्योंही जाग्रत हुआ त्यों ही भगवान् ने उसका समूल उन्मूलन कर दिया। जयन्त का अभिमान, देवताओं का अभिमान, समुद्र का अभिमान, गरुड़ का अभिमान, काकभुशुंडि का अभिमान, इसी प्रकार कितनों ही के अभिमान को भगवान् ने चूर-चूर कर दिया है।

जहाँ एक ओर से अभिमान चूर्ण करने में इतने पटु हैं वहाँ दूसरी ओर क्षमाशीलता में भी इस हद के हैं कि—

जेहि अघ बधेउ ब्याल जिमि बाली। फिर सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥
ते भरतहिं भेटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान॥ १९–१ से ५

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥
उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयरुभाव सुमिरत मोहि निसिचर।
देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रमत्यागी। नर मतिमन्द ते परम अभागी॥
३९४-१६ से १९

क्षमाशीलता की यह मात्रा किसी अन्य पक्षपात को लिये हुए नहीं है।

---

१. सुनहु रामकर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ।
४७६-५

सुग्रीव और विभीषण के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जो उपर्युक्त वाक्य कहे हैं उनके ठीक पहले वे कहते हैं :—

रहित न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की।।

१८–२५

भगवान् भावग्राही हैं कृत्यग्राही नहीं। बालि का भाव दुष्ट था इसलिए वह 'अघ'-लिप्त समझा जाकर मारा गया। सुग्रीव और विभीषण ने भी पीछे यद्यपि वही कुकृत्य ("कुचाली" "करतूती") किया परन्तु उनका भाव दूषित न था इसलिए वे सामान्य ही रहे।[1] भगवद्गीता का "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः" (९–३७) भी इसी बात की घोषणा कर रहा है। जिसका भाव शुद्ध है वह सम्यग्व्यवसित है। उसका आचार निश्चयपूर्वक आप ही सुधर जायगा।

भगवान् के न्याय और दया का सामंजस्य दिखाने के लिये गोस्वामी जी ने बड़ी सुन्दर सूक्तियों का प्रयोग किया है। रोगी कुपथ्य मांगता है, परन्तु वैद्य उसे नहीं देता।[2] माँ खड़ी होकर अपने बच्चे का फोड़ा चिरवाती है

---

१. अनार्यों में रिवाज है कि कोई भी मनुष्य अपनी भौजाई को चूड़ी पहिनाकर अपनी स्त्री बना सकता है। आर्य लोगों की दृष्टि में यह 'कुचाल' ही है। परन्तु विभीषण और सुग्रीवने अपने समाज की परम्परा के अनुसार इस तरह का सम्बन्ध अंगीकार कर लिया तो वह कोई भाव-दूषित क्रिया नहीं हुई। बालि ने जो कुछ किया वह अवश्य भावदूषित क्रिया थी क्योंकि एक तो छोटे भाई की स्त्री को चूड़ी पहिना कर अपनी स्त्री बना लेने की प्रथा अनार्यों में भी नहीं है दूसरे उसने बलपूर्वक सुग्रीव की नारी का हरण किया था।

२. कुपथ माँगु रुज व्याकुल रोगी। बैद न देहि सुनहु मुनि जोगी।।
एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अन्तर हित प्रभु भयऊ।।

६६-१, २

और बच्चा कितना भी रोये फिर भी माँ अपने इस प्रयत्न से बाज नहीं आती।[१] संसार में केवल व्यष्टि ही व्यष्टि तो नहीं है। इसलिए ईश्वराभिमुख होने पर भी व्यक्ति का केवल वैसा ही कल्याण हो सकेगा जो समष्टि के कल्याण का किसी प्रकार से बाधक न हो। यही जगन्नियन्ता राम का न्याय है। इस न्याय में रोष का कोई स्थान नहीं। जो हाल न्याय का है वही दया का है। यदि न्याय में रोष का स्थान नहीं तो दया में पक्षपात का स्थान नहीं। जिस प्रकार अग्नि के सम्मुख पहुँचाया जाने पर हिम आप ही आप गल जाता है उसी प्रकार उनके अभिमुख होने पर जीव का "शोक, मोह, भ्रम" आप ही आप नष्ट हो जाता है।[२] जिस प्रकार डामर से भरे हुए काँच में निकट की प्रत्यक्ष वस्तु का भी प्रतिबिम्ब भली भांति आविर्भूत नहीं हो सकता उसी प्रकार अभक्त अथवा विषयी हृदय में भी ईश्वर का विषम विहार ही जान पड़ता है।[३] जो छलछन्द युक्त हैं—अभक्त हैं—वे भगवान्

---

१. **जिमि सिसु तन व्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं।।**
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
व्याधिनास हित जननी गनत न सो सिसु पीर।
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।।
४७६-८ से ११

२. **इस सम्बध में पार्वती जी की उक्ति देखी जावे —**

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ।
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मनमथ महेस की नाईं।।
४६-१७, १८

३. **जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गनहिं न पाप पुन्य गुन दोषू।।**
करम प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।
तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा।।
२५५-३ से ५

के सम्मुख हो ही नहीं सकते और जो उनके सम्मुख ही नहीं होते वे उनके प्रकाश से—उनके तेज से—उनकी कृपा से—लाभ ही कैसे उठा सकते हैं। जो लोग भगवान् के न्याय और दया के इस रहस्य को समझ सकते हैं, वे ही तुलसीदास जी के सुराकार राम को समझने के सच्चे अधिकारी हैं।

सर्वसाधारण के हितार्थ अपने राम को परम आकर्षक सिद्ध करने के लिये ही गोस्वामी जी ने उनके परम औदार्य, परम कारुण्य और परम शरण्यत्व की स्थल-स्थल पर बड़ी सुन्दर चर्चा की है।

उनका परम औदार्य देखिए:—

अरिहु क अनभल कीन्ह न रामा। २४१–१०
मैं जानहुँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥२७१–१
देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ॥२७३-२१
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनामु किये अपनाये॥
२८५-१५, १६
जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस विस्वास तजहु जनि भोरे॥
३२३–२४
जो सम्पति सित रावनहिं दीन्हि दिये दश माथ।
सोइ सम्पदा विभीषणहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ—३६५–२५, २६
उनका परम कारुण्य देखिए:—
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥
१८–२५

---

१. जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥
३६३-२०, २१

मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई। ९४-२४

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सोइ जरई ॥
२५४–२२, २३

अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह।२९९–११
कोमलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।
३१९–१२

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहीं। उर अपराध न एकउ धरिहीं॥
३६८–२६, २७

उनका परम शरण्यत्व देखिए:—

प्रनतपाल रघुनायक करुना सिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहहिं तव अपराध बिसारि॥
३५४–२६, २७

मम पन सरनागत भयहारी। ३६३–१३
कोटि विप्र बध लागहि जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥
३६३–२४

जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सरन समय तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सदा तेहि साधु समाना॥
३६५–४,६

गिरिजा रघुपति कै यह रीती।सन्तत करहिं प्रनत पर प्रीती॥
३६४–१६

रामचन्द्र जी की लीलाओं में जहाँ कहीं गोस्वामी जी को इन परम सद्गुणों के पोषक प्रमाण मिले हैं वहीं उन्होंने इनकी चर्चा कर दी है।

महात्मा तुलसीदास जी ने अपने राम की लीलाओं के सम्बन्ध में उनके गुण कर्म स्वभाव का माहात्म्य जी खोलकर कहा है। उनके गुण अनन्त हैं उनके कर्म अनन्त हैं और उनके स्वभाव का माधुर्य भी अनन्त है। वे भावग्राही हैं, भक्तवत्सलता से भरपूर हैं और "करुणानिधान" तो उनकी खास 'बानि" है। उनका कोमल स्वभाव भक्तों के सर्वथा अनुकूल है। उनके अनुग्रह की प्राप्ति के लिये जाति गुण रूप सम्पत्ति वयस् आदि की अपेक्षा नहीं; यहाँ तक कि मानवयोनि की भी अपेक्षा नहीं। दीन और सेवक तो उन्हें खास तौर से प्यारे हैं (क्योंकि वे ही आर्त्त होकर सच्चे हृदय से उन्हें पुकार सकते हैं)। उनके आनन्द सिंधु के एक सीकर से त्रैलोक्य "सुपासी" हो सकता है। उनके बल के लवलेश से त्रैलोक्य चराचर पर विजय प्राप्त हो सकती है। वे निरवधि हैं। उनकी कोई उपमा नहीं। राम के समान बस, राम ही हैं, यह बात, गोस्वामी जी के मत में, आगम निगम पुराण सभी से सिद्ध है।[1]

---

१. राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित स्रुति गाये॥
जथा अनन्त राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥
५८·११, १८

जो आनन्दसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥
सो सुखधामराम अस नामा। अखिल लोकदायक बिस्रामा॥
९३-१७, १८

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि। ३५४-१४

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहे।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहे।
एहि भाँति निज निज मति विलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं।
४८४-१९ से २२

भगवान् राम ने जोवों पर करुणा करके स्वतः ही उन्हें अपनी भक्ति का उपदेश दिया है। वे कहते हैं :—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सरबगत सरबहित जानि करेहु अति प्रेम॥

४५१–१५, १६

जाहु भवन मम सुमिरन करेहु। मन क्रम वचन धरम अनुसरेहु॥

४५३–६

ये केवल नराकार व्यक्तित्व की उपासना करने को नहीं कहते, वरन् अपने निराकार और सुराकार भाव को ओर लक्ष्य करते हुए भक्ति का परम उपदेश दे रहे हैं। जो परमात्मा यह कह सकता है कि :—

कोटि विप्र वध लागहि जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

३६३–१७, १८

वही यह भी कह सकता है कि :—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहिं दृढ़ नेम॥
सदा सरबगत सरबहित जानि करेहु अति प्रेम॥

४५१–१५, १६

इसमें अनौचित्य का कहीं लेश भो नहीं। गोस्वामी जी के राम केवल नराकार मर्यादापुरुषोत्तम ही तो नहीं थे। इसलिए यदि गीता के भगवान् कृष्ण की तरह उन्होंने भी आस्तिक्य भाव वाले अपने भक्तों के सम्मुख भक्ति का परम तत्त्व कह दिया तो कौन-सा अनौचित्य हो गया।[१]

---

१. इस सम्बन्ध में श्री श्यामसुन्दरदास तथा बड़थ्वाल महोदय ने जो विचार अपने "गोस्वामी तुलसीदास" नामक ग्रन्थ में प्रकट किये हैं (देखिए पृष्ठ १४७) वे कदाचित् नराकार आराध्य ही को दृष्टिकोण में रख कर लिखे गये हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने जो मानवचरित किये थे उनका आध्यात्मिक अर्थ निकाल कर वे सब सुराकार राम की लीलाओं में सम्मिलित कर लिये गये हैं। उनके साथ ही साथ कई अतिमानव चरित्रों का भी योग कर दिया गया है। लीला के सम्बन्ध में कई अपूर्व बातें भी लिखी गयी हैं। जो अनन्त हैं उनकी लीलाएँ भी अनन्त होनी ही चाहिएँ। उन सब का विस्तृत वर्णन कर ही कौन सकता है। भक्त लोग उनकी लीलाओं का जो गान करते हैं वह चरित्र-ज्ञान के लिये नहीं वरन् भाव-वृद्धि के लिये—भावुकता की तृप्ति के लिये—लोकोत्तर आनन्दमय रस की प्राप्ति के लिये करते हैं। प्रभु की प्रभुता के परिचायक अनेक ग्रन्थों के रहते हुए भी सन्त लोग इसी अभिप्राय से नये-नये ग्रंथ लिखते चले जाते हैं और कई बार सुनकर भी इस लीलामृत के लिए फिर फिर लालायित रहते हैं। जो रामकथा सुनकर अघा गये उन्होंने रस विशेष जाना ही नहीं। जो निरन्तर इस रस का पान करते हैं उनके हृदय में भगवान् की ओर प्रीति अवश्य उत्पन्न होती है[1]। गोस्वामी जी ने भी इसीलिए सुराकार राम की खास-खास लीलाओं का उल्लेख किया है और हमने भी इसी अभिप्राय से उनकी लीलाओं की थोड़ी बानगी पाठकों के सामने रख दी है।

---

१. **कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी॥
राम कथा कै मिति जग नाहीं। अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥**
२१-१३, १४
करिय न संसय अस उर जानी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥
२१-१७
**सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥**
१०-२०, २१
राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं॥
४६६-१६

सुराकार ईश्वर के किन-किन विशिष्ट गुणों के समर्थन में उनकी लीलाएँ होनी चाहिएँ, इस विषय में आचार्यों ने बहुत कुछ कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
विष्णु पुराण ६-५, ७४

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
विष्णु पुराण ६-५, ७८

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
विष्णु पुराण ६-५, ७९

भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥
(महारामायण)

आदि अनेकानेक श्लोक भगवान् के विशिष्ट गुणों का परिचय दे रहे हैं। इनमें से प्रत्येक गुण का समर्थन भगवान् राम की किसी न किसी लीला से हो जाता है। स्थल संकोच हमें बाध्य करता है कि इस सम्बन्ध का अन्वेषण हम पाठकों ही के ऊपर छोड़ दें।

सुराकार परमात्मा की न तो उत्पत्ति होती है और न मृत्यु। उनका तो आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता हे। गोस्वामी जी कहते हैं कि "हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (८८-१) "अगजग मय सब रहित बिरागी, प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी" (८८-३)। इसीलिए उन्होंने राम-जन्म के समय लिखा है "जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम (९१-२)"। "भये प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी (९२-३)"। इसीलिए उन्होंने रामचन्द्र जी के निधन अथवा परलोक गमन की बात ही उड़ा दी है। यदि गोस्वामी जी केवल इतिहास

लेखक होते तो उमा के नवें प्रश्न पर शंकर जी से कुछ न कुछ उत्तर अवश्य दिलाते।

राम की तीसरी झाँकी है उनका मर्यादापुरुषोत्तमत्व। इस झाँकी में आकृति-प्रकृति और परिस्थिति तीनों दृष्टियों से आदर्श पुरुष हैं। भारतवर्ष के परम प्रख्यात सूर्यकुल में उनका जन्म हुआ। इन्द्र की भी बराबरी करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ उनके पिता थे। वशिष्ठ के समान अद्वितीय ब्रह्मर्षि और विश्वामित्र के समान अद्वितीय राजर्षि से उन्होंने शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा पाई। लक्ष्मण के समान परम पराक्रमी और भरत के समान परम साधु भाई उन्हें मिले। सीता के समान परमसुन्दरी सती शिरोमणि पत्नी उन्हें मिलीं और विदेहराज के समान परम विवेकी श्वशुर उन्हें मिले। हनुमान् के समान परमशक्तिशाली सज्जन ने स्वेच्छापूर्वक उनका आजीवन दास्य स्वीकार किया। ऐसी उत्तम परिस्थिति आदर्श नहीं तो और क्या है?

आकृति के आदर्श पर तो गोस्वामी जी ने खूब ही लिखा है। राम-चरित मानस के अंत में "सतपंच चौपाई" का जो उल्लेख है वह, कई सज्जनों के मत में, रामचन्द्र जी के नख-शिख ही से सम्बन्ध रखने वाली १०५ चौपाइयों की ओर लक्ष्य कर रहा है।[१] उनकी आकृति के सौन्दर्य ने नर और पशु, शिष्ट और दुष्ट, सभी पर अपनी मोहिनी डाल दी थी तथा अभक्तों

---

१. सतपंच का अर्थ कई लोगों ने कई प्रकार किया है। जो लोग इसका अर्थ १०५ मानते हैं उन लोगों ने भी १०५ चौपाइयों के भिन्न-भिन्न समूहों की चर्चा की है। "नखसिख" वाले समूह के सम्बन्ध में हमने एक पुस्तक देसाई भाई दारू भाई पटेल द्वारा छपाई हुई देखी है। उन्होंने यह "नख-सिख" माधोदास मलसरवाला से पाया था। उसकी आदिम पाण्डुलिपि सं० १७८१ की कही जाती है जो जगन्नाथपुरी के रामदास सरिया द्वारा लिखी गयी थी। सं० १९५२ में महात्मा लक्ष्मणदास ने उसकी प्रतिलिपि की और वही १९८६ सं० में प्रकाशक को माधोदास मलसरवाला से मिली।

को भी भक्त बना दिया था। इस सम्बन्ध की पंक्तियां कुछ विस्तृत रूप से उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

राम लषन सिय रूप निहारी। होहिं सनेह विकल नर नारी।।
२१३-२

मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा।
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा।
२१४-२८

होहिं प्रेमबस लोग इमि राम जहाँ जहँ जाहिं। २१७-१३।
खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही।
२१-८५

अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं
२३३-५

सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।
जब ते प्रभुपद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे।।
२६७-१४, १५

जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं विषम विष तामस तीछी।।
तेइ रघुनन्दनु लखनु सिय. . .
२७१-२४, २५

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी।।
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृप बालकु नरभूषन।।
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते।।
हमं भरि जनमु सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई।।
३१०-७ से १०

देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भये सब जलचरबृन्दा।।
मकर नक्र झख नाना व्याला। सत जोजन तन परम विशाला।।

ऐसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं।।
प्रभुहिं बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे।।

३७४-२५ से २८

आकृतिजन्य सौन्दर्य के मौन प्रभाव का निष्कलंक चित्र इससे उत्तम शायद ही कोई और खींच सका हो। जो लोग समझते हैं कि आकृतिजन्य सौन्दर्य के आकर्षण का अवसानदाम्पत्य प्रेम में ही पूरा-पूरा बन सकता है वे तुलसीदास जी के इस चित्रण को देखें। मनुष्यों को कौन कहे खग मृग मीन और यहाँ तक कि साँप-बिच्छू भी अपने हृदय की कुटिलता भूलकर मंत्रमुग्ध से बने हुए राम का दासत्व करने के लिए तैयार हैं। आततायी खरदूषण भी अपनी आसुरी शत्रुता भूलकर क्षणभर के लिए विस्मय-विमुग्ध होकर उस अनुपम सौंदर्य के वशीभूत हुए जा रहे हैं। कैसी आदर्श आकृति है। बड़े-बड़े भगीरथ प्रयत्न एक ओर और ऐसी अनुपम आकृति का मौन प्रभाव एक ओर। पाठक स्वयं ही विचार कर देखें कि उन दोनों में किसका पल्ला भारी समझा जायगा।

जो हाल रामचन्द्र जी की आकृति का है वही उनकी प्रकृति का भी है।
"धरम धुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुखसागर"

२८७-१७

रामचन्द्र जी ऐसे हैं कि—

बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं।।
सारद कोटि कोटि सत सेखा। करि न सकहिं प्रभु गुनगन लेखा।।

२४७-२०, २१

वे ऐसे आदर्शपुत्र हैं जिन्होंने माता और विमाता में कभी कोई भेद ही नहीं माना और पिता के वचनों की रक्षा के लिये सहर्ष १४ वर्ष का वनवास स्वीकार कर लिया। वे ऐसे आदर्श बन्धु हैं जिन्होंने भरत के लिये सर्व-स्वत्याग पर ही रुचि दिखलाई थी और लक्ष्मण की संकटापन्न अवस्था पर अपना सहज धैर्य तक भूल गये थे। वे ऐसे आदर्श पति हैं जिन्होंने सीता के

लिये रावण के समान प्रबल पराक्रमी शत्रु से एकाकी लोहा लिया था और एक—पत्नीव्रत का आजन्म निर्वाह करते हुए सीता की सुवर्ण प्रतिमा से यज्ञ का काम चलाया, परन्तु वशिष्ठ आदि महर्षियों की सम्मति पाकर भी दूसरा विवाह न किया।[१] वे ऐसे आदर्श मित्र हैं जिन्होंने सुग्रीव और विभीषण के समान विपद्ग्रस्त व्यक्तियों को सहर्ष अपनाया और अपनी विपन्न अवस्था की चिन्ता न करते हुए उन्हें परम ऐश्वर्य से सम्पन्न किया। वे ऐसे आदर्श पिता हैं जिन्होंने न केवल अपने पुत्रों को वरन् अपने भतीजों को भी समान समझा और सब पर समान दृष्टि से स्नेह करते हुए सबके लिये समान रूप से अलग-अलग राज्य का प्रबन्ध कर दिया। वे ऐसे आदर्श राजा हैं जिनका राज्य संसार में सर्वदा के लिये एक सुन्दर दृष्टान्त बन गया है। जो राज-मुकुट को सुवर्ण का नहीं वरन् काँटों का मुकुट समझ कर धारण कर रहा हो और उसके निष्ठुर कर्त्तव्य की पूर्ति में अपनी कौटुम्बिक शान्ति का भी बलिदान कर रहा हो उसके राज्य के सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ सर्वथा समुचित हैं कि :—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता कोई।।

४५३-१२

---

१. लोग कहते हैं कि सीता-निर्वासन करके उन्होंने बड़ा अत्याचार का काम किया। ऐसे लोग जरा इस बात को सीता जी की आँखों से देखें। यदि सीता जी रामचन्द्र के साथ बनी रहतीं तो शक्की लोग अपनी शंका का समाधान कराने के बदले मन ही मन रामचन्द्र जी को पक्षपाती अथवा कमजोर तबियत वाला समझा ही करते। सती सीता जी अपने पति पर आरोपित होने वाले इस कलंक को कभी भी न सह सकती थीं। उधर बनवास के लिए एक तो उनका अभ्यास हो गया था दूसरे रुचि भी थी। इसलिए उन्होंने राम के इस निर्णय को किसी प्रकार का अत्याचार नहीं समझा। राजा अच्छा रहे यही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह लोगों को अच्छा जंचे।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधरम निरतश्रुति नीति
४५३-१५, १६

अलप मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब निरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखो न दीना। नहिं कोउ अवुध न लच्छनहीना।।

मर्यादापुरुषोत्तम राजा राम का जिस समय आविर्भाव हुआ था उस समय क्षत्रिय लोग उत्पाती हो गये थे महाभारत में जिन सज्जनों ने और्व ऋषि की उत्पत्ति की कथा पढ़ी होगी वे इस कथन का रहस्य अच्छी तरह समझ सकेंगे। छोटे-छोटे भूमि खण्ड के लिये वे आपस में लड़ पड़ते थे। ब्राह्मण लोगों ने तो आर्य संस्कृति के प्रसार और ज्ञान-विज्ञान के विचार और प्रचार के लिये तपोवनों में विश्वविद्यालय खोलकर शासन के कार्य से उदासीनता-सी धारण कर ली थी। उद्धत क्षत्रियों को इसलिये उनकी उपेक्षा का निर्बाध अवसर मिल गया। फलतः वे कभी किसी ऋषि की गायें चुरा लेते तो कभी किसी का सिर ही काट डालते थे। राष्ट्रीयता तो उस समय विलुप्तप्राय थी। यही देख लीजिए कि पूर्वोत्तर प्रदेश के नरेश (विदेहराज) के यहाँ जब स्वयंवर हुआ तो पश्चिमोत्तर प्रदेश के नरेश (दशरथ) के यहाँ निमंत्रण तक न गया। भारत की ऐसी अस्त-व्यस्त स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा यदि किसी ने की तो उपनिवेशाकांक्षी लंकाधिप रावण ने की। वह भौतिक विज्ञान का महापण्डित था। विद्युत्-शक्ति (इन्द्र) का तो वह स्वामी हो चुका था। समृद्धि की वृद्धि से उसने अपनी लंका को मानो सोने की ही बना डाला था। लंका ठहरा एक टापू। इसलिए वह लंकेश्वर भारत के समान महाप्रदेश को अपना उपनिवेश बना लेने की घात में था। उसने भारत के चक्कर लगाकर यहाँ की स्थिति का निरीक्षण किया। उसने देखा कि यहाँ आर्य लोग अपने को मनु की सन्तान अथवा मानव कहते हैं और यहाँ के श्यामल मूल निवासियों को आत्मसात् करने के बदले उन्हें दनु की सन्तान अथवा दानव कह कर दूर-दूर रखते हैं।

यहाँ तक कि जिन श्यामल वर्ण के मूल निवासियों ने उनकी आर्य-संस्कृति के कई तत्त्व स्वीकार करके उनसे मैत्री भी स्थापित कर ली है उन्हें भी वे पूरा मानव न समझ कर वा-नर (मनुष्य कोटि में संदिग्ध जीव) समझते हैं। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने सबसे पहिले दानवों को अपने पक्ष में मिलाया और उनके द्वारा आर्य संस्कृति के केन्द्र उन तपोवनस्थ विश्वविद्यालयों ही को उड़वा देना चाहा। वह जानता था कि नरेश लोग यों ही तपोवनों से उदासीन हैं इसलिए जब तक शहरों पर धावा न बोला जायगा तब तक शायद वे उसके विरुद्ध लोहा लेने के लिये सम्मिलित होंगे ही नहीं। दानवों को मिलाने के बाद उसने बालि आदि वानर नरेशों से मित्रता की। फिर कुछ आर्य नरेशों को भी अपने पक्ष में सम्मिलित करने के अभिप्राय से वह बिना बुलाए ही मिथिला के स्वयंवर में, सम्बन्ध स्थापन की इच्छा से जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि उसके समान ही पराक्रमी दूसरा अनार्य नरेश बाणासुर कुछ ऐसी ही इच्छा लेकर पहिले ही से पहुँचा हुआ है। न रावण पीछे हटना चाहता था न बाण। अन्त में दूरन्देश रावण ने सोचा कि आर्यों के आगे अनार्य नरेशों का इस प्रकार लड़कर शक्तिहीन बन जाना भी ठीक नहीं और आर्य सम्बन्ध स्थापन का सेहरा प्रबल बाणासुर के सिर पर बंध जाने देना भी ठीक नहीं। इसलिए वह स्वयं भी हट गया और बाणासुर को भी वहाँ से हटा ले गया। इधर ब्राह्मण लोग भी इस परिस्थिति से कुछ सजग हो चले थे और उनमें भी परशुराम के समान क्रान्ति-कारी योद्धा का आविर्भाव हो गया था। परशुराम ने असीम शक्ति सम्पादन करके क्षुद्र क्षत्रिय नरेशों का संहार तो खूब किया और इतनी प्रचण्ड शक्ति दिखाई कि ईश्वर के अवतार की कोटि में भी माने जाने लगे; परन्तु आखिर वे सैनिक ही निकले, शासक नहीं। इसलिए बार-बार राजकाज का जिम्म ब्राह्मणों को देते हुए भी वे बार-बार अकृतकार्य ही बनते गये और भारत का राष्ट्रीय संगठन उनके द्वारा न हो पाया। विश्वामित्र पहिले स्वतः राजा रह चुके थे। उन्हें क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व दोनों का पूर्ण अनुभव था। इसलिए उन्होंने सद्वैद्य की तरह सदोषधि का अनुसंधान किया और इस कार्य

के सुचारु सम्पादन के लिये सच्चे जौहरी की तरह रामचन्द्ररूपी अमूल्य रत्न को ढूंढ़ निकाला। यह उन्हीं का प्रयत्न था कि रामचन्द्र जी तपोवनों की रक्षा और दुष्ट दानवों के दमन के लिये प्रवृत्त हुए। यह उन्हीं का प्रयत्न था कि अनिमंत्रित होते हुए भी रामचन्द्र जी सीतास्वयंवर के अवसर पर मिथिला गये और अपना पराक्रम दिखाकर उत्तरीय भारत के—आयावर्त को—दो दूरस्थ संभ्रान्त राजकुलों को स्नेहसूत्र में बांधकर आर्य-संगठन का प्रथम सूत्रपात किया। रामचन्द्र जी केवल सैनिक ही नहीं वरन् शासक भी थे। परशुराम तक ने इस बात का अनुभव कर के अपना कार्य उन्हें सौंपा और स्वतः राजनीतिक संन्यास ले लिया। शासक राम की प्रबन्धचातुरी का अन्दाजा इसी से लग सकता है कि चौदह वर्ष तक उनके बनवासी रहने पर भी न तो किसी दूसरे नरेश ने अयोध्या पर धावा करने की हिम्मत की न स्वतः उनके सम्बन्धियों ने ही राज्यशासन के लिए कोई सतृष्णता प्रकट की। बनवासी होकर उन्होंने जो सबसे बड़ा कार्य किया वह था आर्य ऋषियों और अनार्य हरिजनों के बीच सम्बन्ध स्थापन। नीचातिनीच मनुष्य ने भी उनमें आत्मीयता का अनुभव करके उनका साहचर्य प्राप्त किया। कोल, किरात, निषाद, शबर, वानर (उराँव) भालू आदि अनेकानेक अनार्य जातियाँ उनके मौन प्रभाव से प्रभावित होकर उनकी ओर खिंच आईं; उनके उस मौन प्रभाव का इतना महत्त्व था कि अत्रि, अगस्त्य, वाल्मीकि, सुतीक्ष्ण, शरभंग प्रभृति बड़े-बड़े महात्मा भी उनके आगे नतमस्तक हो गये। आर्यों और अनार्यों को इस प्रकार वशीभूत कर लेने वाले राम ने अपने लिये कभी कोई स्वार्थ भावना नहीं रक्खी। न तो उन्होंने विलास चाहा, न वैभव, न सम्पत्ति, न राज्य। न तो ऐश्वर्य-सिद्धि की ओर ही उनका विचार गया न प्रभुत्व-प्रख्याति की ओर। उन्होंने कभी यह भी कहीं चाहा कि दो चार पिट्ठू (पृष्ठपपोषक) उनके स्वयंसेवक से बन कर उनके साथ रहा करें। उन्होंने, जहाँ तक बन पड़ा, युद्ध एकदम बचाए। फिर भी जब उन्हें बालि और रावण सरीखे वैभवशाली चक्रवर्त्तियों का संहार करना ही पड़ा तब उस काल की नीति के अनुसार उनका राज्य हड़प लेने के बजाय

उन्हीं के भाइयों को उन्होंने वे राज्य दे दिये। साम्राज्यविस्तार की कूट-नीति का परित्याग करते हुए भी उन्होंने अपनी शक्ति, अपने शील और अपने सौहार्द भाव से जिस तरह अखिल भारत, और भारत ही क्यों, कहना चाहिए कि अखिल जगत्—के हृदय पर अपना अविनश्वर साम्राज्य स्थापित कर लिया है वह देखने और अनुभव करने की वस्तु है।

मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र जी को जिस प्रकार अपने शील और सौंदर्य का पता था उसी प्रकार अपनी शक्ति का भी पता था। वे जानते थे कि वे समाजपुरुष के सेवक ही नहीं शासक भी हैं। जैसे शरीर-रक्षा के लिए फोड़े का चीरना और शस्यराशि की वृद्धि के लिए घास-फूस का उखाड़ना अनिवार्य है वैसे ही भारतवर्ष की रक्षा और सद्भावों की वृद्धि के लिए रावण राज्य का विध्वंस करना अनिवार्य था। राम ने इसीलिए भुजा उठा कर प्रतिज्ञा की थी कि वे मही को निशिचर हीन कर देंगे—ऐसे मनुष्यों के प्रभाव से हीन कर देंगे जो जीव कोटि में दी गई परिभाषा के अनुसार निशाचर कहलाते हैं। यदि वे मनुष्य सुधर जावँ तो विभीषण के अनुयायियों की तरह मजे में राजसुख भोगें। यदि हठपूर्वक आततायी और अत्याचारी ही बने रहना चाहें तो चाहे स्त्री चाहे पुरुष, वे ताड़का और खरदूषणादि की तरह अपने कृत्यों का मज़ा चखें। जगत् में व्यवस्था की स्थापना के लिए राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। यदि वह अपनी शासन-क्रिया में कर्त्तव्य की प्रेरणा से, न कि किसी विद्वेषभाव से, अत्याचारी के विषैले दाँत उखाड़ देता है, जगत् का सर्वथैव अहित करने वाली कँटीली और विषैली वेलोंका समूल उन्मूलन कर देता है, तो जगद्रक्षा के नाते यह भी उसका अहिंसा धर्म ही माना जायगा। मर्यादापुरुषोत्तम राम ने ऐसे धर्मभाव से प्रेरित होकर रावण और बालि का वध किया था।

परम कूटिनीतिज्ञ रावण आसानी से नहीं पछाड़ा जा सकता था। यदि उसे राम की पूरी शक्ति का पहिले ही से पता होता तो वह उनसे लड़ता ही नहीं या अन्य आर्य नरेशों अथवा भारतवासी अनार्य नरेशों ही को उनके विरुद्ध उकसाकर दूर से तमाशा देखने की भी पहिले कोशिश कर लेता।

विधिविधान कुछ ऐसा था कि रावण पूरी परिस्थिति का अध्ययन भी न कर पाया था कि सूर्पणखा ने छेड़छाड़ प्रारम्भ करा ही दी। स्वैरिणी सूर्पणखा को अनार्य नरेश तो किसी प्रकार का दण्ड देते ही न थे और प्रजा में इतनी शक्ति ही नहीं थी कि वह एक प्रबल सम्राट की भगिनी का मानमर्दन कर सके। इसीलिए पड़ोसी नरेश की हैसियत से राम का परम कर्त्तव्य था कि वे उस अत्याचारिणी को दण्ड दें। नरेश न सही तो एक सामान्य प्रजा की हैसियत से भी उन्हें यह अधिकार था कि वे आततायी के सम्मुख आत्मरक्षा के उपायों से काम लें। सूर्पणखा न बातों से मानने वाली थी न लातों से। वह तो कामान्ध होकर कभी राम के पास, कभी लक्ष्मण के पास; फिर राम के पास दौड़-दौड़ कर जब अपनी इच्छा की विफलता देखने लगी तब भूखी बाघिन की तरह सीता जी ही को साफ कर देने के इरादे से उस ओर झपट रही थी। ऐसी स्वैरिणी न तो किसी की बातें सुन सकती है और न अपनी कुलमर्यादा की लज्जा का ही उसे कुछ ध्यान होता है। इसलिए उसके कान और नाक काट लेना ही उसके लिए परम उचित दण्ड समझा गया। स्वैरिणी स्त्री की नाक तो आज दिन तक कटा करती है। इसलिए राम ने यदि उसे इस प्रकार दण्ड दिलाकर केवल विरूप करा दिया तो अपनी दूरदर्शिता ही दिखाई अन्यथा उस समय के नियमानुसार ऐसी आततायिनी स्वैरिणी का वध भी कर दिया जाता तो कोई बुरा न मानता। इस दूरदर्शिता ने अपना अभीष्ट फल दिखाया भी। सबसे पहिले तो खरदूषण ही उस स्वैरिणी का अनुचित पक्ष लेकर मैदान में उतर आये और राम से लड़कर उन्होंने खूब मुँह की खायी। फिर रावण को भी अपने गौरव की रक्षा के लिए राम से छेड़छाड़ करनी ही पड़ी। यदि वह खरदूषण के वध पर भी सूर्पणखा का पक्ष न करता तो भारतीय अनार्यों की जनतामनोवृत्ति के आगे निःसन्देह

---

१. न जाने क्यों मिश्र बन्धुओं ने लिखा है कि सूर्पणखा का विरूप-करण एक ऐसा आक्षेप योग्य कृत्य है जिसका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता। सुधा, वैशाख ३१९ (तु० सं०) पृष्ठ ४४०।

अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता। इसीलिए वह सूर्पणखा के अपमान (?) का बदला तो अवश्य लेना चाहता था, परन्तु खरदूषण का वध करने वाले वीर से उसी के देश भारतवर्ष में आकर मोरचा नहीं लेना चाहता था। इसीलिए उसने नारीहरण की तरकीब निकाली। अपनी इसी चाल में उसने धोखा खाया और अन्त तक इस उलझन में फँसता ही चला गया। वह शायद जानता था कि रामचन्द्र जी अकेले आकर सुदृढ़ लंका को कोई क्षति पहुँचावें यह तो असंभव ही है और यदि वे सेना एकत्र करके आये तो उसका मित्र बालि पहिले ही उन्हें रोकेगा और इस प्रकार उसे (रावण को) सजग हो जाने का पूरा अवसर दे देगा। इसके बाद यदि राम लंका के किनारे पहुँच भी गये तो आसानी से जीत लिए जावेंगे और यदि वे वहाँ तक न आये या न आसके तब तो जनक राज-कुल से सम्बन्धस्थापन की पुरानी भावना को चरितार्थ होने का अनायास अवसर मिल जायगा। श्रीराम-चन्द्र जी ने भी शायद अपनी दूरदर्शिता से रावण की यह विचारप्रणाली समझ ली थी। इसीलिए घटनाचक्र की अनुकूलता होते ही उन्होंने बालि को बिना किसी आडम्बर के उखाड़ फेंका जब यह निश्चित था कि अपने ही छोटे भाई की स्त्री का हरण करने वाला बालि केवल स्त्रीहरण का मामला लेकर पुराने मित्र रावण से न तो शत्रुता ही कर सकता था और न राज्यनिर्वासित एकाकी राम की सहायता ही में मन लगा सकता था तब धर्म युद्ध के लिए उसे ललकारने में लाभ ही क्या था? यदि राम और बालि का खुला युद्ध हुआ होता तो अंगद, जाम्बवान आदि के समान सद्वीरों को ठीक उसी प्रकार बालि की सहायता करनी पड़ती जैसी भीष्म, द्रोण आदि ने दुर्योधन की की थी। रामचन्द्र को ऐसे सद्वीरों का वध अभीष्ट न था। यदि बालि बन्दी भी होता तो भी अंगदादि का युद्ध अनिवार्य रहता। बालि का जीवन भारतीय शान्ति के लिए कण्टक रूप था। अतएव जब उस जीवन का अन्त अवश्यंभावी था तब वह सम्मुख समर में मारा गया तो क्या अथवा एकाएक उखाड़ फेंका गया तो क्या—बात एक ही थी। आजकल की सरकार भी नामी डकैतों के लिए दोनों प्रकार के दण्ड की

व्यवस्था करती है। यदि वह पकड़ा गया और बाकायदा अदालती कार्रवाईयों से होता हुआ फाँसी पर लटकाया गया तो भी ठीक और यदि किसी भी नागरिक द्वारा एकदम गोली से उड़ा दिया गया तो भी ठीक। ऐसे डकैतों को मार डालने वाला भी उसी प्रकार पुरस्कार योग्य समझा जाता है जिस प्रकार उसको पकड़ने वाला[1]।

रामचरित के इतिहास को हमने जिस दृष्टिकोण से देखने और दिखाने की चेष्टा की है उसके अतिरिक्त और कोई दृष्टिकोण हो नहीं है, यह हमारा कहना नहीं है। नरचरित्र आखिर नरचरित्र ही है। उसमें कुछ अपूर्णताओं अथवा आक्षेप योग्य बातों का भी मिल जाना स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि हम भक्त की दृष्टि से उस चरित्र का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि बक़ौल महात्मा गांधी के "यह विश्वास रखकर कि रामादि कभी छल नहीं कर सकते हम पूर्ण पुरुष का ही ध्यान करें" (धर्मपथ पृ० ६६)। इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा है :—

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी।।
अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी।।
४०८-५ से ८

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ।।

---

१. सुराकार राम के सम्बन्ध में तो बालिवध, शम्बूकवध, सूर्पणखा-विरूपकरण आदि की बातें और भी अधिक निर्दोष हो जाती हैं। मुक्ति ही जीव के लिए एकान्त अभीष्ट है। जब बालि और शम्बूक शीघ्र ही मुक्त कर दिये गये तब उनके ऊपर अत्याचार ही क्या? सूर्पणखा का हृदय परिपक्व न था इसलिए कामवासना का सहायक सौंदर्य उससे अलग कर लिया गया और वह साधना के लिए जीवित छोड़ दी गयी।

गोस्वामी जी ने अपने राम से न तो सीतानिर्वासन कराया, न शम्बूक-वध कराया। उन्होंने अपने राम को वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण के राम से भी अधिक उत्कृष्ट चित्रित किया है। (देखिए मान-सहंस तथा किनखेड़े भाषणमाला वाला हमारा ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति में गोस्वामी जी का योगदान")। परन्तु फिर भी कुछ लोग उनके द्वारा चित्रित रामचरित्र में भी दोषोद्भावना कर ही देते हैं। उदाहरणार्थ कुछ विद्वद्जनों ने सीताविरह के समय उनकी इस उक्ति को कि :—

"राखिय नारि जदपि उर माहीं। युवती सास्त्र नृपति बस नाहीं"॥
३२१–१७

एकदम दूषित ठहराया है[1]। बहुत सम्भव है कि इतने बड़े ग्रन्थ रामचरितमानस में एक आध ऐसे शंकास्पद प्रसङ्ग निकल आवें परन्तु यह भी बहुत संभव है कि ऐसे प्रसङ्गों के सम्बन्ध की शंकाएँ ही निर्मूल हों! उदाहरणार्थ ऊपर वाली उक्ति ही का प्रसङ्ग देखिए। स्त्रियाँ दुश्चरित्रा होती हैं इस भावना को अपने हृदय में जमाकर यदि ऊपर वाली पंक्ति पढ़ी जायगी तो निश्चय ही यह अर्थ निकलेगा कि हजार-हजार संरक्षण रहते हुए भी आखिर सीता जी दूसरे के साथ भाग निकलीं! यह अर्थ कितना भोंड़ा और प्रसङ्ग के कितने विरुद्ध होगा इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि इस पंक्ति का यही प्रकृत अर्थ है तो निश्चय ही यह उक्ति दूषित है। परन्तु यदि पूर्वोक्त-भावना के बदले "स्त्रियाँ अपनी भावप्रवणता के कारण मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाती हैं", इस प्रकार की भावना को अपने हृदय में जमाकर वह पंक्ति पढ़ी जाय तो उक्ति में किसी प्रकार का दूषण नहीं आने पाता। भावप्रवण नारी स्वभाव से ही धर्मशील रहती है। अतिथिसेवा रूपी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर सीता जी के नारी हृदय ने लक्ष्मण जी की बाँधी

---

१. **देखिए श्री श्यामसुन्दरदास और बड़थ्वाल महोदय का ग्रन्थ "गोस्वामी तुलसीदास" पृष्ठ १४५।**

हुई मर्यादा की भी परवाह नहीं की और परिणाम में इतना बड़ा संकट बुला लिया। सम्भव है, इसीलिए गोस्वामी जी ने, "शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वं" वाली पुरानी उक्ति को नयी बना कर राम के मुख से प्रकट कराया हो।

जो कुछ हो, इतना तो निश्चयहै कि जिस ज़माने में रेल, तार, अखबार आदि कुछ न थे, जिस समय आर्य लोगों के कर्तव्यक्षेत्र की सीमा आर्यावर्त (उत्तरी भारत) तक ही सीमित थी, जिन दिनों आर्य संस्कृति के विध्वंस में न केवल कतिपय अनार्य वरन् अनेक क्षत्रिय नरेश भी दत्तचित्त थे, उस ज़माने में जिन महापुरुषों ने एकाकी पदचारी रहते हुए भी समग्र भारतवर्ष को इस प्रकार सुश्रृंखलित कर दिया कि आज तक भी उनके आदर्श राज्य की गाथा गाई जा रही है, उन्हें यदि कोई अपना आराध्य मान रहा है तो क्या बुरा कर रहा है।

जो ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है उसे सगुण मानना, साकार (व्यक्तित्व-वान् सुराकार) मानना तथा अवतारी (नराकार) मानना भक्त की भावना की बात है। सगुणता, व्यक्तित्वमयी साकारता और अवतार की सिद्धि कोरी तर्कप्रणाली पर नहीं की जा सकती। इसके लिए तो श्रद्धा का सहारा लेना ही पड़ता है। पार्वती ने निर्गुण ब्रह्म के साथ सुराकार रूप (विष्णु) को तो मान लिया (यद्यपि वह सुराकार रूप उनका परम आराध्य न था) परन्तु नराकार राम (अवतार) के विषय में तर्क करने लगीं।[1] उत्तर में शंकर जी ने तर्क से उनका समाधान न करके श्रद्धा का ही पाठ पढ़ाना

---

१. **ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।**
सोकि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
बिस्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोऊ सरवग्य जथा त्रिपुरारी।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम स्त्रीपति असुरारी।
२९–१४ से १७

प्रारम्भ किया। शंकराचार्य से बढ़कर शायद ही कोई दूसरा विचारक अथवा तार्किक हुआ हो। वे भी :—

> यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशीव भाति यदुनाथः।
> सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥
> (प्रबोध सुधाकर. २००)

कह कर हृदय की श्रद्धा ही को उकसाने की चेष्टा कर रहे हैं न कि तर्क को। इस सम्बन्ध में तर्क का काम केवल इतना ही है कि वह निराकार, सुराकार और नराकार आराध्य का इस प्रकार सामञ्जस्य कर दे कि श्रद्धा और भी पुष्ट होकर परम विश्वास का रूप धारण कर ले। भक्तहृदय के लिए तर्क का इतना ही सहारा वांछनीय है।

आराध्य को सगुण साकार और अवतारी मानने का प्रधान कारण है भक्त का हृदय। वह सूरदास के कथनानुसार "रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चकित धावै।" इसलिए "अविगत गति कछु कहत न आवै" कहता हुआ, निर्गुण की ओर झुक ही नहीं सकता। गीता ने भी अव्यक्तोपासना को क्लेशकर ही कहा है। बड़े-बड़े निर्गुणी सन्त भी अपने "लाल" की "लाली" देखा करते और उसमें "लाल" हुआ करते हैं।[1] यह लाली आराध्य का गुण नहीं तो क्या है। कई लोग उसके सिंहासन अथवा न्यायासन की कल्पना करके उस पर उसके ज्योतिर्मय रूप की झलक देखते हैं। यह ज्योति उसका गुण नहीं तो और क्या है? कुछ लोग उसकी दिव्य देह तक की बात तो मान लेते हैं परन्तु उसके अवतार की बात पर उन्हें विश्वास नहीं होता। यह भी साधक के हृदय की भावना की बात है। जो लोग उसके अवतार की बात भी पूर्ण विश्वास के साथ मान लेते हैं वे भी कोई अनौचित्य नहीं कर रहे हैं क्योंकि ब्रह्म की सगुणता में जिस

---

१. लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥कबीर॥

प्रकार का तथ्यांश है उसी प्रकार उसकी साकारता में भी और उसी प्रकार उसके अवतार में भी है।

नराकार अथवा सुराकार रूप में ब्रह्मत्व के दर्शन की आकांक्षा रखना किसी प्रकार अनुचित नहीं क्योंकि निराकार ब्रह्म को सुराकार अथवा नराकार मानना यदि भ्रम भी हो तो वह रस्सी में सर्पदर्शन के भ्रम के समान नहीं वरन् सुवर्ण में आभूषण दर्शन के भ्रम के समान है। यह भ्रम मूल वस्तु से अभिन्न है इसलिए विज्ञ लोग परमात्मा के सगुण अवतार को "अनध्यस्त विवर्त" कह कर संग्राह्य ही बताते हैं।[1] ब्रह्म स्वतः अवतारी बनता है अथवा भक्तों की भावना उसका विशिष्ट रूप रच लेती है या विशिष्ट व्यक्ति में उसके अवतार की बात मान लेती है, इन दोनों बातों का अर्थ भक्त के हृदय के लिए एक ही बराबर है; वह तत्त्वविवेचक शुष्क ज्ञानी नहीं जो इस ऊहापोह में व्यस्त रहा करे।

---

१. इस सम्बन्ध में "कल्याण" तीसरे भाग की ग्यारहवीं संख्या के १००२ पृष्ठ पर श्री रामचन्द्र कामथ का लेख देखा जावे। वे कहते हैं "वेदान्त शास्त्र ने आरम्भवाद या परिणामवाद का खण्डन करके विवर्त-वाद को स्वीकार किया है। रज्जु में सर्प का अध्यास, सीप में रजत का अध्यास, सूर्य किरणों में मृगजल का अध्यास, आदि विवर्तवाद के दृष्टान्त हैं। इनमें मूल अधिष्ठान पर मिथ्या ही अधिष्ठान होने के कारण अधिष्ठान का ज्ञान लोप हो जाता है इसलिए श्री गुलाबराव महाराज इसका नाम "अध्यस्त विवर्त" रखते हैं। परन्तु सोने में गहने का अध्यास होने से रज्जुसर्प की भाँति अधिष्ठान ज्ञान का लोप नहीं होता है। स्वर्णत्व के ज्ञान के साथ ही अलंकार का भास होता है। इसलिए इसका नाम "अनध्यस्त विवर्त" है। इसी दृष्टान्त के अनुसार सगुण अवतार में मूल के ब्रह्मत्व ज्ञान का लोप नहीं होता। अतएव सगुण अवतार परमात्मा का "अनध्यस्त विवर्त" है, ऐसा कहते हैं। यह परिभाषा सोचने-समझने योग्य है।"

वह तो श्रद्धालु भक्त है। वह तो आम का रस चखना चाहता है, उसके वृक्ष की शाखाओं के ऊहापोह में अपना जीवन नहीं खपा देना चाहता।

उपर्युक्त विवेचन को अपने हृदय में धारण करके गोस्वामी जी की इन निम्नलिखित पंक्तियों पर विचार किया जावे—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।। १६-६
अगुन अलेख अमान एक रस। राम सगुन भये भगत प्रेमबस।। २५५-९

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई।।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल विलग नहिं जैसे।। ५९-५से७
जाके हृदय भगति जस प्रीति। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।।८७-१२
जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।। ११२-१२

जेहि पूछहुँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई।।
निर्गुन मत नहिं मोहिं सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई।।४९५-१५,२०

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं,
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।। ४४६-१३, १४
जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तरजामी।।
जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना।।३०५-२१, २२

कोऊ ब्रह्मनिर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि स्रुति गाव।
मोंहि भाव कोसल भूप, श्रीराम सगुन स्वरूप।।
४३३-२२, २३

विचार, भाव और क्रिया के अनुसार जीवों की तीन ही भावनाएँ रहा करती हैं—आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक भावना वाला आराधक अपने आराध्य के निराकार भाव ही पर विशेष जोर देगा। आधिदैविक भावनावाला आराधक उनके सुराकार भाव पर विशेष जोर देगा। आधिभौतिक भावनावाले आराधक को उनके

नराकार भाव ही की ओर विशेष रुचि होगी। ज्ञानीभक्त तो सर्वान्तर्यामी की ओर झुकेंगे संसारी भक्त पूर्ण पुरुष (Perfectman) की लीलाओं के आगे ही नतमस्तक होंगे और भावुक भक्त परमात्मा को एक इष्टदेव के रूप से—एक सुराकार से—चिन्तन करने के संतोष मानेंगे। इसीलिए सर्वजन कल्याणकारी भक्ति शास्त्र में एक परमात्मा का यह त्रैतभाव व्यक्त किया गया है।[1] इनमें यदि एक भी भाव शिथिल कर दिया जाय तो आराध्य अपूर्ण ही कहावेगा। निराकार भाव उड़ा दिया जाय तो मनोनुकूल इष्ट-देव-विग्रहों की अनेकता के कारण भक्त लोग आपस में सदैव लड़ते ही रहें। सुराकार भाव उड़ा दिया जाय तो भावुक हृदय की कभी तृप्ति ही न हो। कभी यह जान ही न पड़े कि परमात्मा हमारा सहायक और हमारे साथ है। नराकार भाव उड़ा दिया जाय तो भगवान की इतिहासप्रसिद्ध लीलाओं के अभाव में न तो सर्वसाधारण में उसकी ओर विश्वास ही की वृद्धि हो, न उसके साथ कोई आत्मीयता का ही भाव जाग्रत हो और न उसकी ओर से कोई आशा ही का संचार हो। भारत का एक अपढ़ अनार्य जानता है कि राम उसके पूर्वजों के साथ भ्रातृत्व स्थापित करके उन्हें तार चुके थे;, तब क्या वे उसे न तार सकेंगे? वह जानता है कि अमुक वस्तु अथवा अमुक आचरण राम को प्रिय थे और अमुक बातें उन्हें अप्रिय थीं। तब क्या उनकी कृपा पानेकेलिए उसे भी तदनुकूल आचरण नहीं रखनेचाहिए? परमात्माका नराकार भाव उड़ा देने से ये सब बातें कहाँ मिलेंगी? जो लोग अवतारवादी नहीं हैं उनके यहाँ धर्म-प्रचारकों को ही नराकार आराध्य का वह उच्च स्थान दे दिया गया है और इस प्रकार धर्मप्रचारक ही या तो ईश्वर के अवतार बन बैठे या उसकी महिमा के सम्बन्ध में लीलाएँ विस्तारित करनेवाले उसके पुत्र उसके विशिष्ट दूत या ऐसे ही और कुछ

---

१. ईसाइयों की 'होली ट्रिनिटी' पर यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो हम समझते हैं कि विचारकों को कुछ नया आनन्द मिलने की भी सम्भावना है।

कहाने लगे। नराकार आराध्य को चाहे निराकार आराध्य का विशिष्ट सम्बन्धी समझा जाय, चाहे प्रतिरूप, बात एक ही है। निराकार आराध्य की आराध्यता जब तक स्थिर है तब तक आराध्य के इस त्रैतभाव पर कोई अंगुलिनिर्देश नहीं कर सकता।

विचारदृष्टि से जो निर्गुण था, भावदृष्टि से वही सगुण बन गया; जो अव्यक्त था वह भक्तों के हित के लिये व्यक्त कहा जाने लगा। अव्यक्त के सब विशिष्ट विशेषण मूर्तिमान से होकर उस व्यक्तित्ववान् परमात्मा में प्रत्यक्ष विराजने लगे। विष्णु के सम्बन्ध में तो सब कल्पना ही कल्पना—कला ही कला– थी परन्तु उनके नराकार अवतारों के सम्बन्ध में तो नाम, रूप, लीला, धाम, चारों का प्रत्यक्ष आधार विद्यमान था। इसलिए विचारशील भक्तों ने ऐसे अवतारों के नामों की व्युत्पत्ति करके, उनके रूप को विष्णु के रूप से भी अधिक रहस्यमय समझाकर, उनकी लीलाओं का आधिदैविक और आध्यात्मिक विवेचन करके तथा उनके भौतिक धामों के अनुसार उनके दिव्य धाम की चर्चा करके नराकार आराध्य, सुराकार आराध्य और निराकार आराध्य में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। दाशरथि रघुनन्दन के नाम, रूप, लीला और धाम के रहस्य भी इसी प्रकार समझाये गये हैं। उनके नामों में प्रधान प्रचलित नाम था रामनाम। व्युत्पत्ति के हिसाब से इस छोटे से नाममें बड़े-बड़े अर्थ सन्निहित हैं। इन अर्थों की कुछ चर्चा "भक्ति के साधन" शीर्षक परिच्छेद में आने वाली है। इसलिए यहाँ इतना ही बता देना पर्याप्त है कि राम नराकार आराध्य का प्रचलित नाम ही नहीं है वरन् निराकार निर्गुण ॐ का समकक्ष और सुराकार परमात्मा के सब नामों में श्रेष्ठ है। अब दाशरथिराम के रूप की बात देखिए। उनका कोटि मनोजों को लज्जित करनेवाला कमनीय कलेवर, घनश्याम वर्ण और पीतपट तो विष्णुविग्रह के बराबर ही निराकार के अनन्त सौंदर्य, अनन्त गाम्भीर्य और अनन्य शरण्यत्व को प्रकट कर रहा है। यदि राम में कुछ विशेषता है तो यही कि वे चतुर्भुज के बदले द्विभुज और शंख, चक्र, गदा, पद्म के बदले शरचापधारी हैं।

सृष्टि स्थिति और प्रलय के लक्षण तो परमात्मा के तटस्थ लक्षण कहे जाते हैं, उनका स्वरूपलक्षण है उनका सच्चिदानन्दत्व। इसलिए सृष्टि, स्थिति, प्रलय के गुणों को लक्षित करनेवाला "निज आयुध" धारी चतुर्भुजरूप, परमात्मा का गौण रूप ही हुआ। उधर रामविग्रह की यह खूबी है कि उसमें सच्चिदानन्द का रूपक पूरी तरह बंध जाता है। कार्मुक कर्म का अथवा शक्ति या सत् का द्योतक है क्योंकि वह क्षत्रियों का विशेष चिह्न है। बाण, ज्ञान अथवा चित् का द्योतक है क्योंकि ज्ञान के समान उसका भी सर्वत्र प्रवेश है और वह भी अपने लक्ष्यपर उसी प्रकार संलग्न हो सकता है। राम के रूप का माधुर्य ही आनन्दविग्रह है। शर-चापधर राम के इस सच्चिदानन्दत्व पर लौ लगाने वाले सुतीक्ष्ण उन्हीं राम के चतुर्भुजरूप को देखकर एकदम व्याकुल हो उठे थे।[1] यह हुआ रूप के सामञ्जस्य का

---

१. गोस्वामी जी ने राम शरचापधर द्विभुज किशोररूप का ही यद्यपि विशेष ध्यान किया है तथापि भक्तों की भावना के अनुसार उन्होंने कहीं इनके बालकरूप का, कहीं शक्तिसंयुक्त रूप का कहीं शक्ति और अंश-संयुक्त (सीता और लक्ष्मण) रूप का और कहीं सखावेष्टित रूप का भी ध्यान लिखा है। रामरहस्योपनिषद् में राम की निर्विघ्न पूजा के लिए सखावेष्टित रूप की आवश्यकता बताई गई है। गोस्वामी ने सखावेष्टित रूप की पहली झाँकी सुवेल शैल पर और दूसरी सिंहासनारोहण के समय दिखा दी है। "राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर" वाला ध्यान अनेक दृष्टियों से बहुत प्रशस्त है। राम विष्णु हैं, लक्ष्मण महाकाल शिव हैं, क्योंकि वे कालानलसंचारकारी संकर्षण के अवतार हैं और सीता मूल प्रकृति महामाया का अवतार होने के कारण (देखिए सीतोपनिषद्) सृजनशक्तिसम्पन्न ब्रह्मा का प्रतिरूप हैं। फिर, राम निर्गुणब्रह्म हैं (क्योंकि उनमें सब रंगों का लय है) लक्ष्मण सगुणब्रह्म हैं (क्योंकि उनके उज्ज्वल वर्ण में सब रंग विकसित हैं) और सीता वह मायाशक्ति हैं जो सगुण और निर्गुण के बीच व्यवधान रूप से रह कर भी निर्गुण की अंकाश्रयिणी हैं।

हाल। राम की लीलाओं का रहस्य तो पहिले ही बता दिया गया है। मानवी लीलाएँ होते हुए भी वे निराकार (सगुण) परमात्मा के विशिष्ट दिव्य गुणों को प्रकट करनेवाली और सुराकार परमात्मा की ओर भक्तों को विशेष आकृष्ट करने वाली बन गई है। अब रही धामकी बात। सो यद्यपि 'लोक-विसोक बनाइ बसाये' (१३-५) में गोस्वामी जी ने यह ध्वनित कर दिया है कि राम ने एक शोकहीन निज धाम बनाकर उसमें अपनी सब प्रजा को बसा दिया था तथापि उन्हें यह अभीष्ट न था कि वे विष्णु नारायण अथवा कृष्ण से अपने राम को एकदम पृथक् होने दें। इसलिए बैकुण्ठ, क्षीरसागर अथवा गोलोक (या वृन्दाबन) की तरह साकेत का भिन्न रूप से लम्बा चौड़ा वर्णन न करके उन्होंने श्रोताओं को भ्रम में पड़ने से बचा लिया है।

विशिष्टाद्वैत के मत से चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर ही परम आराध्य है। सो, इस झाँकी में लक्ष्मण हुए चित् (जीव) और सीता हुई अचित् (माया)। इन दोनों से विशिष्ट राम हुए ईश्वर। इसलिए विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के रामभक्तों के लिए तो यही झाँकी परम प्रशस्त है। द्वैताद्वैत विचारवाले भक्त युगल सरकार (शक्तिसंयुक्त रूप) का भेदाभेद बताते हुए गोस्वामी जी के "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" को महत्त्व देते और सीताराम-पदवन्दना के लिए वही झाँकी चुनते हैं। अद्वैत वेदान्तियों को "बालक रूप राम कर ध्याना" (४९७-२२) ही इष्ट है क्योंकि उनके मत में ब्रह्म तत्त्व अद्वैत है। बालकरूप ही सब रूपों का आदिमरूप है। वहाँ न द्वैताद्वैत है न द्वैत है न त्रैत है। इसीलिए वे "इष्टदेव मम बालक रामा" (४७६-१७) की बात कहते हैं। गोस्वामी जी ने अपनी कथा शंकर और भुशुंडि से ली है। ये दोनों ही बालकरूप राम के उपासक थे। गोस्वामी जी ने भी इस मानस में शरचापधर राम के एकाकी रूप का और उनके एकाकी नाम का ही विशेष ध्यान किया है। इसलिए आराध्य के रूप का ऐसा वर्णन भी यह सिद्ध कर रहा है कि गोस्वामी जी को अद्वैत सिद्धान्त ही विशेष रूप से मान्य था।

उन्होंने तो साकेत का नाम तक नहीं लिया। यदि उनके लोक की बात जाननी हो तो उनके द्वारा शासित अयोध्या का हाल पढ़ लिया जावे। वहाँ "नहिं भय शोक न रोग" था। 'अलप मृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा" ही वहाँ की सामान्य अवस्था थी। वहाँ के लोग "सब सुन्दर सब विरुज शरीरा' थे। भगवान् राम जब कि इस भारत में अब भी विद्यमान हैं तब उनके लिए किसी विशिष्ट लोक की चर्चा करने से लाभ ही क्या है। जबकि "हरि व्यापक सरवत्र समाना" हैं तब फिर उन्हें "साकेत-विहारी" की सीमा में आवद्ध कर देना कहाँ तक युक्तिसंगत है। इसलिए गोस्वामी जी ने धाम के विषय को अवध से लेकर बैकुण्ठ, क्षीरसागर आदि तक पहुँचा कर तथा साथ ही कहीं भी सीमाबद्ध न करके नराकार आराध्य सुराकार आराध्य और निराकार आराध्य में स्पष्ट सामञ्जस्य ही स्थापित कर दिया है।[1]

---

१. गोस्वामी जी की ऐसी चेष्टा रहते हुए भी रामदास गौड़ प्रभृति अनेकानेक विद्वानों ने बैकुण्ठवासी, क्षीरशायी और साकेतविहारी की अलग-अलग सत्ता और उनके अलग-अलग रामावतार माने हैं। जयराम-दास दीन ने कल्याण में इस विषय का अच्छा उत्तर दिया है (कल्याण भाग ५ सं० ५, ६ और १०)। गोस्वामी जी ने राम को विष्णु का अवतार बताते हुए भी जो विष्णु से श्रेष्ठ कह दिया है, जान पड़ता है कि उसी से लोगों ने समझ लिया कि मानस में अनेक रामों की कथाओं का सामंजस्य है। जिस प्रकार राजा की शक्ति सेनापति के रूप में प्रकट होकर जगद्-रक्षा का भार अपने ऊपर लेती है और सिपाही उसी सेनापति से शक्ति पाकर असाधुओं का दमन और साधुओं का संरक्षण किया करता है उसी प्रकार ब्रह्म विष्णु और अवतार की कथा है। अब राजा यदि लीलावश स्वतः सिपाही का कार्य करने लगे तो वह अपने सिपाहीपन के कारण सेना-पति का मातहत (विष्णु का अवतार) और अपने राजापन के कारण सेना-पति का अफसर (विष्णु का सृजक और नियन्ता) ही कहावेगा। राम इसी न्याय से विष्णु के अवतार भी हैं और विष्णु के शासक भी।

इन्द्रादि वैदिक देव एक तो तंत्राचार के प्रभाव से क्षुद्र सिद्धियों के अधीश्वर कहे जाकर कामनाशील लोगों को चक्कर में डाल रहे थे, दूसरे वे स्वतः भोगायतनधारी बनकर विषयी जीवों की कोटि में परिगणित हो रहे थे, तीसरे उनके सम्बन्ध की लीलाएँ भी (जो पूर्वकाल में संभवतः रूपक थीं परन्तु परकाल में ऐतिहासिक घटनाएँ मानी जाने लगीं, यथा सरस्वती के पीछे ब्रह्मा का भागना, अहल्या के लिए इन्द्र का छलछद्म, गुरुपत्नी के साथ चन्द्र का सहवास आदि) मानव समाज के लिए कोई अच्छा आदर्श स्थापित करने वाली नहीं थी; इसलिए गोस्वामी जी ने उन सबकी पूजा हटा दी। जिन देवताओं को उन्होंने सम्मान्य माना है उनमें श्रीकृष्ण भगवान् ही ऐसे हैं जिनका चरित्र रामचरित के समान विशद हैं। परन्तु श्रीकृष्ण चरित्र सिद्धावस्था का चरित्र होने के कारण सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता। रामचरित में यह बात नहीं है। उस चरित्र से आबालवृद्धवनिता सभी मनुष्य मनचाहा लाभ उठा सकते हैं। वह चरित्र लोकमर्यादा का संरक्षक है विघातक नहीं। गोस्वामी जी ने अपने आराध्यके चरित्र का यह उज्ज्वल पक्ष देखकर ही भारत में उनकी भक्ति के प्रचार का इतना प्रशस्त प्रयत्न किया है।

तुलसीदास जी ने अपने राम को जैसा समझा है, यदि हर कोई अपने आराध्य का वैसा ही रूप समझ जाय तब फिर कहना ही क्या है। इस प्रसङ्ग में एक कथा ध्यान देने योग्य है। कोई साधु गङ्गा पार कर तुलसीदास जी से मिलने आया। लौटते समय नाव न मिली तब तुलसीदास जी ने कहा "राम का नाम लेकर तो लोग भवसागर पार कर जाते हैं फिर तुम क्या उनके भरोसे यह नदी नहीं पार कर सकते?" साधु राम राम कहता गङ्गा में घुस पड़ा परन्तु थोड़ी दूर में ही वह डूबने लगा। तब गोस्वामी जी ने कहा "भाई, 'तुलसी के राम मुझे तार दें' ऐसा कहते हुए जाओ।" साधु ने ज्योंही ऐसा किया त्योंही आसानी से पार हो गया। उसे उस समय यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसके राम भिन्न हैं और तुलसीदास के राम भिन्न। उसका यह आश्चर्य जान किसी महात्मा ने एक पत्थर देकर

उससे कहा "जाओ बाजार से इसकी कीमत जाँच आओ।" साधु गया। शाकवणिक ने उसे अनिच्छापूर्वक चार पैसे में माँगा, पसारी ने एक रुपया कीमत आँकी, सुवर्णकार ने पाँच दस रुपये देने चाहे और सच्चे जौहरी ने उसे अनमोल बताकर लाखों रुपये उस पर न्योछावर कर देने चाहे। गोस्वामी जी के रामरूपी चिन्तामणि पर भवसागर पार होने का मूल्य न्योछावर है। परन्तु उस मणि को यदि कोई विषयी पुरुष शाकवणिक बनकर ग्रहण करना चाहे तो शायद चार पैसे का भी लाभ न उठा सकेगा। इसी विचार से कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के राम जुदा-जुदा हैं और उसे उसके ही राम तार सकते हैं न कि दूसरे के। वास्तव में राम एक ही हैं। लोगों की समझ के फेर के कारण ही अपने-अपने राम की बात कही जाती है। इसी दृष्टि से हमने भी इस परिच्छेद में तुलसी के राम की चर्चा की है, वाल्मीकि के राम अथवा कालिदास के राम की नहीं। यदि कोई राम राम कहकर भी गोस्वामी जी की प्रतिज्ञा के अनुसार परम पावनता नहीं प्राप्त कर रहा है[1] तो दोष उसका है न कि गोस्वामी जी का, क्योंकि वह अपने राम को उसी प्रकार नहीं पहिचान रहा है जैसे गोस्वामी जी ने पहिचाना था।

गोस्वामी जी ने अपने राम का जो चित्र प्रकट किया है उसके सम्बन्ध में हम कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ देकर यह परिच्छेद समाप्त करते हैं।

साहित्याचार्य प्रो० जनार्दन मिश्र एम० ए० लिखते हैं :—

"तुलसीदास के ग्रन्थों में रामोपासना का अन्तिम अर्थात् पूर्ण परिपक्व रूप देखने में आता है।" पृष्ठ ३६ हिन्दू संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना।

हिन्दी विश्वकोषकार श्री नरेन्द्रनाथ वसु महोदय कहते हैं :—

---

१. राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥२४५-१९॥

"शंकराचार्य के ब्रह्म को इन्होंने राम के नाम से प्रसिद्ध किया है।" विश्वकोष भाग ९, पृष्ठ ६८६।

अजमेर के डाक्टर जे० एम० मेकफी महोदय एम० ए० पी-एच० डी० का कहना है :—

भारत जानता है कि "श्रीरामचन्द्र जी परब्रह्म के विशुद्धतम अवतार हैं।" भूमिका।

"हिन्दू धर्म में चारित्र्य और कारुण्य के प्रेमी श्रीरामचन्द्र जी का जो चित्र अंकित किया गया है वैसा और किसी विभूति का नहीं।" षोडश पृष्ठ।

"श्रीरामचन्द्र जी स्वयं तो मर्यादापुरुषोत्तम हैं ही परन्तु वे अपने भक्तों से भी ऐसा ही चाहते हैं।" षोडश पृष्ठ सेण्ट्रल थीम।

"गोस्वामी तुलसीदास की रचना में मनुष्यरूप भगवान् का परमोच्च और सच्चा आध्यात्मिक स्वरूप पाया जाता है। भारतीय साहित्य में उनका नायक अपना सानी नहीं रखता।" पृष्ठ २५२।

---

१. देखिए "दि रामायन आफ तुलसीदास आर दि बाइबिल आफ नार्दन इण्डिया।"

किरण चूंकि सूझ की एक किरण है इसलिए वह प्रासादस्थ सभी वैभवों के दर्शन करके तज्जन्य आनन्द उठाना चाहती है। वह इसके लिए अपनी ओर से बहुत प्रयत्न करती है—खूब फैलने फूलने की चेष्टा करके सूर्य के समान ही समग्र दर्शन के उपयोग का आनन्द चाहती है—परन्तु जब तक उसके ऊपर छिद्र के आकार-प्रकार का बन्धन लगा हुआ है तब तक क्या वह ऐसा कर सकती है? उसे तो विवश होकर उस छिद्र के आकार-प्रकार के अनुसार ही चलना पड़ेगा। उस नियमित परधि को लिए वह किरण सूर्य कदापि नहीं कहा सकती न सूर्य बन ही सकती। यदि किसी प्रकार उसे ऐसी शक्ति मिल जाय जिससे वह अपनी इस सीमा को ही तोड़ सके—प्रासाद के समग्र आवरण ही का ध्वंस कर सके—तब तो अकेले एक प्रासाद की कौन कहे वह समस्त ब्रह्माण्ड के वैभव का दर्शनानन्द प्राप्त कर सकती है और फिर कोई भी उसे सूर्य से पृथक् नहीं कर सकता। ठीक यही हाल जीवात्मा का है। वह महामोह के आवरण में परिच्छिन्न बनकर[१] अपने संकीर्ण व्यक्तित्व के मार्ग से आगे बढ़ना चाहती है और इसी मार्ग से बढ़ कर इस संसार के समग्र आनन्द का उपभोग कर लेना चाहती है। इस प्रयत्न में निश्चय ही उसे दुःख उठाना पड़ता है। उसके पास इतनी शक्ति अवश्य है कि वह अपनी संकीर्णता ही को दूर कर ले—प्रासाद के छिद्र ही को इतना बढ़ा ले कि उसके लिए प्रासाद का—महामोह का, कोई आवरण ही शेष न रह जाय। यदि वह ऐसा कर ले तब तो फिर उसके लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो जाय। परन्तु अपने उस छोटे से छोटे छिद्र पर—अपने उस संकीर्ण व्यक्तित्व पर—निरन्तर साहचर्य के कारण, उसको इतनी आसक्ति सी हो जाती है कि उसे हटाने की ओर उसका ध्यान तक नहीं जाता। यही भगवान् की लीला है और इसी लीला का आश्रय लेकर उनका आनन्द इस संसार महानाटक के रूप में तरंगित होता रहता है।

---

१. करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥
४६२-९

भगवान् अपने ही अंशों के साथ अपनी लीला किया करते हैं। कभी उन अंशों को बाँधकर चक्कर दिलाते हैं कभी उनके बन्धन खोलकर उन्हें वे आनन्द में मग्न कर देते हैं। उनकी जिस लीला से जीवों पर बन्धन पड़ते हैं उसका नाम है माया[1] (अविद्या माया) और जिस लीला से वे बन्धन खुल जाते हैं उसका नाम है भक्ति। जिस प्रकार उनकी इस लीला का कोई आदि नहीं—यह विधिप्रपंच अनादि है[2]—उसी प्रकार उनके अंशों का भी कोई अन्त नहीं—कोई गिनती नहीं[3]। अग्नि की चिनगारियाँ उससे निकलती हैं उसी में लीन होती हैं फिर नई निकलती फिर लीन होती हैं। यही क्रम चलता रहता है। वे बुझकर भी अव्यक्त अग्नि ही बनी रहती हैं। बुझ जाने पर उनका व्यक्त रूप भले ही न रह जाय परन्तु अखिल विश्व में ओतप्रोत रहने वाले अलक्षित अग्नितत्त्व के साथ उनका तादात्म्य हो जाने के कारण, हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उनकी तात्त्विक सत्ता विद्यमान है। ईश्वरांश जीवों का भी यही हाल है। वे इसी प्रकार प्रकट होते रहते हैं, वृद्ध होते रहते हैं, मुक्त होते रहते हैं और ईश्वर अथवा ब्रह्म में लीन होते रहते हैं। परन्तु ऐसा परिवर्तनशील होते हुए भी वे अविनाशी कहलाते हैं।[4]

जीव यदि इस संसार में सुख चाहता है तो उसे आवश्यक है कि वह भगवान् की मायाशक्ति को समझ ले। गोस्वामी जी कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियाँ और पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा उन विषयों से उत्पन्न विकार, मन की दौड़ जहाँ जहाँ तक जाय सब पदार्थ—कहने का अर्थ यह है कि

---

१. देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही ॥९५-१७, १८

२. विधि प्रपंचु अस अचल अनादी।२७९-११

३. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षरा द्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।
(मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड, प्रथम छन्द)

४. ईश्वर अंस जीव अविनासी। ५००-९

अखिल ब्रह्माण्ड ही माया है[१]। जहाँ तक मैं मेरा और तू तेरा का सम्बन्ध है—द्वैत भाव की दौड़ है—वहाँ तक माया का साम्राज्य समझना चाहिए। इस माया के दो भेद हैं। एक का नाम विद्या है और दूसरे का नाम अविद्या है। विद्या के सहारे तो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का चक्र चला करता है और अविद्या के सहारे नियति का चक्र चला करता है। माया की विद्या-शक्ति तो संसार-लीला के प्रवाह के लिए आवश्यक है। उसकी अविद्या-शक्ति, जो दुष्ट और दुःखरूप कही गई है, आनन्द का स्वारस्य स्पष्ट करने के लिए विपर्यय (Contrast) का काम देती है।[२] जो अति आतप से व्याकुल होता है वही तरुछायासुख का सच्चा रस प्राप्त करता है। जो मोहमुग्ध होकर अशान्त बनेगा ही नहीं वह शान्ति का पूरा आस्वादन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार भगवान् की लीला में अविद्या माया की भी एक विशिष्ट उपयोगिता है।

विचारदृष्टि से देखने पर विदित होगा कि जिस प्रकार नाटक का अभिनय केवल अभिनय मात्र है उसी प्रकार इस संसार रूपी महानाटक का सम्पूर्ण व्यवहार स्वप्नतुल्य है[३]। वह आदि सूत्रधार इस महानाटक

---

१. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुनबस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बलु ताके॥
३०७-३३ से २७

२. जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥
जो नहिं होत मोह अति मोहीं। मिलतेऊं तात कवन विधि तोहीं॥
४७२–१७, १८

३. सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥२०६-१२

में अपने भाँति भाँति के रूप दिखाता है परन्तु वास्तव में वह कुछ दूसरा ही रहता है[१]। उस खिलाड़ी ने अपने खेल में अविद्या की झूठी ग्रन्थियाँ बाँध रखी हैं जिससे जड़ और चेतन के बीच एक मजबूत बन्धन सा पड़ गया है। परन्तु वास्तव में देखिए तो यह बन्धन मृषा ही है, भ्रम ही है, महामोह का एक अंग ही है[२]। असल में तो ज्ञानवान् लोगों को कोई गाँठ दिखाई ही नहीं पड़ती। उन्हें तो सर्वत्र और सर्वदा केवल ब्रह्म ही ब्रह्म का अनुभव होता है। जीव वास्तव में सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। केवल भ्रमवश वह अपने को सच्चिदानन्द से पृथक् समझ रहा है[३]। अपूर्ण प्रकाश रहने पर रस्सी में जिस प्रकार साँप का भ्रम होता है, शुक्ति में चाँदी का भ्रम होता है, आँख में अँगुलि लगाने पर जिस तरह दो चन्द्रों का भ्रम होता है, नौकारूढ़ होकर चलने पर वृक्षों के दौड़ने का भ्रम होता है, उसी तरह शरीरी हो जाने पर—महामोहग्रस्त हो जाने पर—चैतन्य को अपने जीवत्व का भ्रम होता है[४]। सो—ताहि और तैं—तोहिं अथवा तत् और त्वं में कोई भेद नहीं है

उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना।।
३२२–१५

१. **जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।**
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।। १७५-११, १२

२. **जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।**
५००–११

३. **ज्ञान मान जहँ एकहु नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।।**
३०७–२८

४. **यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। २.६**
झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने, जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।।
५७-१३-१४

यदि लीलावश कोई भेद माना भी गया तो वह उसी प्रकार का है जैसा समुद्र और लहरों में हुआ करता है[१]। भेद का भ्रम मिथ्या अवश्य है। परन्तु वह ऐसा प्रबल है कि कोई उसे आसानी से टाल ही नहीं सकता[२]। विधि हरिहर तक इसी बन्धन में जकड़े रहते हैं। जब प्रधान देवों का यह हाल है तब अनेकानेक ऋषि मुनियों का इसके इशारों पर कई बार नाच चुकना कोई आश्चर्य की बात नहीं।[३]

विद्यामाया से सृष्टि, स्थिति, प्रलय अथवा यों कहिए कि रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण का तारतम्य चला करता है। इसी से क्षिति, जल, नभ, पावक, पवन की रचना होती है। इन्हीं पंचतत्त्वों से शरीर बनते हैं और शरीर में चेतनता का विकास होने से जीवों का संगठन होता है। शरीर-सम्बद्ध होने के कारण जीव अपने को शरीर-परिच्छिन्न और इस प्रकार व्यक्तित्व-विशिष्ट मानने लगता है। इसी मानने लगने का नाम अविद्या है। इसी के कारण जीव संसारी बन जाता है।

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।।
यहि विधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।।
जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे दुख दूरि न होई।।
५९—२२ से २६

चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये।।
५९—१७

नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा।।
४७५—१७

१. सो तैं ताहि तोहिं नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा। ४९६-८

२. जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि। ५९-२४

३. सिव विरंचि कहं मोहइ को हइ बपुरा आन।४०७-२१
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं अपर जीव केहि लेखे मांही।।४७४-२०

प्रकृति के गुणों के कारण उसे देह मिलती है, देह के कारण वह अहंकार की भावना से प्रेरित होकर विविध कर्म करता है, कर्मों के कारण उसके स्वभाव का निर्माण होता है, स्वभाव के अनुसार फिर कर्म होते हैं। स्वभावज कर्मों से बद्ध होकर वह उनके फल भोगता है। इस फल का भोग करानेवाला है कालप्रवाह जिसके कारण जीव को राजस, तामस, सात्त्विक आदि देहें मिला करती हैं और स्वर्ग नरक अथवा सुख दुःख के द्वन्द्व में उसे रहना पड़ता है।[1] यह काल दुरतिक्रम है। ऐसा कौन है जिसे उसने अपने डण्डे से न सीधा किया हो।[2] काल कर्म गुण स्वभाव ही का नाम नियतिचक्र

---

१. इन पंक्तियों में गोस्वामी जी के अनेक वाक्यों का निष्कर्ष दिया गया है। काल को उन्होंने कहीं विधि और कहीं ईश्वर लिखा है। देखिए--

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फल हृदय बिचारी॥
२०४-६

कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥
२७९-९

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता॥
४६२-२

नियतिचक्र के वर्णन के सिलसिले में 'काल, कर्म, स्वभाव, गुण' का कई स्थानों पर कई प्रकार से उल्लेख किया गया है। देखिए "कालहि करमहि ईश्वरहि मिथ्या दोस लगाइ" (४६३-२) काल कर्म सुभाव गुन भच्छक"। ४५९-२३। "काल करम विधि सिर धरि खोरी"। २६४-२७। "काल करम गति अघटित जाना"। (२३४-९) "काल करम सुभाव गुन घेरा" (४६३-७) "काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुमहि न व्यापहि काऊ" (४९८-१०) आदि।

२. कालु सदा दुरतिक्रम भारी। ४०५-२२
कालु दण्ड गहि काहि न मारा॥३९१-२

है। इसी नियतिचक्र में संसार के समग्र जीव बँधे हुए हैं। ऐसा कौन जीव है जो इस निष्ठुर नियतिचक्र के अंकों को मेट सके।[1]

जो ज्ञानी हैं वे यदि इस चक्र के कारण विषम दशाएँ भी पाते हैं तो इसे "ईश्वरेच्छा बलीयसी" कह कर धैर्य ही धारण कर लेते हैं और जो मूर्ख हैं वे एकदम बिलबिला उठते हैं तथा कभी काल को कभी कर्म को कभी दैवरूपी ईश्वर ही को दोष देने लगते हैं। नियतिचक्र के कारण जो जिस अवस्था में रख दिया गया है उसे उसी अवस्था में सन्तोष मानकर अपनी वास्तविक उन्नति का प्रयत्न करना चाहिए। इसी में उसे सुख मिल सकता है अन्यथा नहीं।[2] यह अवश्य है कि उसके व्यावहारिक कर्म नियति-

---

१. कह मुनीस हिमवन्त सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनहार॥
६६—२१, २२

सो न टरइ जो रचइ विधाता..तुम्हसन मिटहिं कि विधि के अंका॥
५०८ से १०

ईस अधीन जीव गति जानी। (२७२—४)
कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृतकर्म भोग सब भ्राता।
२०५—२४

करमु प्रधान सत्य कह लोगू॥ (२०५—१८)

२. नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत॥
३३१—२४

उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥
३३३—२०

जनम मरन सब दुखसुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा।
काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं।

परवश हैं।[1] क्योंकि अपने व्यावहारिक कर्मों में वह अपने व्यक्तित्व का दायरा कायम रखकर ही आगे बढ़ता है। परन्तु अपने इस व्यक्तित्व ही को छिन्न-भिन्न करने में—अपने आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए कर्म करने में—परलोक सँवारने में—वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है।[2] यदि इस ओर प्रयत्न न करके केवल "दैव दैव" कहकर कोई ईश्वर को दोष देता रहे तो यह उसकी मूर्खता ही है।[3]

माया ईश्वर की शक्ति है और इस प्रकार नियतिचक्र को भी ईश्वरेच्छा ही कहना चाहिए।[4] भगवान् चाहें तो बिधिगति छेंक सकते हैं, भावी को मेट सकते हैं। परन्तु ऐसा वे कब करते हैं? जब देख लेते हैं कि जीव उनके बताए हुए नियमों का अवलम्बन कर इस बात का अधिकारी हो गया है। यदि नियतिचक्र के प्रवर्तन और निवर्तन में कोई नियम ही न रहे तो नाटक का सब मजा ही किरकिरा हो जाय। इसीलिए भगवत्

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।।
२२८ ७ से ९

प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई।।
३६९–२२

१. अनेक विद्वानों की तो राय है कि मनुष्य हर तरह के कर्म करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। केवल कर्मफल भोग के ही लिए वह परतन्त्र है।

२. कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।।४६३-८
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताय।
४६२–२४
कालहि करमहि ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय।।४६३-१, २

३. कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।। ३६६-१३

४. हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना।।३१-२४

कृपा सम्पादन के हेतु भी जीवों को पुरुषार्थ की आवश्यकता है और इसके लिए वे स्वतंत्र हैं।[1]

इस पुरुषार्थ के लिए पहिले यह देखना चाहिए कि अविद्या के प्रधान अङ्ग कौन कौन हैं, उसका परिवार कैसा है, उसके प्रहार से किस प्रकार के मानस रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इत्यादि। तब फिर यह सोचने की जरूरत है कि इसे दूर करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जाय !

शरीर के सम्पर्क से चैतन्य में जीवत्व की भावना आती है अर्थात् वह देही होकर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को एक पदार्थ और उस व्यक्तित्व से भिन्न सम्पूर्ण जगत् को दूसरा पदार्थ समझने लगता है। यह द्वैतभाव ही अविद्या अथवा अज्ञान का प्रथम रूप है। इसी भाव के कारण वह "मैं" के साथ "मेरा" का सम्बन्ध जुटाता है—अपने उस क्षुद्र (संकीर्ण) व्यक्तित्व के लिए अनेकानेक सामग्रियों पर अपना आधिपत्य जमाता है—और "मैं—मेरा" से पृथक् पदार्थों को "तू—तेरा" की दृष्टि से देखने लगता है। इसी द्वैत बुद्धि का परिणाम है राग द्वेष का द्वन्द्व।[2] राग ही को काम और लोभ समझिए और द्वेष ही को क्रोध। इस प्रकार काम, क्रोध और लोभ ही अविद्या के सर्वप्रधान अङ्ग हैं।

गीता में कहा गया है :—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

गीता १६-२१

गोस्वामी जी कहते हैं :—

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि-विग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥ ३२२-७, ८

---

१. यह बात तुलसीदास जी के अनेक वाक्यों का सार लेकर लिखी गई है।

२. द्वैत-बुद्धि बिनु क्रोध कि द्वैत कि बिनु अज्ञान।४९६-२१

लोभ के ब्रह्मास्त्र हैं इच्छा और दंभ, क्रोध का ब्रह्मास्त्र है परुष वचन और काम का ब्रह्मास्त्र है नारी।[1] नारी रूपी ब्रह्मास्त्र तो, गोस्वामी जी के मत में, "अति दारुण दुखद' और एकदम माया का रूप ही है। मनुष्य को इन्हीं ब्रह्मास्त्रों से बचने के लिए गोस्वामी जी स्थान-स्थान पर असन्तोष दम्भ आदि की निन्दा करके मिष्ट भाषण आदि की प्रशंसा करते गये हैं और इसी अभिप्राय से अन्य सन्तों और आचार्यों की तरह उन्होंने भी "नारी" की खूब निन्दा की है। काम, क्रोध और लोभ अति प्रबल खल तथा नरक के पन्थ बताये गये हैं सही, परन्तु सृष्टि की रक्षा के लिये इन तीनों "खलों" की आवश्यकता भी है। इसीलिए ये विद्यमान हैं और इसीलिए महात्माओं के उपदेश सुनकर भी लोग इनकी सेवा करते ही जाते हैं। महात्मा लोग यह बात जानते हैं। जानबूझ कर भी वे लोग इन तीनों से बचते रहने का उपदेश देते हैं क्योंकि वे चाहते हैं कि लोग इनके चक्कर में यहाँ तक न फँस जायँ कि फिर धर्म का ही विरोध हो जाय। स्ववं भगवान् ने गीता में अपने को "धर्म विरुद्ध काम" कहा है।[2] गोस्वामी जी तक ने लोभी के दाम की तरह राम की ओर लोभ दिखाया है।[3] उन्होंने हरिहरनिन्दा करनेवाले

---

१. लोभ के इच्छा दंभ बलु काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष वचन बलु मुनिबर कहहिं विचारि।।३२२-९, १०
एहि के एक परम बलु नारी। तेहितें उबर सुभट सोइ भारी।।
३२१-६
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि।।३२४-१५, १६
अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।।२२४-२५
दीप सिखा सम जुवति तनु मन जनि होसि पतंग।
भजहिं राम तजि काम मद करहि सदा सत संग।।३२५-२५, २६
२. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।गीता अ० ७ श्लोक ११
३. कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम।।५२०-२, ४

की जीभ काट लेने तक को जायज़ करार देकर सात्त्विक क्रोध को बहुत दूर तक स्वीकार कर लिया है।[1] साधुमत की दृष्टि से—व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से भले ही इनके परित्याग की बात कह दी जाय[2] परन्तु लोकमत की दृष्टि से तो इनका समूल उन्मूलन नहीं वरन् इन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेना ही अभीष्ट है। जो इन तीनों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेते हैं उन्हें ईश्वर ही समझना चाहिए।[3]

अविद्या के परिवार की तो कोई सीमा ही नहीं। मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, मद (धनमद, प्रभुत्वमद, गुणमद, मानमद, यौवनमद) ममत्व, मत्सर, शोक, चिन्ता, मनोरथ, ईषणा (पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा) इत्यादि के नाम गिनाकर गोस्वामी जी कहते हैं कि माया का यह परिवार प्रबल भी है और अमित भी है।[4] रोगों का[5] रूपक देकर उन्होंने अविद्या माया के इसी परिवारकी चर्चा दूसरी बार भी की है। वे कहते हैं कि मोह ही सब व्याधियों का मूल है। काम, क्रोध, लोभ ही वात, पित्त, कफ हैं। विषय मनोरथ ही अनेक प्रकार के शूल हैं। ममता और ईर्ष्या ही दाद,

---

१. संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। कान मूँदि न तु चलिय पराई॥
३५-१, २

२. काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पन्थ।
सब परिहरि रघुबीर ही भजहु भजहिं जेहि सन्त॥३६१-१६, १७

३. नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जा जागा॥
लोभ पास जेहि गर न बंधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
३३७-२२, २३

४. "मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही" से लेकर—
"यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥"
तक। पृष्ठ ४७४, पंक्ति ७ से १९ तक।

५. देखिए पृष्ठ ५, ४ पंक्ति ११ से २६।

खाज हैं। हर्ष विषाद ही अपने विविध रोगकारी ग्रह हैं। परसुख देखकर जलना ही क्षयी है और मन की दुष्टता ही कुष्ठ है। अहंकार ही भयंकर डमरू रोग है और दम्भ कपट मद मान ही नाहरू रोग है। तृष्णा जलोदर है और त्रिविध ईषणा ही तरुण तिजारी है। मत्सर और अविवेक ही दोनों प्रकार के ज्वर हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक कुरोग हैं जिनकी गिनती करना ही कठिन है। अविद्या-परिवार के रोग रूपी इन सब दुर्गुणों का मूल है वही मोह-महामोह—व्यक्तित्वाभिमान। इसी का नाम है विशिष्ट व्यक्तित्व। इसी के लिए गोस्वामी जी ने कहा है :—

संसृति मूल सूलप्रद नाना। अखिल सोकदायक अभिमाना।। ४०६-६
मोह सकल व्याधिन कर मूला। तातें पुनि उपजहिं बहु सूला।। ५०४-१२

इसलिए यदि अविद्या माया का उच्छेद करने के लिए पुरुषार्थ करना है तो केवल काम, क्रोध, लोभ या अन्य असंख्य दुर्गुणों में से दस बीस या पचीस का दमन कर लेने से काम न चलेगा। उसका उच्छेद तो तब होगा जब व्यक्तित्वाभिमान ही का विध्वंस कर दिया जाय।

व्यक्तित्वाभिमान का विध्वंस तीन प्रकार से हो सकता है। या तो उसके प्रति अनासक्ति रखी जाय (यह वैराग्य का मार्ग हुआ) या उसे मिथ्या समझ लिया जाय (यह विवेक का मार्ग हुआ) या उसे भगवान् की ओर लगा दिया जाय (यह भक्ति का मार्ग हुआ)। पिछले मार्ग की चर्चा अगले परिच्छेद में होगी। यहाँ तो हम प्रथम दो मार्गों की ही बातें कुछ विस्तार से बता देना चाहते हैं।

व्यक्तित्वाभिमान से अनासक्ति होना कोई आसान बात नहीं। जन्म-जन्मान्तर से हमारे हृदयों में जो व्यक्तित्वाभिमान दृढ़ होता चला आया है उसे शिथिल करने के लिए भी दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता है।[1]

---

१. उपनिषद् भी कहती है—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन बिना न क्षीयते क्वचित।। मुक्तिक १४

इस अभ्यास का क्रम हमें धर्माचार्यों ने बताया है। उन्हीं की प्रेरणा से हम क्षुद्र व्यक्तित्व के बदले अपने महान् व्यक्तित्व की ओर अग्रसर होते और इस प्रकार क्रमशः समूची क्षुद्रता ही से विरक्त होकर आप ही आप व्यक्तित्वाभिमान से अनासक्त हो जाते हैं।

ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जिन्हें कीर्ति, भूति और सुगति प्रिय न हो। क्षुद्र व्यक्तित्व वाला मनुष्य एक ही समय के सुखोपभोग से शान्त नहीं हो जाता। वह चाहता है कि जीवन भर उसे ऐसा ही, बल्कि इससे भी अधिक सुखोपभोग मिलता जाय। यह हुआ भूति-प्रेम का श्रीगणेश। उसके विचारों का कुछ विकास होते ही वह परलोक की भी चिन्ता करने लग जाता है और सोचता है कि इस जीवन के बाद भी उसे सुखोपभोग की सामग्रियाँ मिलती रहें तो बड़ा अच्छा। यह हुआ सुगति प्रेम का श्रीगणेश। वह चूंकि समाज-सम्बद्ध है इसलिए वह यह भी चाहता है कि उसके आस-पास वाले उसके आड़े न आवें---उसे बुरा न कहें। यह हुआ कीर्ति-प्रेम का श्रीगणेश। धर्माचार्यों ने मनुष्य की इन प्रवृत्तियों को पहिचान कर इष्टापूर्त[1] और स्वर्ग नरक के अनेक रोचक आख्यान रच दिये हैं जिनके कारण वह कीर्ति, भूति और सुगति की प्राप्ति के लिए धर्म की ओर सरलतापूर्वक आकृष्ट होता है और इस प्रकार क्रमशः इहामुत्र-फलभोग से विरक्त होकर अविद्या माया पर विजय प्राप्त करता है। जो मनुष्य इस मार्ग में अग्रसर हुआ वह निश्चय ही महान् के संग्रह में क्षुद्र का त्याग करता चला जायगा। यदि सद्यः लाभकारी जुए की ठेकेदारी और कीर्तिलिप्सा के बीच द्वन्द्व उपस्थित हुआ तो धर्मशील व्यक्ति उस ठेकेदारी का त्याग कर देगा। यदि खयानत किये हुए धन से इष्टापूर्त आदि रचकर कीर्ति कमा लेने की इच्छा और सुगति में

---

१. यज्ञ याग "इष्ट" हैं और कुएँ, तालाब आदि बनवाना "पूर्त" हैं। ये स्वर्ग के साधन माने गये हैं।

२. धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।।
१९८-२

द्वन्द्व हो रहा है तो धर्मशील व्यक्ति उस कीर्तिलिप्सा का त्याग कर देगा। यदि जगत्साम्राज्य और भगवत्प्राप्ति के बीच द्वन्द्व हो रहा है तो वह जगत्-साम्राज्य का त्याग कर देगा।

परन्तु ऐसा त्याग एकदम नहीं बन पड़ता। वह घोर परिश्रमसाध्य है। धर्म को जानते हुए भी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को जानते हुए भी उस ओर से निवृत्ति नहीं होती।[1] धर्माचरण की ओर सतत परिश्रम करते रहने से ही उस ओर प्रवृत्ति और उसके विपरीत आचरण की ओर से निवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है। यही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। अधर्म सद्यः सुख-दायक है—भले ही वह सुख क्षणिक हो—इसलिए क्षुद्र व्यक्तित्व वाले मनुष्यों का अधर्म की ओर झुकना स्वाभाविक है। मन की इस प्रवृत्ति के कारण अधर्माचरण बड़ा सुगम जान पड़ता है और धर्माचरण के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। इसलिए धर्म-नीति का अधिकारी बनने के लिए केवल कीर्ति-भूति—सुगति—प्रियता ही की आवश्यकता नहीं है वरन् यह भी आवश्यक है कि धर्म-धुर धारण करने की धीरता भी अपने पास हो।[2] जो धीरता के साथ धर्माचरण करता जायगा वह धर्म में ही वह मजा पाने लगेगा कि इसके आगे अपने प्राणों को भी तुच्छ ही समझेगा।[3] धर्म का प्रारंभ भले हो कष्टकारी हो

---

१. जानामि धर्मं नं च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं नं च मे निवृत्तिः।।

२. धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।।
१९८-२

नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कह ते अधिकारी
१९७-२२

३. रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहि बरु बचनु न जाई।।
१८१-२

सिव दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धनु तजेउ बचनु पनु राखा।।
१८२-१

परन्तु उसका परिणाम अतुल सम्पत्तियों का आकर रहा करता है। धर्मशील की सुख-सम्पत्ति के विषय में गोस्वामी जी कहते हैं :—

सुनि बोले गुरु अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥
जिमि सरिता सागर पहँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बोलाये। धरमशील पहिं जाहिं सुभाये॥
१३४—१३ से १५

सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मशीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं॥
३२२—२१, २२

धर्म क्या है और अधर्म क्या है यह परखना बड़ा कठिन है। गीता का कहना है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी इसके विवेचन में चक्कर खा गये हैं।[1] वही बात एक परिस्थिति में धम और दूसरी परिस्थिति में अधर्म हो जाती है। हम कुछ न करके चुपचाप बैठे रहें तो भी परिस्थिति भेद से हमारा वह मौन भाव कभी धर्म में और कभी अधर्म में परिगणित हो जायगा। धर्माचार्य लोग प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म विवेचन कहाँ तक कर सकते हैं? इसलिए उन्होंने अक्सर धर्म की सर्वसामान्य मोटी-मोटी बातों ही पर खास जोर देकर गीता के शब्दों में कह दिया है कि :—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥गीता १६—२४

सिवि दधीचि हरिचन्द नरेशा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥
२०६-२५, २६

१. किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः॥गीता ४-१६

यदि शास्त्र में भी व्यवस्था न मिले तो किसी तत्त्वदर्शी की शरण लेकर अपनी जिज्ञासा शान्त कर लेनी चाहिए।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। गीता ४।३४

गोस्वामी जी ने अपने मानस में अनेक स्थलों पर धर्मतत्त्वों की चर्चा की है। उन सबका क्रमबद्ध संग्रह कल्याणमार्गियों के लिए—और कल्याण-मार्गी ही क्यों, सर्वसाधारण के लिए भी—अध्ययन की एक सुन्दर वस्तु है। गोस्वामी जी के धर्मसिद्धान्त सम्बन्धी वाक्य तीन खण्डों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहिला खण्ड है व्यक्तिपरक, दूसरा है कुटुम्बपरक और तीसरा है राष्ट्रपरक। पहिले खण्ड में पुरुषों की परख उनके बैर प्रीति आदि की बातें, उनके विशिष्ट धर्म अर्थात् (१) सत्सङ्ग (२) सेवाधर्म और परहितव्रत (३) श्रद्धा-विश्वास और सन्तोष (४) सत्य और अहिंसा तथा (५) यज्ञ, दान, तप, जप और अर्चा की चर्चा, युगधर्म का विवेचन और धर्मरथ का सुन्दर रूपक सन्निहित होगा। दूसरे खण्ड में गार्हस्थ्य नीति की समूची बातें यथा माता, पिता की सेवा, बन्धुओं का महत्त्व, पुत्रों की परख, नारी का धर्म, सु और कु गार्हस्थ्य तथा जातीय सम्मान की बातें होंगी। तीसरे खण्ड में राजनीति का सब विषय आ जावेगा।

गार्हस्थ्य धर्म की बहुत सी बातें जीव कोटि वाले परिच्छेद में आ चुकीं हैं। यहाँ उन्हें दुहराना व्यर्थ है। राजनीति के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने अनेकानेक सुन्दर बातें कही हैं। शासन के आदर्श के सम्बन्ध में तो राम राज्य का पूरा प्रकरण ही मनन करने योग्य है। (देखिए पृष्ठ ४५३ से ४५४ तथा आगे की भी पंक्तियाँ) इसी प्रकार पृष्ठ ४५८ में पंक्ति ३ से १२ तक राम के प्रताप का जो वर्णन आया है वह भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य ही है। आदर्श शासन में राजा को मूर्तिमन्त विवेक होना चाहिए, मन्त्री को परम निर्लोभी मूर्तिमन्त वैराग्य की तरह रहना चाहिए, राज्यस्थल को न केवल सुन्दर वरन् पवित्र भी बना रहना चाहिए, सैनिकों को मूर्तिमन्त

यम नियम की भांति व्यवस्थापक और उपकारी होना चाहिए, रानी को शान्ति, सुमति और शुचिता के सौंदर्य का मूर्तिमन्त अवतार होना चाहिए। राजतंत्र के शेष जितने अङ्ग हैं उन सबसे सम्पन्न होकर वह सुराजा जब सदैव हरिभक्तिपरायण रहेगा, तभी दुर्जय राजमद पर विजय प्राप्त करके मोहमहीप को उसके दलबल सहित परास्त कर सकेगा। और इस प्रकार वह न केवल निष्कंटक होकर राज्य संचालन ही करेगा वरन् अपने उस आदर्श शासन के द्वारा वह प्रजाजनों के लिए सुख, सम्पत्ति और सुकाल के अक्षय भंडार भी भरता जायगा।[1] एक अन्य स्थल पर भी गोस्वामी जी ने सचिव को मूर्तिमन्त सत्य, रानी को मूर्त्तिमती श्रद्धा, सहचारी को मूर्तिमन्त लक्ष्मीपति सर्वलोकहितकारी विष्णु, कोष को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का सहायक तथा अक्षय आश्रयस्थान और प्रदेश को सुन्दर तथा पवित्र बना कर इसी आदर्शशासन का चित्र खींचा है।[2] सुराज्य की महिमा के सम्बन्ध में वे कहते हैं :—

राम बास बन सम्पति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
२६१–१३

अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराजु मंगल चहुँ ओरा॥
२६१–१५

---

१. सचिब विरागु विवकु नरेसू। विपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥
सकल अंग सम्पन्न सु राऊ। रामचरन आस्रित चित चाऊ॥
जीति मोह महिपाल दल सहित विवेक भुआलु।
करत अकंटक राज्य पुर सुख सम्पदा सुकालु ॥२६१-१४ से १८

२. सचिव सत्य स्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भंडारू। पुन्य प्रदेश देस अति चारू॥
२१०-२६, २७

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥
३३५–६

विविध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥
३३५–१४

उनके सुराज का उद्देश्य है "पुर नर नारी" को "सुभग, सुचि, सन्त, धरमसील ग्यानी, गुनवन्ता" (१०८-८) बनाना। उनके सुराज्य में "सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधरम निरत स्रुति नीती॥" (४५३–१३) ही अभिप्रेत है।

शासन के आदर्श की इस प्रकार चर्चा करके गोस्वामी जी शासन की नीति के सम्बन्ध में भी सुन्दर वाक्य कहते हैं। वे कहते हैं "राजु कि रहइ नीति बिनु जाने" (४९७–१) तथा "कुमन्त्र ते राजा......नासहिं बेगि नीति अस सुनी" (३१२–१८, १९) वे "राजु नीति बिनु" को "स्रम-फल" ही समझते हैं। (३१२–१६, १७) वे दमन व्यवस्था को—भय को—प्रीति सम्पादन का साधन मानते हुए कहते हैं "भय बिनु होइ न प्रीति" (३६९–८) "रन चढ़ि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई।" (३१०–१९) परन्तु दमन को—दण्ड को—राजनीतिचतुष्टय के अन्तर्गत करके वे साम दाम दण्ड भेद चारों को ही सद्धर्म पर आश्रित बना देते हैं और इस प्रकार अपनी राजनीति को कूटनीति की चाल-बाजियों से एकदम दूर हटा लेते हैं।[1]

---

१. साम दाम अरु दण्ड विभेदा। नृप उस बसहिं नाथ कह वेदा॥।
नीति धरम के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये।

धर्महीन प्रभु पद विमुख काल विवस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आये सुनहु कोसलाधीस॥
३९१-१४ से १७

शासक किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय में भी गोस्वामी जी ने बहुत उत्तम उक्तियाँ कही हैं। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित कुछ पंक्तियां देखने योग्य हैं।

साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ।।
४६–३

गुरु सुर सन्त पितर महि देवा। करइ सदा नृप सब कै सेवा।।
७४–२२

दिन प्रति देइ विविध विधि दाना। सुनइ सास्त्र वर वेद पुराना।।
७४–२४

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।
१९७–१६

मुनि तापस जिन्ह से दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावकु दहहीं।।
२१९–५

कहहुँ साँचु सब सुनि पतियाहू। चाहिय धरमसील नरनाहू।।
२३९–१९

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकवि सराहहिं सोइ।।
२८८–१४, १५

तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी।।

मुखिया मुख सों चाहिये खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक।।

राज्य धरम सरबसु एतनोई। जिमि मनमाहँ मनोरथ गोई।।
२९१–२४
२९२–१ से ३

इनमें से प्रत्येक पंक्ति पर बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु अन्तिम उद्धरण तो एकदम मार्के का ही है। उसकी गम्भीरता भलीभांति मनन करने योग्य है। पृष्ठ १८ में पंक्ति १० से १५ तक प्राकृत महीपालों का जो स्वभाव गोस्वामी जी ने बताया है उसमें राजनीति के अनेक तत्त्व कूट-कूट कर भर दिये गये हैं।

शासक जिस प्रकार का हो उसी प्रकार के उसके परिजन (भृत्य) और वैसे ही प्रजाजन भी होने चाहिए। यही सामान्य नियम है। "परिजन प्रजउ चहिय जस राजा" (२६७–६)। इसीलिए शासक और शासित का अन्योन्य सम्बन्ध रहा करता है। दोनों के सहयोग ही में शासन का कल्याण है। यही विचार, शासक के निर्वाचन में पंचों का मत आवश्यक मानते हुए, गोस्वामी जी ने राजा दशरथ के मुख से कहलाया है—

"जौं पाँचहिं मत लागइ नीका। करहु हरष हिय रामहिं टीका॥"
१७२–२

शासक के लिये राजमद से बढ़ कर विघातक वस्तु और कोई नहीं है। इसी मद में आकर कोई राजा कामान्ध हो उठता है, कोई लोभान्ध हो उठता है, कोई धर्मान्ध हो उठता है और इस प्रकार प्रजारक्षक बनने के बदले प्रजाभक्षक बन बैठता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि यह राजमद यद्यपि महा कठिन है तथापि साधुसभा सेवन से, सत्संग से—इसका निग्रह किया जा सकता है। देखिए—

नहिं कोऊ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥
३३–१८

जग बौराइ राजपद पाये। २५८–२४

कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सबतें कठिन राजपद भाई॥
२५९–२६

जो अँचवत मातहिं नृप तेई। नाहिंन साधु सभा जेहि सेई॥
२६०–१

इसीलिए शासक यद्यपि "भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय" (३२१–१५) की नीति के अनुसार किसी का वशी होकर नहीं रहा करता तथापि उसे चाहिए कि अपने को राजमद से बचाने के लिए वह दो चार ऐसे सलाहकार अवश्य रखे जो उसकी प्रसन्नता अप्रसन्नता का विचार न करते हुए उसे नेक सलाह दे सकें।

लोकमत में राष्ट्रपरक धर्म की बड़ी महत्ता है इसलिए गोस्वामी जी की राजनीति भी मार्के की बन पड़ी है। व्यक्तिपरक धर्म की आवश्यकता तो लोकमत तथा साधुमत दोनों ही में है। इसलिए इस सम्बन्ध में यदि गोस्वामी जी ने बहुत सी बातें लिखी हैं तो उचित ही हैं।

नीतिशास्त्र में पुरुष की परख एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है। पुरुष की परख अवसर पड़ने पर और उसका स्वभाव देखकर ही की जाती है।[1] परख के बिना संग्रह और त्याग की बात ही नहीं बन सकती।[2] सत्संग के लिये संग्रहत्याग का यह विचार अत्यन्त आवश्यक है। महापुरुष इस संसार में बहुत विरले हैं। हीनजन ही अधिकतर देखे जाते हैं।[3] इन दोनों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने उसी प्रकार अनेकानेक सूक्तियाँ कही हैं जैसी उन्होंने सज्जनों और असज्जनों के संबंध में कहीं हैं। मनुष्यों का आकर्षण और विकर्षण छिपा नहीं रहता—बैर और प्रेम दुराये नहीं दुरते।[4] जिसका जिस ओर स्वार्थ होगा—जहाँ हित जान पड़ेगा—जिससे मन की प्रवृत्ति का मेल बैठ जायगा—वह उसी ओर आकृष्ट भी हो जायगा।[5] और जिस

---

१. कसे कनकु मनि पारिखो पाये। पुरुष परिखियहि समय सुभाये। २१९-२१

२. संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥६-११

३. जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सुकृत मराल॥२७९-५

४. लखब सनेह सुभाय सुहाये। बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराये॥२४४-२८

५. जेहि तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥ ४८२-१०

पदार्थ के लिए सच्चा आकर्षण होगा उसके मिल जाने में कोई भी संदेह नहीं है।[1] पुरुष की परख के साथ ही साथ पुरुष की प्रवृत्ति के इस सिद्धान्त की परख भी नीतिशास्त्र में परम आवश्यक मानी गई है।

व्यक्ति के जिन विशिष्ट धर्मों की गोस्वामी जी ने विशेष रूप से चर्चा की है वे इस प्रकार हैं :—

१. सत्संग

इस सम्बन्ध में हम सप्तम परिच्छेद में विशेष रूप से लिखने वाले हैं इसीलिए यहाँ इसका उल्लेख मात्र पर्याप्त है।

२. सेवाधर्म और परहितव्रत

इस सम्बन्ध में भी सप्तम परिच्छेद में विशेष रूप से लिखा जायगा। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि गोस्वामी जी ने लोकसेवा को परम धर्म कहा है।[2] जो लोकसेवा में तत्पर रहता है वह, उनके मत में, कभी दुखी रह ही नहीं सकता।[3]

३. श्रद्धा विश्वास और सन्तोष

गोस्वामी जी का कहना है कि श्रद्धा के बिना कोई धर्म ही नहीं हो सकता, विश्वास के बिना कोई सिद्धि ही नहीं मिल सकती और सन्तोष

---

१. जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू ।।१२०-२

२. स्रुति कह परम धरम उपकारा।।४३-४
परहित सरिस धरमु नहिं भाई।।४२१-२५

३. कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परस मनि जाके।।
४९६-२३

के बिना हृदय को विश्राम ही नहीं मिल सकता।[1] काम और लोभ का शोषण करने वाला यदि कोई है तो सन्तोष।[2] सन्तोष का यह अर्थ नहीं है कि भाग्य के भरोसे बैठकर प्राप्ति के सभी प्रयत्न ढीले कर दिये जायँ। दैव-दैव की पुकार करना तो हृदय की कायरता का चिह्न है—आलसियों का काम है।[3] सच्चा सन्तोष वह है जो प्रयत्नों का बाधक न होकर, हृदय की शान्ति स्थापित करके, उनका साधक बना रहे।

४. सत्य और अहिंसा

गोस्वामी जी सत्य को सब सुकृतों का मूल समझते हैं और इसके आगे "तनु तिय तनय धाम धनु धरनी" आदि सबको तृणवत् तुच्छ मानते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य के समान कोई दूसरा धर्म ही नहीं है।[4] जो हाल सत्य का है वही अहिंसा का है। जैसे सत्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं वैसे ही दया (अहिंसा) के समान भी कोई दूसरा धर्म नहीं। यह अहिंसा परम धर्म है।[5]

---

१. श्रद्धा बिना धरमु नहीं होई।।४८३-१२
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।।६८३-१२
कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज सन्तोष बिनु।।२८३-१०

२. जिमि लोभहिं सोखइ सन्तोषा।।३३५-२२
बिनु सन्तोष न काम नसाहीं।।४८३-१०

३. कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।३६६-१३

४. सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।।१८१-३
तनु तिय तनय धाम धनु धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी।। १८३-२५
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।। २०७-१

५. धरम कि दया सरिस हरिजाना।।४७५-५
परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा।।५०४-५

भगवद्गीता में यज्ञ, तप और दान को प्रधान धर्म माना गया है।[1] गोस्वामी जी के समय में यज्ञों की वह महत्ता रह ही नहीं गयी थी। इतना ही नहीं वे संकल्पात्मक समझे जाकर कल्याणमार्ग के लिये अनिष्टकर कहे जाते थे। इसीलिए उनकी शक्ति को स्वीकार करते हुए भी गोस्वामी जी ने यज्ञविध्वंस के प्रकरणों को बिना टीकाटिप्पणी के ही रहने दिया है। दक्ष-यज्ञ, मेघनादयज्ञ, रावणयज्ञ का बारबार विध्वंस हुआ। उन यज्ञों से अमोघ फल मिल सकता था, परन्तु वे शिव (कल्याण) के साधक न थे इसलिये नष्ट किये गये। विश्वामित्र का यज्ञ विश्वकल्याण की साधना के लिए था इसलिए उसकी रक्षा की गयी। गोस्वामी जी के मतानुसार यज्ञ याग त्रेता युग का धर्म है आजकल का नहीं। इसी प्रकार यद्यपि तप की भी उन्होंने बड़ी उपयोगिता स्वीकार की है और ब्रह्मा विष्णु महेश सभी को तपस्वी बताते हुए 'तपतें अगम न कछु संसारा' कहकर 'तेजविस्तार' के लिए इसे आवश्यक माना है फिर भी उनका सिद्धान्त है कि यह सतयुग का धर्म है आजकल का नहीं।[2] दान को वे आजकल के लिए भी आवश्यक स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं:—

---

१. **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।**
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।गीता १८-५
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।गीता १७-२४

२. **तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा।।३८-१४**
जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तपतें दुरलभ कछु नाहीं।।
तपबल तें जग सृजइ विधाता। तपबल बिस्नु भये परित्राता।।
तपबल संभु करहिं संहारा। तपतें आगम न कछु संसारा।।
७८-७ से ९
ध्यान प्रथम जुग मख विधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे।।
१७-२१

प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान।
येन केन विधि दीन्हें दान करइ कल्यान।।४९१–१, २

आजकल दानतत्त्व की जैसी दुर्व्यवस्था है वैसी शायद पहिले कभी नहीं थी। तब 'येन-केन विधि' दान को कल्याणकर बताकर दानतत्त्व का विशेष विवेचन न करना कहाँ तक उचित था यह श्री गोस्वामी जी महाराज ही जानें। बहुत सम्भव है कि उन्होंने जानबूझकर यह बात कम ही कही हो। कलियुग में मनुष्य स्वभावतः ही स्वार्थी और अतएव संग्रहशील रहते हैं। उनकी संग्रहशीलता के कारण राष्ट्र में आर्थिक वैषम्य होना स्वाभाविक ही है। यह वैषम्य या तो साम्यवाद की ठोकरों से दूर हो सकता है या दान धर्म की प्रेरणा से। संग्रहशीलता के लिये जिस प्रबल प्रयत्न, अनवरत उद्योग, निःसीम धैर्य और विशिष्ट शक्ति की आवश्यकता होती है, साम्यवाद उसको कुंठित किये बिना रह नहीं सकता। इन शक्तियों को कुंठित करना मानो राष्ट्र ही को कुंठित करना है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने साम्यवाद के बदले दानवाद की चर्चा की है। इस दानवाद के कारण अकिंचनों के अभाव दूर हो जाया करते थे, निराश्रितों को आश्रय मिल जाया करते थे, विचारशील ब्रह्मनिष्ठों की जीविका के साधन जुट जाया करते थे, मठों, देवालयों, धर्मशालाओं, अन्नछत्रों आदि के रूप में आगन्तुकों के लिये विश्रान्तिस्थान तैयार रहा करते थे, बाग-बगीचे, कुएँ-तालाव आदि बनवाये जाकर राष्ट्र के हितों का साधन हुआ करता था, इसी प्रकार न जाने कितने उपायों से समाज में साम्य स्थापन हो जाया करता था। गोस्वामी जी के समय में भी न तो सब मठ-मन्दिर आदि ही दूषित थे और न सब साधु, ब्राह्मण, पण्डे, पुरोहित आदि। फिर वे कुटिल आलोचक की भांति दानतत्त्व के विवेचन का झंझट उठाते ही क्यों। सुपात्र कुपात्र का विवेचन जिसे करना हो वह करता रहे। उन्होंने तो कलियुग में दानधर्म की आवश्यकता देखी और इसलिए उसका महत्त्व गा दिया। एक बात और है। उन्होंने कलि के लिये तो 'केवल हरि नाम अधारा'' की ही खूब

चर्चा की है।[1] दानधर्म के इस महत्त्व को तो भागवत आदि पुराणों के आधार पर[2] केवल कहीं-कहीं ही लिख दिया है। इसलिए यदि उसका विस्तृत विवेचन नहीं किया गया तो कोई आश्चर्य नहीं।

जप और अर्चा पर गोस्वामी जी ने पूर्ण विश्वास प्रकट किया है परन्तु अर्चा को—मूर्तिपूजा को—वे द्वापर का धर्म मानते हैं।[3] इसलिए वर्तमान भारतीय समाज को उन्होंने मठ-मन्दिर, मूर्ति आदि के विशेष पाठ न पढ़ाकर नामजप ही की अधिक सलाह दी है। उनके मत में कलि के लिए नामजप के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। वैधी भक्ति पर आवश्यकता से अधिक जोर देने वाले सज्जनों को गोस्वामी जी का यह दृष्टिकोण भली भांति समझ रखना चाहिए। सप्तम परिच्छेद में नामजप की भी पर्याप्त चर्चा होगी। इसलिए व्यक्ति के विशिष्ट धर्मों का प्रकरण हम यहीं समाप्त करते हैं।

गोस्वामी जी ने युगधर्म की जो चर्चा की है वह भली भांति ध्यान देने योग्य है। समय के प्रवाह से समाज के भावों में भी उन्नति-अवनति होती रहती है। जब समाज पूर्ण समृद्ध, सदाचारी और विकासशील रहता है तब हम उस युग को सतयुग कहते हैं। जब उससे कुछ निम्न अवस्था आती है और स्वार्थ तथा द्वेष की मात्रा स्पष्ट होती है तब त्रेता युग आता है। जब पाप और पुण्य का द्वन्द्व खूब स्पष्ट होता है तब द्वापर आता है। और

---

१. कलियुग जोग न जग्य न ध्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
४९०-१७

२. कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैधृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥
× × ×
कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति॥
भागवत ११३-१८, २४

३. द्वापर परितोषन प्रभु पूजे। १७-२१

जब पाप ही का पूर्ण प्रभाव देखा जाता है तब हम उस युग को कलियुग कहने लगते हैं। अपनी पैनी विचारदृष्टि से गोस्वामी जी ने कलियुग के रूप को खूब बारीकी से देखा था। उनका कलिधर्मवर्णन बड़ा सुन्दर है (देखिए पृष्ठ ४८७ से ४९०)। वे कलियुग का ऐसा वर्णन करके बताते हैं कि चारों युगों में एक ही प्रकार का धर्म नहीं चल सकता। मनुष्य की मानसिक स्थिति के अनुसार धर्म के नियमों में भी हेरफेर होना चाहिए। जो सतयुग के लिये सुकर था वह कलियुग के लिये सुगम नहीं हो सकता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों का अनुकरण करते हुए[1] ध्यान (योग अथवा तप) को सतयुग के लिये, यज्ञ (अथवा भगवन्निमित्तक कर्म) को त्रेता के लिये पूजा अर्चा को द्वापर के लिए और केवल नाम-जप को कलियुग के लिये प्रशस्त माना है।

कलिसम्बन्धी इस युग धर्म के विषय में गोस्वामी जी की एक बात हमारी समझ में नहीं आई। वे कहते है कि "कलि कर एक पुनीत प्रतापा, मानस पुन्य होहिं नहिं पापा" (४९०–२०)। पुण्यों की बात जाने दीजिए। पाप ही को लीजिए। अब क्या इस वाक्य से यह समझा जाय कि कलियुग में मानस पाप को पाप न कहना चाहिए? एक कन्या का आलिंगन पुत्री भाव से भी हो सकता है और कान्ताभाव से भी। तब क्या उस कृत्य की औचित्य-अनौचित्य-चर्चा में हृदयगत भाव की ओर कुछ भी विचार न किया जायगा? दूसरे का माल अपने पास रख लेना ही जुर्म नहीं है। जुर्म

---

१. कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम तें पावहिं लोग।।
कृतयुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।
त्रेता विविध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं।।
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।।
कलियुग केवल हरिगुनगाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा।।
४९०-११ से १६

तो नियत की बदी को देखकर ठहराया जाता है। फिर, गीता का सिद्धान्त भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि[1] विषयों का ध्यान करने से उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है और आसक्ति से क्रमशः काम, क्रोध, संमोह, स्मृतिविभम, बुद्धिनाश और सर्वनाश हो जाता है। हमारे मानस-संग से ही हमारे स्वभाव और संस्कारों का निर्माण होता है और स्वभाव तथा संस्कारों के अनुसार ही हमारे आचार व्यवहार हुआ करते हैं। इसलिए कलियुग में मानस पाप होते ही नहीं और पापों की परख केवल क्रियाओं तक परिमित है यह कहना कहां तक उपयुक्त होगा ? रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार बैजनाथ जी इस पंक्ति की टीका में लिखते हैं कि जो रामानुरागी धर्मात्मा हैं वे कलियुगी नहीं कहे जा सकते इसलिए वे यदि मन में पाप लावें तो जरूर ही पाप लगेगा। श्री सावन्त महोदय (जनकसुताशरण शीतलासहाय जी) अपनी 'मानसपीयुष' टीका में यथार्थ ही लिखते हैं कि गोस्वामी जी की पंक्ति का वह भाव नहीं जान पड़ता। इतना कहते हुए भी वे मानते हैं कि "पापकर्म न हो इसके लिए मन से भी पाप का चिन्तन न करना चाहिए यह आवश्यक है।" (मानस-पीयूष उत्तर काण्ड पृष्ठ ७७८)। तब फिर या तो गोस्वामी जी ने यह बात श्रीमद्भागवत के श्लोक[2] के अनुकरण में योंही कह दी है या फिर उन्होंने इसे इसलिये कहा है कि जिसमें कलि के कुटिल और दुर्बुद्धि जीव भी धर्माचरण की ओर उत्साहित हो जायं और, कम से कम, अपने आचरणों पर

---

१. ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥गीता २।६२, ६३

२. नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारंग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥
भागवत १-१८-७

कृत्यों पर---तो नियंत्रण प्रारम्भ कर ही दें। हमें यह दूसरा मत ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

[1]यह बात नहीं है कि युगधर्म सब मनुष्यों के लिये समान रहता हो। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नित्य ही चारों युगों का चक्र चला करता है। जब हृदय में शुद्ध सात्त्विकता विद्यमान हो तब समझना चाहिये कि उसके लिये सतयुग है। जब रजोगुण का कुछ प्रभाव पड़ कर कर्मों की ओर रति होने लगे तब समझना चाहिए कि उस हृदय के लिये त्रेता युग आ गया। जब रजोगुण का शेष दो गुणों की अपेक्षा विशेष आधिक्य होने से हृदय में हर्ष शोक आदि भाव डेरे डालने लगें तब समझना चाहिए कि उस व्यक्ति के लिए द्वापर आ गया और जब तमोगुण का आधिक्य होने से विरोधपूर्ण हृदय हो जाय तब समझना चाहिए कि कलियुग आ गया। विद्वान् लोग हृदय के इस युगप्रवाह को पहिचान कर तदनुकूल युगधर्म का आचरण किया करते हैं। इस तरह प्रत्येक मनुष्य के लिये प्रत्येक युग के धर्म की आवश्यकता रहती है। परन्तु जिस समय जिस युग की प्रधानता रहती है उस समय के मानवों में उसी युग का विशेष प्रभाव भी रहता है। इसलिए उनके हेतु उसी युग के अनुकूल धर्म की व्यवस्था भी प्रधानरूप से की जाती है।

व्यक्तिपरक धर्म के सम्बन्ध में अन्तिम बात जो हम यहाँ लिखना चाहते हैं वह है धर्मरथ का रूपक। यदि रूपक से अलंकारिक वर्णन हटा लिया जाय

---

१. नित जुगधर्म होहिं सब केरे। हृदय राममाया के प्रेरे।।
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।
सत्व बहुत रज कछु रतिकरमा। सब बिधि सुख त्रेता कर धरमा।।
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धरमु हरष भय मानस।।
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।।
बुध जुग धरमु जानि मन माहीं। तजि अधरम रति धरम कराहीं।।
४९१-३ से ८

तो उस प्रसंग का तात्पर्य यह होगा कि जिस धर्मभाव का प्रेरक है भगवद्-भजन और प्रसारक है बल विवेक दम तथा परोपकार, जिस धर्मभाव की स्थिति है शौर्य तथा धैर्य पर, गौरव है सत्य तथा शील के कारण, जिस धर्म-भाव के प्रसार का नियंत्रण क्षमा, कृपा और समत्वबुद्धि द्वारा हुआ करता है, जिस धर्मभाव पर आरूढ़ होने वाले के पास वैराग्य, सन्तोष, दान, सद्-बुद्धि, विज्ञान, शम, यम नियम आदि की शक्तियाँ हैं तथा विप्रगुरुसेवा रूपी रक्षा का साधन विद्यमान है, उस धर्मभाव वाला व्यक्ति संसार में बिना चेष्टा के ही अजेय बन जाता है। वह सहज ही निखिल संसार का हृदय-सम्राट् बन सकता है।[1] इस प्रसंग में धर्म के २१ अंगों की चर्चा करके तथा अस्त्र-शस्त्रों के वर्णन में "नाना" शब्द का प्रयोग करके गोस्वामी जी ने यह बता दिया है कि धार्मिक नियमों अथवा धर्म के अंगों की संख्या की कोई सीमा नहीं।[2]

जो किसी वस्तु का विशिष्ट गुण है––उस पदार्थ के अस्तित्व के लिये आवश्यक है––उसे ही उस पदार्थ का धर्म कहते हैं। जैसे जलाने को अग्नि

---

१. सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म सन्तोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर विज्ञान कठिन कोदण्डा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। येहि सम विजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके।।
४१२-६ से १३

२. चक्के, ध्वजा पताका, घोड़े, लगाम, सारथी, ढाल तलवार, सांग फरसा, धनुष बाण और कवच की चर्चा करके इसमें भी गोस्वामी जी ने साधनों के संकेत दिये हैं

का धर्म कहा जाता है। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि पूर्णत्व की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही जीव का धर्म है। हमारे हृदय की विकासशील क्रिया ही पुण्य अथवा धर्माङ्ग कहावेगी और ह्रासशील क्रिया को ही हम पाप कहेंगे।[१] यदि हमने पूर्णत्व की प्रसन्नता—अनुकूलता—के लिये कोई कार्य किया तो वह होगा धर्म। और यदि अपूर्णत्व—अपने क्षुद्र व्यक्तित्व—की प्रसन्नता के लिए ही कोई कार्य किया तो वह होगा अधर्म। हमारा धर्माचरण जितना दृढ़ होता जायगा हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व की ओर से हमारा वैराग्य भी उतना ही दृढ़ होता जायगा। यदि हम सच्चे धर्मशील हैं तो सांसारिक वैभवों की ओर, स्वर्ग प्राप्ति की ओर, यहाँ तक कि अपने एक व्यक्तित्व की मुक्ति की ओर भी हम कुछ ध्यान न देंगे। इस लोक और परलोक के फलभोगों की ओर जो ऐसी विरक्ति हो जाती है उसी का नाम है वैराग्य। ऐसा वैराग्य आते ही न तो फिर संकल्पपूरक कर्मों की आवश्यकता रह जाती है और न व्यक्तित्वाभिमान पर आसक्ति।

किसी कामना के वश जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धनप्रद ही रहा करते हैं। सकाम भाव से यदि हमने अच्छे कर्म किये—धर्माचरण किये—तो स्वर्णश्रृंखला चली अर्थात् स्वर्ग, देवत्व, पुण्य की क्षीणता में फिर मनुष्यत्व फिर देवत्व आदि। यदि बुरे कर्म किये—अधर्माचरण किये—तो लौह श्रृंखला चली अर्थात् नरक, तिर्यक्योनित्व इत्यादि का चक्कर लगा। हाँ यदि वैराग्यपूर्ण हृदय से निष्काम कर्म होते रहे तब फिर बन्धन का कोई सवाल ही नहीं रह जाता।

वैराग्य कुछ आप ही आप तो होता नहीं है। जब महान के संग्रह की इच्छा होगी तभी तो क्षुद्र के त्याग की बात आवेगी। संग्रह की यह इच्छा हो ही कैसे सकती है जब तक कि हमें उस महान् का कुछ ज्ञान अथवा भान न हो जाय। इसलिए वैराग्य का मार्ग ज्ञान का सहारा लिये विना हमें अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँचा सकता, ऐसा कई आचार्यों का मत है।

---

१. विशेष विवरण के लिए लेखक का,'जीव-विज्ञान" ग्रन्थ देखा जावे।

जब पूर्णत्व का ज्ञान होने पर—सच्चे स्वरूप की सच्ची पहचान होने पर—सकाम कर्मों से आप ही आप उपरति हो जाती है[1] और इस ज्ञान के बिना वैराग्य दृढ़ नहीं होता तब फिर वैराग्यमार्ग—कर्मभार्ग—की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग ही श्रेष्ठ और मोक्षप्रद ठहरा। गोस्वामी जी ने कदाचित् इसीलिए "ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना" (३०८-४) कह कर केवल ज्ञानमार्ग के साथ ही अपने भक्तिमार्ग की तुलना की है और वैराग्यमार्ग का कोई स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया है। फिर भी सच्चे समन्वयमार्गी की भांति उन्होंने अपने भक्ति मार्ग में वैराग्य और विवेक दोनों को समेट लिया है और इस प्रकार न केवल वेदान्त के ज्ञानमार्ग को वरन् गीतोक्त निष्काम कर्मयोग मार्ग—अनासक्ति-योग मार्ग—को भी अपने भक्तिमार्ग का प्रतिरूप बताकर उन्होंने वैराग्य मार्ग—कर्ममार्ग—की भी पूर्ण महत्त्वरक्षा कर दी है।

व्यक्तित्वाभिमान के विध्वंस के लिये जो दूसरा मार्ग बताया गया था वह विवेकमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग है। विरक्ति में चेष्टा छिपी हुई है, विवेक में विचार क्रीड़ा कर रहा है। हम कौन हैं, तुम कौन हो, वे कौन हैं इत्यादि का विचार करते-करते मनुष्य आसानी से ब्रह्म, जीव और माया तत्त्व तक पहुँच जाता है। असल कठिनता जो है वह इन्हीं तीनों तत्त्वों का वास्तविक रहस्य समझने में है। बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में अपना जीवन खपाया; परन्तु इन तीन तत्त्वों के सम्बन्ध में सर्वजन सम्मत सिद्धान्त अभी तक भी स्थिर न कर पाये। भारतीय दर्शनशास्त्रों में वेदान्त दर्शन ही ऐसा कहा जाता है, जिसने इन तीन तत्त्वों की गुत्थियाँ सर्वतोअधिक संग्राह्यरूप में सुलझाई हैं। परन्तु इस दर्शन के सुयोग्य भाष्यकारों ने अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि निकाल कर वह गुत्थी फिर उलझा-सी दी है। इन अनेक वादों में अद्वैतावाद और विशिष्टाद्वैतवाद ही मुख्य हैं। शेष वाद किसी न किसी प्रकार इनके अन्तर्गत हो जाते हैं। अद्वैतवाद के आचार्य हैं श्रीशंकराचार्य और विशिष्टा-

---

१. करम कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें। ४९६-२५

द्वैतवाद के आचार्य हैं श्रीरामानुजाचार्य। यदि शंकर कहते हैं कि ब्रह्म केवल निर्गुण है तो रामानुज कहते हैं कि केवल सगुण है। यदि शंकर कहते हैं कि जीव और जगत् मिथ्या है तो रामानुज कहते हैं कि चित् (जीव) और अचित् (जगत्) उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार ईश्वर (ब्रह्म)। यदि शंकर कहते हैं कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं—भेद की भावना केवल भ्रम है, तथा उनका वह ऐक्यज्ञान ही मोक्ष है, तो रामानुज कहते हैं कि वे दोनों न एक हैं, न एक हो सकते हैं, इसलिए प्रपत्तियोग अथवा उपासनायोग ही जीव के परम कल्याण का एकमात्र मार्ग हैं। तब ऐसी स्थिति में सहज ही प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्वाभिमान के विध्वंस के लिये जिस विवेकमार्ग की चर्चा की गयी थी, वह अद्वैतमत की ओर झुका होना चाहिये कि विशिष्टाद्वैत मत की ओर और गोस्वामी जी ने तत्त्वविवेचन में अद्वैत का पल्ला पकड़ा है कि विशिष्टाद्वैत का।

गोस्वामी जी ने ब्रह्मतत्त्व को जिस प्रकार समझा और समझाया है, वह चौथे परिच्छेद में बता दिया गया है। उन्होंने माया के तत्त्व को जिस प्रकार समझा और समझाया है, उसकी चर्चा इसी पंचम परिच्छेद के प्रारम्भ में कर दी गई है। उन्होंने जीवतत्त्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह व्यक्तित्वाभिमानविध्वंस के प्रसंग में विशेष रूप से उपयोगी है।

व्यवहारदृष्टिसे प्रत्यक्ष देखने पर तो हमें यही विदित होता है कि[1] जीव मायावश है और अतएव व्यक्तित्वाभिमानी है। वह परवश है और

---

१. मायावस्य जीव अभिमानी। ईसवस्य माया गुनखानी।।
परवस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।।

४७७-२६, २७

ईश्वर अंस जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।

५००-९

हरस विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।।

५९-११

अनेक है। वह ईश्वरांश होने के कारण यद्यपि अविनाशी है, चैतन्य है, अमल है और सहज सुखराशि है, तथापि मायाजन्य "अहं" (मैं) इस अभिमान के कारण सुख-दुख (हर्ष-विषाद) और ज्ञान-अज्ञान के द्वन्द्व ही उसके धर्म (स्वभाव) कहे जाते हैं। वह अपने को माया का ईश नहीं समझता। यदि सब प्रतीयमान चैतन्य सत्ताओं में—जीवों में—"एकरस" ज्ञान रह जाय तो फि र ईश्वर और जीव का भेद कहाँ रहे। जब तक जीव का जीवत्व है अर्थात् जब तक वह अपने को माया वश परिच्छिन्न और अतएव जड़ (अज्ञानी) समझता है, तब तक वह ईश की बराबरी किस प्रकार कर सकता है। जव तक उसका जड़त्व (अज्ञान) नष्ट नहीं हुआ तक तब तो निश्चय ही वह दास है—परवश है—और परमात्मा स्वामी है—निग्रहा-नुग्रहकारी स्वामी है। अपने सच्चे स्वरूप का अथवा यों कहिये कि परमात्मा का ज्ञान होते ही जीवात्मा जो स्वतः परमात्मा हो जाता है फिर उसका जीवत्व कहाँ।[1]

जीव के ऐसे वर्णन के साथ जब हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने "अ-गुण" ब्रह्म का और स्वप्नवत्—भ्रमवत् मिथ्या—माया का सिद्धान्तरूप से वर्णन किया है तथा 'व्यवहार' और 'परमार्थ' में भेद दिखाते हुए कहते हैं:—

धरनि धाम धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू।।
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं।।
२०५-२७, २८

माया ईस न आपु कहँ जान कहिय सो जीव।। ३७८-२
जो सब के रह ग्यान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।।
४७७-२५

१. माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान।।४९६-२२
दासु विरोध न कीजिए नाथा। काल करम जिव जाके हाथा।।
३७५-२५

जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।।२१९-१९

तब हमें मानना ही पड़ता है कि गोस्वामी जी के दार्शनिक सिद्धांत शंकर सम्प्रदाय के विशेष अनुकूल हैं। व्यक्तित्वाभिमानविध्वंस के लिये यों भी विशिष्टाद्वैतवाद की अपेक्षा अद्वैतवाद ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार तो जीव का व्यक्तित्व नष्ट ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य अनेक दार्शनिक गुत्थियां सुलझाने के लिये भी विशिष्टाद्वैतवाद की अपेक्षा अद्वतवाद ही अधिक समर्थ हो सका है। गोस्वामी जी में साम्प्रदायिकता तो थी नहीं। इसलिये उनके समान गम्भीर तत्त्वदर्शी ने भक्त होते हुए भी अद्वैत सिद्धान्त को इस प्रकार अपना लिया तो आश्चर्य ही क्या है। प्रबोधसुधाकरादि ग्रन्थ जो शंकराचार्यकृत कहे जाकर शंकर सम्प्रदाय में पूर्णतया मान्य हैं, क्या भक्ति के रस में सराबोर रहकर भी अद्वैत सिद्धान्त पर आश्रित नहीं हैं? मधुसूदन सरस्वती के समान उद्भट अद्वैतवादी आचार्य क्या परम भक्त नहीं हो गये हैं? ऐसे दृष्टान्त सम्मुख रहते हुए भी, आश्चर्य है कि अनेक सज्जनों ने गोस्वामी जी के भक्ति प्रवाह को देखकर उन्हें केवल विशिष्टाद्वैतवादी ही समझ रखा है।।

वास्तव में देखा जाय तो अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद में कोई अन्तर भी नहीं। यदि अन्तर है तो केवल दृष्टिकोण का। शंकर ने ब्रह्म के दृष्टिकोण से तत्त्व को समझने-समझाने की चेष्टा की है और रामानुज ने माया के दृष्टिकोण से। जीव में ब्रह्म भी है, माया भी है, इसीलिए ज्ञान का पूरा रूप जीव के सामने रखने के लिये दोनों दृष्टिकोणों से विचार करने की आवश्यकता है। ब्रह्म के दृष्टिकोण से—निर्विशेष चैतन्यतत्त्व के दृष्टिकोण से—तो ("सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किंचन", सोऽहमस्मि" "तत्त्वमसि"। ("सो मैं ताहि तोहि नहिं भेदा" "रज्जौ यथाहेर्भ्रमः" "जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने") आदि की बातें कही जाती हैं और माया के दृष्टिकोण से—विशिष्ट चैतन्य तत्त्व के दृष्टिकोण से—"जीव अनेक एक श्रीकन्ता, परबस जीव स्वबस भगवन्ता" आदि की बातें कही जाती हैं। ब्रह्म के दृष्टिकोण से "कोउ न काहु सुख-दुख कर दाता" "निर्गुन नाम न रूप" "मोहमूल परमारथ नाहीं" "ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना" 'ज्ञानी

प्रभुहि बिसेसि पियारा" की बातें कही जाती हैं और माया के दृष्टिकोण से 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता, सुभ अरु असुभ करम फल दाता" "मोरे अधिक दास पर प्रीती" "सकृत प्रनाम किये अपनाये' "मुकुति निरादरि भगति लोभाने" आदि की बातें कही जाती हैं। प्रकृत तत्त्व को दोनों दृष्टिकोणों से समझाये बिना काम नहीं चलता। यदि ब्रह्म का दृष्टिकोण ही सदैव सम्मुख रखा जाय तो व्यवहार बिगड़ता है; जड़ जीव भी "सोऽहं सोऽहं" कहते हुए समर्थ कहलाने की "हिसिखा" करके लोकमर्यादा को तहसनहस करने के लिए तैयार हो जाता है और इस प्रकार स्वतः भी बड़ी हानि उठाता है। यदि माया का दृष्टिकोण ही सदैव सामने रखा जाय तो 'विभेदकरी' मति की पुष्टि के कारण साम्प्रदायिकता के अनर्थ बढ़ चलते हैं और शैवों तथा वैष्णवों में लाठियाँ चल पड़ती हैं। यदि अद्वैत दृष्टिकोण के बिना तत्त्व का पूरा बोध नहीं होता तो द्वैत दृष्टिकोण के बिना उस बोध का पूरा सुरस भी तो नहीं मिलता—जीव कोटि की पूरी-पूरी मर्यादा का पालन भी तो नहीं होता। शंकराचार्य जी ने ये दोनों दृष्टिकोण स्वीकार किये हैं। उन्होंने केवल यही कहा है कि मायावाला दृष्टिकोण व्यावहारिक दृष्टिकोण है और ब्रह्म वाला पारमार्थिक। जो पारमार्थिक दृष्टिकोण है वही वास्तविक है—सत्य है—और जो व्यावहारिक है वह अवास्तविक है, असत्य है। शंकराचार्य जी के मत में सत्य वह है जो त्रिकाला-बाधित हो। उनके मत में सत्य वही है जो अविकारी और एक रस हो। इसीलिए उन्होंने परमार्थ और व्यवाहर का यह भेद निकाला। रामानुजाचार्य को यह भेद इष्ट न था। इसीलिए उन्होंने व्यवहार पक्ष को अपना प्रकृत सिद्धान्त बना डाला। उनके मत में सत्य वह है जिसकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। भले ही वह सत्ता परिवर्तनशील हो। शंकराचार्य ने उद्देश्य विशेष ही से अपने भाष्य लिखे थे। इसीलिये—

"तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बूका विपिने यथा।।
न गर्जति महाभीमो यावद् वेदान्तकेसरी।।"

इस उक्ति के अनुसार उन्होंने असत् सिद्धान्तों का खण्डन करके पारमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त ही का प्रतिपादन किया और उन भाष्यों में व्यावहारिक सिद्धान्त को कुछ भी महत्ता न दी। रामानुजाचार्य ने भी इसी प्रकार उद्देश्य विशेष से अपने भाष्य रचे, क्योंकि उन्हें व्यावहारिक दृष्टिकोण की महत्ता स्थापित करनी थी। इसीलिए उन्होंने अद्वैत का खण्डन करके केवल विशिष्टाद्वैत का मण्डन किया। गोस्वामी जी कुछ खण्डन-मण्डन वाले आचार्य तो थे नहीं इसीलिए उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोणों का यथास्थान उपयोग किया है और दोनों को पूरी महत्ता दी है। परन्तु उनके समूचे सिद्धान्त वाक्यों का भली भाँति स्वाध्याय करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यथार्थ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत है न कि विशिष्टाद्वैत। यह दूसरी बात है कि लोग अपने-अपने तर्क कौशल और बुद्धि चातुर्य से उनके सब शब्दों को खींचखांच कर विशिष्टाद्वैतवाद में घटा लें। यों तो उपनिषद्, गीता और वेदान्तसूत्र के वाक्य भी इसी प्रकार अपनी-अपनी ओर खींचे गये हैं। सो जब प्रस्थानत्रय कहाने वाले इन महान् ग्रन्थों का यह हाल है, तब गोस्वामी जी महाराज की "भाषा भणिति" के सम्बन्ध में ऐसा कर दिया जाय तो आश्चर्य ही क्या है?

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा ने कहा है कि "दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं" (तुलसी निबन्धावली खण्ड ३, पृष्ठ १२७)। राय कृष्ण जी को यह राय पसन्द न आयी इसीलिए उन्होंने महामहोपाध्याय जी के इस लेख का खण्डन नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया। यदि प्राच्य महाविद्यार्णव श्रीनगेन्द्रनाथ वसु महोदय अपने हिन्दी विश्व कोष (भाग ९, पृष्ठ ६८६) में कहते हैं कि "रामायण में कई जगह शंकराचार्य का मत ग्रहण किया गया है" तो भावुक भक्त जयरामदास जी दीन "कल्याण वेदान्तांक" के पृष्ठ ६०१ में "गोस्वामी तुलसीदास जी और अद्वैतवाद" शीर्षक लेख लिखकर यह

अस्माकं यदुनन्दनांघ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां।
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥
प्रबोधसुधाकर २५०

यावदायुस्त्वया वंद्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
मनसा कर्मणा वाचा श्रुतिरेवैष निश्चयः॥
भावाद्वैत सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥
स्वोपदेश ८६-८७

किं स्मर्तव्यं पुरुषैः? हरिनाम सदा।—प्रश्नोत्तररत्नमालिका ३५
को हि जगद्गुरुरुक्तः? शंभुर्ज्ञानं कुतः? शिवादेव॥
प्रश्नोत्तररत्नमालिका ५५

स्वात्मैकचिन्तनं यत्तदीश्वरध्यानमीरितम्।
सर्ववेदान्त० १२२

जन्मानेकशतैः सदादरयुजा भक्त्या समाराधितो।
भक्तैर्वैदिकलक्षणेन विधिना सन्तुष्ट ईशः स्वयं॥
साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन् प्रभुः।
तत्त्वं साधु विबोध्य तारयति तान् संसारदुःखार्णवात्॥
सर्ववेदान्त० २५४

शिवप्रसादेन विना न सिद्धिः शिवप्रसादेन विना न बुद्धिः।
शिवप्रसादेन विना न युक्तिः शिवप्रसादेन विना न मुक्तिः॥
सर्ववेदान्त० २७९

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णं।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥
प्र० सु० १८३

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥
प्र० सु० १९५

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥षट्पदीस्तोत्र

यह सब देखकर अनायास ही विदित हो जायगा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने किस प्रकार विशिष्टाद्वैत मत के अनुकूल बातें कहते हुए भी अपने ग्रन्थ में सिद्धान्तवैषम्य नहीं आने दिया है। हमें न तो अवधवासी लाला सीताराम जी की तरह शंकर, रामानुज और रामानन्द जी के सिद्धान्तों की त्रिवेणी का ऊहापोह करने की आवश्यकता जान पड़ती है और न बाबू रामदास गौड़ आदि महानुभावों के समान चार घाट की चतुर्धाराओं के विवेचन की आवश्यकता जान पड़ती है। हम ग्रियर्सन साहब की इस उक्ति पर भी कि गोस्वामी जी का झुकाव यद्यपि अद्वैतवाद की ओर है तथापि हैं वे विशिष्टाद्वैतवादी, अपने को झुकते हुए नहीं पाते। हम तो आचार्यप्रवर पं० रामचन्द्र जी शुक्ल की इस उक्ति से पूर्ण सहमत हैं कि "परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं" (देखिए तुलसी ग्रन्थावली तृतीय खंड, पृष्ठ १४५)।

गोस्वामी जी के तत्त्वसिद्धान्त का इतना विवेचन कर चुकने के बाद एक बार फिर मूलतत्त्वों के सम्बन्ध में उनके संक्षिप्त विचार उन्हीं के वाक्यों में प्रकट कर देना अनुचित न होगा।

१. ब्रह्म क्या है ?

[1]ब्रह्म ग्यान रत मुनि बिग्यानी। मोहिं परम अधिकारी जानी॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मन गोतीत अमल अविनासी। निरविकार निरवधि सुखरासी॥
४९६-४ से ७

---

१. यद्यपि लोमश जी का यह निर्गुण मत काकभुशुंडि को रुचिकर न जान पड़ा, तथापि यह तो निश्चय है कि उन्हीं काकभुशुंडि जी को सगुणमत का मंत्रोपदेश देने वाले इन गुरुदेव का प्रधान सिद्धान्त यही निर्गुण मत था; जो केवल 'परम अधिकारियों' ही को किया जा सकता था।

२. जीव क्या है ?

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि बीचि इव गावहिं वेदा।।
४९६-८

मायावस्य जीव अभिमानी। ईसवस्य माया गुनखानी।।
परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।
४७७-२६ से २८

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
सो मायावस भयउ गोसाईं। बंधेउ कीर मरकट की नाईं।।
५००-९, १०

३. माया क्या है ?

[1]मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।।
गो गोचर जहं लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।
३०७-२३, २४

---

१. माया में न केवल विवर्त-रचना-सामर्थ्य (विद्या) है वरन् वह विवर्त मे सत्प्रतीति-स्थापन-सामर्थ्य (अविद्या) भी रखती है। राम की माया प्रबल होगी ही क्योंकि वह ब्रह्म की माया है। परन्तु ब्रह्मांश होने के कारण सुर और असुर भी माया की शक्ति रखते हैं। "गोस्वामी तुलसीदास" के लेखकद्वय गोस्वामी जी की "माया" को शंकराचार्य की "माया" से भिन्न मानते है। (देखिए पृष्ठ १८७)। वे कहते हैं शंकर के लिए रचना भ्रम मात्र है, तुलसी के लिए वह एक तथ्य है। हम नहीं समझ सकते कि उनका यह कहना कहाँ तक उचित होगा। एक तो गोस्वामी जी ने ही रचना को "नट" का "इन्द्रजाल" कहा है दूसरे स्वतः शंकराचार्य भी माया को एकदम मिथ्या नहीं मानते हैं (देखिए सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह श्लोक ३०५ से ३०७)।

ज्ञान मान जहँ एकहु नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।
३०७-२८

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।५९-२२

एहि विधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।।
५९-२५

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।।
गुन यह उभय न देखिअहि देखिअ सो अविवेक।।२६२-६, ७

सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि।।४३४-२३, २४

सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला।।
३२२-१४

४. मोक्ष क्या है?

सो सायुज्य मुकुति नर पाइहि।।३७४-१२

तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।।३२१-३

मोच्छ सकल सुखखानि।। ४८०-१२

५. मोक्ष का साधन क्या है?

सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हह तुम्हहिं होइ जाई।।
२१९-१९

ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना। ३०८-४

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा।।
५०१-७, ८

जो निरविघन पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई।।
५०२-२

भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।
४९९-११

कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना। नहिं कछु दुरलभ ग्यान समाना।।
४९९-११

६. ज्ञान के साधन क्या हैं ?

(अ) जोगतें ग्याना—३०८-४
(आ) बिनु गुरु होइ कि ग्यान—४८३-८
(इ) ग्यान कि होइ बिराग बिनु—४८३-८
(ई) बिनु सतसंग विवेक न होई—४-२१
(उ) जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानु। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।।
२८२—१५

यही वह तत्त्वबोध है जो व्यक्तित्वाभिमान को विध्वंस करने में समर्थ हो सकता है।

धन्याष्टक में ज्ञान की परिभाषा-सी बताते हुए शंकराचार्य जी ने कहा है "तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणाम्।" गीता में भी ज्ञान का अर्थ इसी प्रकार का माना गया है जिसमें अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, शांति, आर्जव आदि बहुत सी बातें सम्मिलित हैं (देखिए गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११)। गोस्वामी जी ने भी, कम से कम अपने विज्ञानदीप के प्रकरण में, ज्ञान का यही अर्थ लिखा है। वह पूरा प्रकरण बड़ा सुन्दर है। उसका भावार्थ यहाँ लिख देना अनुचित न होगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि हरि-कृपा से हमारे हृदय में जो सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होती तथा जप तप व्रत यम नियम और शुभ धर्माचार से जो पुष्ट होती रहती है एवं भावोद्रेक के कारण जो रसवती हुआ करती है उसी से हमें परमधर्म रूपी रस मिलता है। यह रस तभी मिलता है जब हम विशुद्ध अन्तःकरण से प्रयत्न करें और यह स्थिर भी तभी रहता है जब हमारे हृदय में पक्का विश्वास हो। यह निकल भी सकता है जब निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर हम अपनी श्रद्धा को जगत् की ओर न भटकने दें। इस प्रकार पाया हुआ रस अनासक्ति सन्तोष क्षमा

धृति मुदिता-विचार दम और सत्यवाक् के संयोग से परिशुद्ध होकर विमल वैराग्यरूप नवनीत बन जाता है। शुभाशुभ कर्मों को क्षार करने वाला योग इस वैराग्य को और भी परिष्कृत करके इसके ममतामल को जला देता है। यह परिष्कृत वैराग्य जब दृढ़ समत्व पर स्थित चित्त में स्थिर होता है और विज्ञानरूपिणी बुद्धि इसके साथ तुरीयावस्था का योग करके विमल ज्योति के लिए प्रयत्न करती है तब विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है। उसके उदय होते ही सोहमस्मि की अखंड वृत्ति लग जाती है। आत्मानुभव का प्रकाश फैल जाता है। मद मोह भेद भ्रम अविद्या आदि आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। और, इस प्रकार उसे पाकर जीव कृतकृत्य हो जाता है। सारांश यह है, कि श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करते रहने से विमल वैराग्य का उदय होता है, उसी पर समत्वबुद्धियुक्त चित्त स्थिर करने से तात्त्विक ज्ञान प्रकाशित हो उठता है। इसके प्रकाशित होते ही बिना परिश्रम आप ही आप जीव का अविद्यान्धकार दूर हो जाता है और वह एकदम "शिव" हो जाता है।[1]

ब्रह्म, शिव, ईश्वर, ज्ञान, विज्ञान, विवेक, माया, अविद्या, अज्ञान, अविवेक, महामोह, मोह, विरति, वैराग्य, कर्म, धर्म आदि आदि शब्दों को गोस्वामी जी ने किन स्थलों में किन अर्थों में प्रयुक्त किया है यह स्वतः ही एक स्वतन्त्र अनुसंधान का विषय हो सकता है। इस विषय की विवेचना भी यद्यपि हमारे वर्ण्य विषय से सम्बन्ध रखती है तथापि अपने निबन्ध की कलेवरवृद्धि के भय से हम इसका संकेत मात्र करके चुप रह जाना उचित समझते हैं।

विरति और विवेक को स्वतंत्र रूप से निर्दोष पथ न रहने दिया जाकर गोस्वामी जी ने किस प्रकार उन्हें अपने भक्तिपथ में सम्मिलित कर लिया है, यह अगले परिच्छेदों की बात होगी।

---

१. देखिए पृष्ठ ५०० पंक्ति ११ से पृष्ठ ५०२ पंक्ति २ तक

छठवाँ परिच्छेद

हरिभक्तिपथ

व्यक्तित्वाभिमान के विध्वंस का तीसरा मार्ग है हरिभक्........ की प्रबलता के कारण न तो व्यक्तित्वाभिमान के प्रति एकदम अनासक्ति ही बन पड़ती है और न वह एकदम मिथ्या ही मान लिया जा सकता है इसलिए साधारण साधक को इसी में सुगमता जान पड़ती है कि वह (व्यक्तित्वाभिमान) भगवान् की ओर लगा दिया जावे। यदि अभिमान बना रहना चाहता है तो बना रहे कोई परवाह नहीं। परन्तु वह अभिमान मायादासभाव का न रह कर रामदास भाव का बन जाय। इस प्रक्रिया से दासोऽहं वाला यह अभिमान किसी दिन निश्चय ही सोऽहं में परिणत होकर आप ही आप विध्वस्त हो जायगा।

गोस्वामी जी के मत में माया[2] से मुक्त होने की रामबाण ओषधि "श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संयुत विरति विवेक" है। हम इस पंक्ति के प्रत्येक शब्द पर विचार करके गोस्वामी जी के मत को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। सर्वप्रथम हम भक्ति शब्द को लेते हैं।

भक्ति के सम्बन्ध में अनेकानेक आचार्यों ने अनेकानेक परिभाषाएं दी हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का कथन है:—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
गीता अ० ९ श्लो० १३

---

१. अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
३०५-२३

२. स्मरण रहे कि ऐसे सब प्रसंग में माया का अर्थ अविद्या माया ही समझना चाहिए।

इस वाक्य में भक्ति की परिभाषा का समूचा रहस्य आ गया है।[१]

महात्मा वेदव्यास का कहना है:—

देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भगवति भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥
श्रीमद्भागवत स्कं० ३ अ० २५ श्लो० ३२-३३

निष्काम भाव से स्वभाविकी प्रवृत्ति सत्यमति भगवान में लग जाय वही तो भक्ति है।

देवर्षि नारद जी का कथन है:—

सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा—भक्तिसूत्र॥२॥
सा भक्तिः परमाशुद्धा कृष्णदास्यप्रदा च या।
नारद पञ्चरात्र १ रात्र १ अध्याय १८ श्लोक

महर्षि शाण्डिल्य का वचन है:—

सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १।१।१)
सर्वस्मादधिकः स्नेहो भक्तिरित्युच्यते बुधैः (शाण्डिल्य तत्त्वसुधा)

भाष्यकार श्री रामानुजाचार्य का मत है:—

स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।
(गीता पर श्रीरामानुजभाष्य ७ अध्याय १ श्लोक)

भावुक भक्तराज श्री रूपगोस्वामी का सिद्धान्त है:—

---

१. गीता के इस श्लोक में दैवीप्रकृतिमाश्रिता और महात्मनः से साधक अव्ययं (निराकार) भूतादि (सुराकार) और मां (नराकार) से साध्य; तथा ज्ञात्वा भजन्ति अनन्यमनसः से साधना के भाव स्पष्ट होते हैं। इस तरह इस श्लोक में भक्ति की पूरी परिभाषा मिल जाती है।

क्लेशघ्नी-शुभदा मोक्षलघुताकृत् - सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा।।

(श्री हरिभक्तिरसामृतसिंधु प्रथम लहरी पूर्वविभाग १३ श्लोक)

इन सब उक्तियों का सारांश यही है कि भक्ति में प्रेम का भाव अवश्यम्भावी है। परन्तु इतना होते हुए भी भागवतकार का कथन है :—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथागतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।।
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।।
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।

(श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० २९ श्लो० १३, १४, १५)

यही नहीं जगद्गुरु शंकराचार्य तो कहते हैं कि मनसा वाचा कर्मणा जो कुछ होता अथवा किया जाता है वह सब भक्ति के ही अन्तर्गत समझा जा सकता है : देखिए :—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्त्रोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्[१]।।

(शिवमानस पूजास्तोत्र ४ श्लोक)

उपर्युक्त उक्तियों में जगद्गुरु शंकराचार्य के वाक्य तो भक्ति के अतिव्यापक रूप को प्रकट कर रहे हैं, भागवत के तीन श्लोक उसके

---

१. नानक जी ने भी इसी भाव पर कहा है—
जेता चलूं तेतो परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।
नानक निसदिन रामभजन बिन भाव न लाऊँ दूजा।।

व्यापक रूप की ओर संकेत कर रहे हैं और शेष वाक्य उसके प्रकृत रूप को स्पष्ट कर रहे हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति की जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है——

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।

३०८-५

इस परिभाषा की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इस एक ही पंक्ति में भक्ति के तीनों रूपों की चर्चा हो गयी है।

भक्ति के पहले रूप (अतिव्यापक रूप) का रहस्य देखिए। भक्ति भाव है, कि क्रिया है कि विचार है इस बात को गोस्वामी जी अपनी परिभाषा में अस्पष्ट[1] रख कर बता देते हैं कि यों तो परमात्मा को द्रवीभूत करने वाले अथवा यों कहिये कि परमात्मा को प्रसन्न करने वाले (उनके नियमों के अनुकूल कहाने वाले) जो भी भाव, जो भी विचार और जो भी कार्य होंगे वे सब भक्ति ही कहावेंगे तथापि जिस भक्तिपद्धति से परमात्मा शीघ्र (बेगि) द्रवीभूत होते हैं वही भगवत्कारुण्य का विशेष सम्पादन कर सकती है (कहहु सो भगति करहु जेहि दाया) और वही भक्त को सुखदाई भी रहा करती है (सो मम भगति भगत सुखदाई)। इस प्रकार गोस्वामी जी यद्यपि भक्ति के प्रकृत रूप को ही विशेष संग्राह्य बताते हैं तथापि वे इतना और संकेत कर देते हैं कि भक्ति का अतिव्यापक रूप भी है।

भक्ति के दूसरे अथवा व्यापक रूप का रहस्य भी इसी परिभाषा में बहुत अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। इस रूप में केवल तन्मयता पर जोर रहता है। वह तन्मयता स्नेह मोह भय क्रोध अथवा किसी अन्य प्रकार से भी क्यों न हो। ये जितने प्रकार हैं वे या तो राग के अंतर्गत होंगे या

१. "जाते" का "जा" कोई भाव है कि विचार है कि क्रिया; यह सामान्यतः तो अस्पष्ट ही है। विचार करने पर भले ही स्पष्ट हो।

द्वेष के। आर्यों और बानरों ने राग के मार्ग से तन्मयता प्राप्त की और राक्षसों ने द्वेष के मार्ग से। गोस्वामी जी ने राक्षसों के वैरभाव को भी स्मरण का एक अंग माना है और इस प्रकार उन्हें भी भगवत्कृपा का पात्र बना दिया है।[१] राग और द्वेष—रीझ और खीझ— के इस रहस्य को लेकर ही तो वे कहते हैं:—

तुलसी अपने राम को रीझ भजो कै खीझ।।

राग और द्वेष—कृपा और क्रोध—के भावों को एक साथ प्रकट करने के लिए गोस्वामी जी ने "द्रवहुँ" शब्द को चुना है। आप्टे महोदय अपने कोष में लिखते हैं:—

द्रु (द्रवित=) (i) To melt, ooze (fig also) द्रवति हृदयमेतत् —द्रवीभूत to be melted as with pity ect, (ii) to rust, attack, assault quickly. B. K. 9-95

भक्ति के तीसरे रूप की स्पष्टता तो इस परिभाषा में है ही। गोस्वामी जी का "द्रवहुँ" शब्द अन्य स्थलों में केवल दयार्द्र होने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। भाई शब्द भी प्रीति का द्योतक है न कि विरोध आदि किसी भाव का। वे अन्यत्र "भक्ति" को "द्वेष" से भिन्न बताकर उसके प्रकृतरूप ही की पुष्टि कर रहे हैं। वे तो "भक्ति" को "प्रपत्ति" से भी पृथक् बताते हुए कहते हैं:—

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं।।
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरण कमल अनुरागा।।
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।।
३०४-९ से ११

---

१. उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयरु भाव सुमिरत मोहिं निसिचर।
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी।।
३९४-१७, १८

इसलिए गोस्वामी जी ने जिस भक्ति का उपदेश सर्वसाधारण के लिये दिया है उसमें प्रेमभाव अनिवार्य है।

गोस्वामी जी की परिभाषा का सीधासादा अर्थ इस प्रकार होगा:—

"भक्ति वह (संज्ञा, क्रिया, भावना अथवा तीनों का समन्वय) है जो भक्त का हृदयाह्लादन करते हुए भगवान् को शीघ्र प्रसन्न (दयार्द्र) कर लेने में समर्थ हो।"[1]

इस अर्थ में भक्ति का प्रकृतरूप ही विशेष रूप से प्रकट हो रहा है। पहिली बात तो यह है कि इसमें दो हृदयों के द्रवीभूत होने की चर्चा है (भगवान् के द्रवित होने और भक्त के सुखी होने की बात है) इसलिए निश्चय ही वह प्रेमभावना से सम्बद्ध वस्तु है। दूसरी बात यह है कि वह भगवान् की कृपा सम्पादन कराने वाली—उनको द्रवीभूत करनेवाली—वस्तु है। तीसरी बात यह है कि वह भगवान् को द्रवित ही नहीं वरन् शीघ्र द्रवित करने वाली वस्तु है। चौथी बात यह है कि वह ऐसे परब्रह्म परमात्मा की ओर अर्पित होती है जो आध्यात्मिक (निराकार) आधिदैविक (सुराकार) और आधिभौतिक (नराकार) झांकियों वाला होकर भी व्यक्तित्ववान् (मैं) और जीवों की ओर भातृत्वभाव युक्त (भाई) समझा जाता है। पांचवी बात यह है कि यद्यपि वह भक्तहृदयों की आनन्द-परिप्लावित करने वाली भावना है तथापि उसे परमात्मा ही की वस्तु—दिव्य वस्तु—"मम भगति"—समझना चाहिए।

पहिली बात में विशुद्ध प्रेम के साथ ही साथ प्रपत्ति-शरणागति की तथा निष्काम सेवा की भी सभी बातें आ जाती हैं। दूसरी बात में भगवान् की कृपा उनकी प्रसन्नता, उनकी स्वीकृति, उनका अपनाया जाना, उनका

---

१. निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहिं बस करी।।३१४-२४

महर्षि शाण्डिल्य का निम्नलिखित सूत्र भी विशुद्ध भक्ति को द्वेष की भावना से अलग कर रहा है—

द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रसशब्दाच्च रागः।।१।१।६

साक्षात्कार आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं। स्मरण रहे कि भक्तिमार्गियों का मुख्य ध्येय यही है न कि मुक्ति। तीसरी बात में भक्ति की श्रेष्ठता भली भांति ध्वनित हो जाती है क्योंकि ध्येय को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कराने वाला—बिना परिश्रम सरलतापूर्वक मिला देने वाला—मार्ग यही है।[1] चौथी बात में आराध्य की पूर्णता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ रहा है।[2] पाँचवीं बात में भक्ति का लोकोत्तर आनन्द तथा उसका भगवत्कृपा-साध्यत्व स्पष्ट ही है। भक्ति की परिभाषा में इन बातों से अधिक और चाहिए ही क्या?

"भक्ति" के बाद दूसरा विचार्य शब्द है "हरि"। अल्लाहभक्ति, शिवभक्ति आदि की बात न कहकर गोस्वामी जी ने हरिभक्ति की बात कही है। भगवान् के अभारतीय नाम रूपों और भावों का तो गोस्वामी जी ने जानबूझ कर परित्याग किया है। भारतीय नामरूपों और भावों में भी अथवा यों कहिये कि भारतीय देवताओं में भी उन्होंने बहुत काट-छाँट कर दी है। त्रिवेद और पञ्चदेव को छोड़कर कर शेष देवगण (विशेषकर इन्द्रादि वैदिक देव) इसलिए त्याज्य हुए कि (१) गोस्वामी जी के समय में भारत के सामान्य वातावरण से उन देवताओं की प्रधानता दूर हट चुकी थी। (२) वे न केवल विविध भोगों के—क्षुद्र सिद्धियों के—देनेवाले बताये जाते थे वरन् स्वतः भी मोक्ष के अनधिकारी और केवल भोग के लिये ही शरीर धारण करने वाले समझे जाते थे। (३) वैदिक काल से ही उन देवताओंकेसाथ ऐसी कहानियाँ जोड़ दी गयी थीं, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उत्तम अर्थ रखते हुए भी आधिभौतिक दृष्टि से उन देवताओं की दुश्चरित्रता, उच्छृंखलता और नीचता ही घोषित कर रही थीं।

---

१. सुगमता, सुखदाता आदि के कारण यह मार्ग अन्य मार्गों की अपेक्षा शीघ्र सिद्धिदायक कहा गया है।

२. गोस्वामी जी के राम, जो यहाँ अपने को 'मैं' कह रहे हैं किस प्रकार त्रिविध पूर्णता-युक्त हैं यह चतुर्थ परिच्छेद में समझा दिया गया है।

रहे त्रिदेव और पंचदेव सो उनमें गौरी, गणेश, सूर्य और ब्रह्मा की महत्ता जिन कई कारणों से सर्वसाधारण की दृष्टि से हट चुकी थीं वे हम द्वितीय परिच्छेद में बता आये हैं। यहाँ शंकरभक्ति और हरिभक्ति की तुलना में जो बातें कही जायंगी उनमें से अनेक प्रकारान्तर से गौरीभक्ति, गणेश-भक्ति, सूर्यभक्ति आदि के सम्बन्ध में भी घटा ली जा सकती है।

यह कहा जा चुका है कि भारत में विष्णुभक्ति की अपेक्षा शंकर-भक्ति का कुछ कम प्राधान्य न था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने शंकरजी के लिये भी अपनी परम आस्था दिखाई है और उनकी भक्ति के लिये भी बहुत बड़ा मान दिया है। यहाँ तक कि वे अपनी विष्णुभक्ति के लिये शंकरभक्ति का होना अनिवार्य मानते हैं।[1] परन्तु उन्होंने लोकहितार्थ हरिभक्ति ही को प्राधान्य दिया है। उनके इस निश्चय के कई कारण जान पड़ते हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं——

(१) उन्हें बाल्यकाल से ही हरिभक्ति की शिक्षा मिली थी। इसी भक्ति पर उनकी पूर्ण श्रद्धा हो चुकी थी और अटल विश्वास जम चुका था। विचार करने पर भी उन्हें ऐसा कोई कारण नहीं मिला जिससे हरि की भक्ति का परित्याग करके किसी अन्य की भक्ति को ग्रहण करने की आवश्यकता जान पड़े।

(२) शक्ति की उपासना के साथ वाममार्ग का, और शंकर की उपासना के साथ वैराग्य और संन्यास का, अधिक सम्बन्ध है। लोकरक्षा का भाव जगद्‌रक्षक विष्णु की भक्ति के साथ ही विशेष रूप से सम्बद्ध है। गोस्वामी जी साधुमत के साथ लोकमत का भी सामंजस्य चाहते थे। इसलिए उन्हें विष्णुभक्ति अथवा हरिभक्ति ही अधिक उपयुक्त जान पड़ी। जो भक्ति केवल व्यक्तिगत साधना के रूप में हो उससे कहीं बढ़ कर वह भक्ति है जो व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकरक्षा के

---

१. अउरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।।४६३-२१, २२

भाव भी दृढ़ करे। गोस्वामी जी ने शंकर तथा उनकी भक्ति के जिस रूप को मान दिया भी है वह व्यक्तिगत साधना तथा लोकरक्षा दोनों को सँभाले हुए है।

(३) विष्णुभक्ति का जैसा सांगोपांग विवेचन है और पुराणों इत्यादि के द्वारा वह जिस प्रकार सर्वसाधारण में विशेषरूप से प्रचलित हो गयी है उस प्रकार से न तो शिवभक्ति का विवेचन ही हुआ और न प्रचार ही। हरि के नाम, रूप, लीला और धाम की जो हृदयाकर्षक विशेषताएँ प्रकट की गयी हैं वे शंकर जी के नाम, रूप, लीला, और धाम के वर्णन की अपेक्षा अधिक रोचक बन पड़ी हैं।

(४) आराध्य के त्रैविध्य का—निराकार, सुराकार और नराकार रूप का—जैसा महत्त्व हरि में है वैसा शंकर में नहीं। अवतारवाद की स्पष्टता तो केवल हरि ही की विशिष्ट वस्तु है। यह अवश्य है कि शंकर भक्तों ने भगवान् शंकर के भी अनेक अवतार माने हैं परन्तु वे अवतार अपना कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखते। वे अधिकांश में बिजली की तरह आये और चले गये। भारतभूमि और भारतीय जनता के साथ उनका कोई अमिट सम्बन्ध स्थापन नहीं होने पाया। हरि के अवतारों का यह हाल नहीं है वे मनुष्यों में पले, मनुष्यों में बढ़े और मनुष्यों में न केवल अपने वंशज वरन् अपनी अमिट छाप भी छोड़ गये। भगावान् राम और भगवान कृष्ण के समान लोकनायक महापुरुष हरि ही के अवतार माने गये हैं। ऐसे अवतारों की चर्चा देखकर ही अवतारवाद की स्पष्टता को हरि ही की विशिष्ट वस्तु कहा जाता है।[1]

---

१. स्वामी रामानन्द जी की सन्तमत वाली शिष्य परम्परा ने अवतारवाद को (साथ ही साथ मूर्तिपूजा को भी) उड़ा देने की चेष्टा की, परन्तु वह कृतार्थ न हो सकी। अन्य कई बातों मे सिद्ध सन्तों में मतैक्य रखते हुए भी गोस्वामी जी श्रुतिसम्मत अवतारवाद के—राम कृष्ण की उपासना के—कट्टर पोषक थे।

जान पड़ता है कि जानबूझकर ही गोस्वामी जी ने यहाँ विष्णु भगवान् के अन्य सब नामों की अपेक्षा हरिनाम को विशेष महत्त्व दिया है। हरि शब्द का अर्थ करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य जी विष्णु-सहस्रनाम की टीका में लिखते हैं "स्मृतिमात्रेण पुंसां पापं हरतीति हरिर्द्वर्णत्वाद्वा हरिः, 'हराम्यघं च स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहं वर्णश्च मे हरिर्वेति तस्माद्धरिरहं स्मृतः। इति भगवद्वचनात्" सारांश यह है कि हरि—(१) पापों को दूर कर देने वाला (परम कल्याणकारी), (२) हरिद्वर्ण—हरित् का अर्थ दिशाएँ भी होता है—और विष्णु का वर्ण वह है जिसमें अन्य सब वर्णों का लय हो जाता है इसलिए हरिद्वर्ण का अर्थ होगा अनन्त विशाल।[1] इसलिए आराध्य के उत्कृष्ट गुणों का द्योतन करने के लिये वह शब्द सर्वथैव उपयुक्त है।

इस नाम की दूसरी विशेषता यह है कि यह राम और कृष्ण नामों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। कलिसन्तरणोपनिषद् में लिखा है "द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवान् गां पर्यटन् कलिं सन्तरेयमिति सहोवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तत् शृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति। नारदः प्रपच्छ तन्नाम किमिति सहोवाच हिरण्यगर्भः हरेराम हरेराम। राम राम हरे हरे। हरेकृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।। इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते।।" इस उक्ति में राम, कृष्ण और हरिनामों का संयोग बताया गया है। "हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा" आदि वाक्यों में गोस्वामी जी ने राम के लिये हरि शब्द का प्रयोग किया है और "जीह जसोमति हरि

---

१. परमात्मा को सर्वगत (अनन्त विशाल) और सर्वहित (परमकल्याणकारी) जान कर ही भजने की आज्ञा भगवान् रामचन्द्र जी निम्नलिखित पंक्ति में देते हैं—

सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम।।४५१-१६

हलधर से" कहकर उन्होंने कृष्ण के लिये भी हरि शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए रामभक्ति और कृष्णभक्ति को एक ही भक्ति की दो शाखाएँ अथवा एक ही भक्ति के दो रूप बताने के अभिप्राय से गोस्वामी जी ने यहाँ हरि-भक्ति की बात कही है। विरति और विवेक का विशेष उपयोग करने से उन्होंने कृष्णभक्ति की अपेक्षा रामभक्ति को श्रेष्ठ अवश्य समझा, परन्तु उनकी रामभक्ति समूची हरिभक्ति का विशुद्धतम रूप बनकर ही रही। उसमें सोलह कला और बारह कला के-से झंझटों को कोई स्थान नहीं दिया गया। इसलिए उन्होंने अपनी अभीष्ट भक्तिपद्धति के परिचयार्थ यहाँ व्यापक नाम—हरिभक्ति—ही पसन्द किया। वे जिस तरह शंकर-भक्तों को अपनी ओर समेटना चाहते थे उसी तरह कृष्ण भक्तों को भी। शंकरभक्ति को अपनी पद्धति का आवश्यक अंग बनाकर उन्होंने शंकर-भक्तों को समेटा और अपनी भक्तिपद्धति को हरिभक्ति नाम देकर उन्होंने कृष्णभक्तों को भी सन्तुष्ट कर दिया।

इस नाम की तीसरी विशेषता यह है कि अनेकानेक भक्त आचार्यों ने भगवन्नाम की महिमा में इसी नाम का विशेष प्रयोग किया है। वैदिक ऋचाओं के आदि में जब तक "हरिः ओं" न कहा जाय तब तक पाठ का प्रारम्भ ही नहीं होता। फिर,

नित्योत्सवस्तदा तेषां नित्य श्रीर्नित्य मंगलम्।
येषां हृदिस्थो भगवान् मंगलायतनो हरिः॥—जमदग्नि

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनं।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥—विदुर

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥—अंगिरा

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥—पाराशर

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैवं पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणो हरिः॥—शुक[1]

"किं स्मर्त्तव्यं पुरुषः? हरिनाम सदा—शंकराचार्य (प्रश्नोत्तरी) आदि अनेकानेक श्लोक हरिनाम महिमा के साथी हैं। गोस्वामी जी ने इन सब आचार्यों के निष्कर्ष को अमान्य करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। इसलिए यद्यपि अपने इष्टदेव के नाते उन्होंने राम के नाम को सर्वश्रेष्ठ महत्त्व प्रदान किया है तथापि अपने वैष्णव औदार्य के कारण यहाँ पर परम रामभक्त भुशुंडी जी के मुख से उन्होंने "हरिभक्ति" की चर्चा की है।

तीसरा विचारणीय शब्द है 'संयुतविरतिविवेक"। इस शब्द का दोनों दृष्टिकोणों से विचार कर लेना ठीक होगा। पहिला दृष्टिकोण है तात्त्विक और दूसरा है व्यावहारिक। तात्त्विक दृष्टिकोण से विचार करने पर हम सहज ही जान सकते हैं कि ज्ञान क्रिया और भाव का अथवा विवेक विरति और भक्ति का समन्वय हुए बिना जीव की उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती। कागज के दोनों पृष्ठ और उसकी सफेदी की तरह जिज्ञासा चिकीर्षा और अनुभूति अथवा ज्ञातृत्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व (Knowing, Willing Eeeling) का कुछ ऐसा पारस्परिक मेल रहा करता है कि हम एक दूसरों से पृथक् कर ही नहीं सकते। हमारी बुद्धि को किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक मस्तिष्क आदि में उस ज्ञान की क्रिया न हो जाय। और फिर ज्ञान होकर चित्त में उसकी अनुभूति होनी भी जरूरी है। हमारे मन में किसी क्रिया के लिये चेष्टा ही नहीं उत्पन्न हो सकती जब तक कि हमें उसके विषय का कुछ ज्ञान और उस सम्बन्ध की कुछ भावना न हो। हमारे चित्त में ऐसे किसी भाव का उठना प्रायः असम्भव ही है जो आलम्बन अथवा उद्दीपन के ज्ञान से एकदम शून्य हो

---

१. ये सब श्लोक पाण्डव गीता से लिये गये हैं।

तथा अनुभाव आदि की क्रियाओं से एकदम रहित हो। यदि कोई चाहे कि वह केवल अनुभूति के मार्ग से अग्रसर होकर शेष दोनों मार्गों की—ज्ञान और कर्म की—भरपूर उपेक्षा कर सकता है तो यह उसकी भूल हो तो होगी। इसीलिए जो सच्चे तत्त्वदर्शी आचार्य हैं उन्होंने साम्प्रदायिकता का दुराग्रह छोड़कर ज्ञान कर्म और भक्ति के समन्वय को ही विकास का सम्यक् मार्ग बताया है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जिन जीवों में ज्ञानार्जनी वृत्ति की प्रबलता है वे उसी समन्वय मार्ग को ज्ञानयोग कह देते हैं, जिनमें कार्यकारिणी वृत्ति की प्रबलता है वे उसे कर्मयोग कह देते हैं और जिनमें चित्तरंजिनी वृत्ति की प्रबलता है वे उसी मार्ग को भक्ति-योग कह देते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानयोग में विरति और भक्ति की आवश्यकता नहीं कर्मयोग में विवेक और भक्ति की आवश्यकता नहीं अथवा भक्तियोग में विरति और विवेक की आवश्यकता नहीं। ज्ञानयोग वास्तव में भक्तिमूलक वैराग्यप्रधान ज्ञानयोग है, कर्म-योग वास्तव में ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग है और भक्तियोग वास्तव में ज्ञानमूलक वैराग्यप्रधान भक्तियोग है। अधिकारी भेद से जिस प्रकार एक ही मार्ग के तीन अलग-अलग नाम हो जाते हैं उसी प्रकार अधिकारी भेद ही के कारण उस मार्ग के अंगों में प्राधान्य अप्राधान्य आदि दिखा दिया जाता है। कर्मयोगी के लिये अनासक्ति (वैराग्य) की प्रधानता है, ज्ञानयोगी के लिये विवेक की प्रधानता है और भक्तियोगी के लिये अनुभूति (अनुरक्ति) की प्रधानता है। परन्तु इस प्रकार की प्रधानता रहते हुए भी शेष दो अंगों का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। ऐसे बहिष्कार की चेष्टा असंभव भी है और अवांछनीय भी। इसलिए गोस्वामी जी ने अपनी हरिभक्ति को संयुत-विरति-विवेक कहा है।

"सयुक्तविरतिविवेक" को व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि इस विशेषण से विशिष्ट करके गोस्वामी जी ने अपने भक्तिपथ को न केवल निर्दोष ही कर दिया है वरन् उसे देशकालानुकूल परम उपयोगी भी बना दिया है। भक्ति तो प्रेम और श्रद्धा का विषय है और

लोग कहते हैं कि ये दोनों चीजें अकसर अन्धी रहा करती हैं। फिर भक्ति और मोहासक्ति (माया मोह) का भेद भी इतना सूक्ष्म है कि सामान्य दृष्टि उसे देखने और परखने में बेकाम ही तो बनी रहती है।[1] इसलिए जब तक उसे ज्ञान और वैराग्य की आँखें न प्रदान की जायंगी तब तक क्या भरोसा कि वह परमधाम तक हमें पहुँचा ही दे।

विवेक की आँख ही का चमत्कार देखिए। श्रद्धा तो कह रही थी कि जो कुछ है सो दाशरथि राम ही हैं। परन्तु विवेक ने कहा, "नहीं उनके रूप का त्रैविध्य देखा जावे।" श्रद्धा यदि सर्वतंत्र स्वतंत्र होती तो राम की महिमा के आगे अन्य देवों की तुच्छता दिखाने के लिये शंकर आदि को भी दो चार गालियाँ सुना सकती, परन्तु यह विवेक ही था जिसने रामभक्ति और शंकरभक्ति का सामञ्जस्य करके दोनों को अभिन्न बताया। श्रद्धा तो हरिशब्द के अन्तर्गत राम और कृष्ण दोनों को सम्मिलित करके रामभक्ति और कृष्णभक्ति का समान प्रवाह चला सकती थी; परन्तु यह विवेक ही था, जिसने कृष्णभक्ति के साथ सम्बन्ध हो जाने वाली विलासिता और उच्छृंखलता का ध्यान करके रामभक्ति के लोक-रक्षक रूप पर ही पूरा जोर दिया। मूर्तिपूजा ही का विषय लीजिए। वह सनातनधर्म का एक प्रधान अंग है और सनातन काल से भारतवासी उसे सम्मान देते आये हैं। "आगम निगम पुराण" के अनेकानेक ग्रन्थ उसका मंडन कर रहे हैं। इसलिए श्रद्धा निश्चय ही उसे भक्तियोग का प्रधान स्तम्भ कह सकती है। परन्तु विवेक देखता है कि यवन साम्राज्य में धड़ाधड़ मूर्तियां तोड़ी जा रही हैं और मूर्तियों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे मूर्तिभंजकों का मानभंजन तक कर सकें। इसलिए वह मूर्तिपूजा के रहस्य को भलीभाँति समझकर अपना निर्णय सुनाता है कि युगधर्म के अनुसार मूर्तिपूजा को द्वापरकाल की साधना

---

१. अद्वैतवादियों ने भक्तिभाव को भी वास्तविक माया का एक अंग ही माना है। भक्ति और मायामोह दोनों की जड़ में, आसक्ति ही तो काम कर रही है।

समझना चाहिए न कि कलियुग की। "कलि केवल हरिनाम अधारा" की बात मानकर मूर्तिपूजा के बदले नामजप ही को भक्ति का प्रधान साधन बनाना चाहिए। फिर, कर्मसिद्धान्त ही की ओर देखिए। श्रद्धा कहती है कि सर्वसमर्थ भगवान् की कृपा हो जाय तो तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बन जाय, बात की बात में दिन की रात और रात का दिन हो जाय, धोखे में भी भगवान् का नाम उच्चारण करने मात्र से ही अधमाधम की भी मुक्ति हो जाय! इसलिए जो कुछ है सो भगवान की कृपा है। विवेक कहता है कि "ठीक! माना!! परन्तु आखिर इस कृपा के लिए भी तो अपनी ओर से कुछ क्रिया चाहिए। वह क्रिया ही तो कर्मचक्र के सार्वभौम नियम की संरक्षा करते हुए भगवान् के न्याय और भगवान् की दया का सामंजस्य स्थापित करती है। इसलिए भक्ति के मार्ग में अनर्गलता अथवा उच्छृखलता को स्थान ही कहाँ है?" विवेक की महिमा के व्यावहारिक दृष्टिकोण को समझाने के लिए ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जैसा विवेकदृष्टि का हाल है वैसा ही विरतिदृष्टि का भी है। भगवान् की ओर आसक्ति होने से "सत्यशिवसुन्दर" की ओर आसक्ति होना स्वाभाविक हो जाता है। इस आसक्ति का विस्तार बहुत भारी है। इम्तिहान में पास होना, मुकदमा जीत जाना, दुश्मन पर फतह पा लेना आदि आदि बातें भी "शिव" सम्बन्धिनी आसक्ति के अन्तर्गत हो जाती हैं; दूसरे के मन की बात जान लेना, अपने कार्यों या किसी विशिष्ट कार्य या विचार का भावी परिणाम स्पष्ट देख लेना आदि बातें सत्य" सम्बन्धिनी आसक्ति के अन्तर्गत हो जाती हैं; और कान्ता की रूपछटा का मोह, कोमल शिशु के लावण्य का मोह, बिलासितामय परिस्थिति का मोह, अपने को मधुर (अथच सुन्दर) जान पड़ने वाली अपनी कीर्ति का मोह और उपयोगिता की दृष्टि से परम सुन्दर जान पड़नेवाले कांचन (रुपयों पैसों आदि) का मोह, आदि बातें "सुन्दरं" सम्बन्धिनी आसक्ति के अन्तर्गत हो जाती हैं। यह कहना तो बहुत आसान है कि जब सभी कुछ विश्वात्मा भगवान् का

चमत्कार है तब किसी भी बात की ओर आसक्ति रखना उन्हीं की ओर आसक्ति रखना होगा परन्तु यह देखना बहुत कठिन है कि ऐसी प्रत्येक आसक्ति के भीतर जो 'अहं' और "ब्रह्म" का द्वन्द्व छिपा रहता है वह कितना घातक और कितना अशान्तिकर है। विश्व के सम्बन्ध में जितनी आसक्ति है उसका यदि विवेचन किया जाय तो पता लगेगा कि उस आसक्ति के भीतर अहं—ऐसा अहम् जो अपने को ब्रह्म से पृथक् समझ रहा है—किस गहराई तक पैठा हुआ है। आश्चर्य है कि "अहम्" अपनी इस आसक्ति की पूर्णता के लिए उस ब्रह्म ही को अपना साधन बनाता है जो सब प्रकार से उसका आराध्य होना चाहिए था। मैं अलग, कामिनीकांचन आदि पदार्थ अलग और मेरे लिये मेरी आसक्ति के इन पात्रों को जुटा देने वाला परमात्मा अलग! इन्द्रियों के चक्कर में पड़कर अन्धी बन जाने वाली आसक्ति इससे अधिक और सुझा ही क्या सकती है। परिणाम यह होता है कि हम इम्तिहान में पास होने के लिए भगवान् को एक नारियल या सवा रुपये के प्रसाद का प्रलोभन देते हैं, मुकदमा जीतने के लिये सत्यनारायण की मानता मानते हैं, मनचाही स्त्री से अपना विवाह करा देने के लिये परमात्मा को एक प्रकार से अपना घटक होने के लिये कहते हैं और जब ये बातें किसी कारणवश सिद्ध नहीं होती तब या तो पुराणों को जलाने लगते हैं या मूर्तियां इधर उधर फेंकने लगते हैं या ईश्वर के एक-एक नाम पर सौ-सौ कटु वाक्य कहने लगते हैं। जिसके पास विरति रूपी दृष्टि है वह ऐसा कदापि न करेगा।

भक्ति का उद्देश्य है अलौकिक आनन्द न कि लौकिक वस्तुओं अथवा सुख-साधनों की प्राप्ति। इसलिए जो समझता है कि मैं भक्ति के सहारे अमुक पदार्थ अमुक शक्ति अथवा अमुक अवस्था पा ही लूंगा, वह भूल करता है। भगवान् उसकी इन इच्छाओं की पूर्ति कर दें यह दूसरी बात है परन्तु वे साधक के क्रीतदास नहीं है जो सदैव उसके इशारों पर नाचते हुए अलाउद्दीन के चिरागी शैतान की भाँति उसकी इच्छाएं ही पूर्ण करते फिरें। नारद जी से बढ़ कर कौन भक्त होगा परन्तु जब उन्होंने भी राज-

कुमारी की प्राप्ति के लिये ईश्वर को साधन बनाना चाहा तब भगवान् ने बात की बात में उन्हें चारों खाने चित्त कर दिया। इसलिए जो सच्चा भक्त है वह लौकिक वस्तुओं अथवा सुख-साधनों के लिये नहीं वरन् भक्ति के आनन्द के लिये ही भक्ति करता है।[1]

गोस्वामी जी यद्यपि यह स्पष्ट लिखते हैं कि भक्त के पास सुख-सम्पत्तियाँ बिना बुलाएँ दौड़ी चली आती हैं[2] तथापि वे इस बात का प्रलोभन देकर लोगों को अपने भक्तिमार्ग की ओर आकृष्ट करना नहीं चाहते। वे कहीं भी नहीं कहते कि अमुक मंत्र का अमुक प्रकार से अनुष्ठान करने पर अमुक सिद्धि हो ही जायगी। प्रलोभनों के तो वे इतने विरुद्ध जान पड़ते हैं कि उन्होंने स्वर्ग अथवा वैकुण्ठ के रोचक वर्णनों से भी अपनी लेखनी को साफ़ बचा लिया है। वे कहीं भी यह नहीं कहते कि भगवद्भक्तों को परलोक में बढ़िया-बढ़िया महल, मधुर-मधुर उपवन, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ राशि-राशि मणि माणिक्य आदि मिलेंगे। वे तो उलटे यह कहते हैं कि "भाई, भक्ति करना है तो सब आशा और भरोसा छोड़कर भक्ति करो,[3] समूचे संसार से विरक्त होकर भक्ति करो।"

गोस्वामी जी के समय में देश पराधीन हो रहा था। भारतीय सनातनधर्म पर न जाने कितने बाहरी और भीतरी आघात किये जा रहे थे।

---

१. जाहि न चाहिए कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु॥२२१-९, १०

२. जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं।
तिमि सुख सम्पत्ति बिनहिं बोलाए। धरमशील पहँ जाहिं सुभाये॥
१३४-१४, १५

३. तजि सकल आस भरोस गावहिं सुनहिं सन्तत सठ मना। ३७०-१४
निज सिद्धान्त सुनावहु तोहीं। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहीं॥
४८१-१३
अस बिचारि भजु मोहिं परिहरि आस भरोस सब। ४८२-१२

तपोबल पर से लोगों की आस्था उठ सी गई थी। ब्रह्मशाप से प्रतापभानु सरीखे राजाओं का समूल उन्मूलन केवल नानी की कहानियों का विषय समझा जा रहा था। लाख-लाख पुकार करने पर भी चक्रधारी भगवान् दिल्ली की गद्दी पर किसी युधिष्ठिर को बैठाने के लिये राजी नहीं होते से जान पड़ते थे। ऐसी स्थिति में कामनाशील भक्तों के लिये दो ही रास्ते रह गये थे। या तो वे अपने अथवा देश के प्रारब्ध को दोष देकर कलियुग की गौरवगाथा गाते हुए चुप चाप हो जाया करते थे या इस विषमता में ईश्वर की असमर्थता के प्रमाण पाकर धार्मिक क्रान्तिकारी बन जाते थे। जो आस्तिकता, कामना और प्रयत्न तीनों को लेते हुए चलना चाहते थे वे अधिकांश में साधुमतवादी बनकर गुरुशिष्यपरम्परापद्धति वाली व्यक्तिगत साधना की ओर लोगों को झुका रहे थे। गोस्वामी जी ही वे महानुभाव थे जिन्होंने बहुत ही स्पष्टता के साथ यह सोचा कि भारतवर्ष में रामराज्य आने के लिये भारतीय हृदयों में राम का आविर्भाव आवश्यक है और राम के आविर्भाव के लिये सांसारिक वस्तुओं के प्रति सुदृढ़ रहनेवाली आसक्ति का तिरोभाव आवश्यक हैं।[1] इसीलिए गोस्वामी जी ने —आस भरोस की जड़ काटी। वे उन लोगों में नहीं थे जो भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर शिष्यों को साधनामार्ग में फँसा लेते और क्रियासिद्धि के अभाव में फिर उन्हें भयंकर अविश्वासी बन जाने के लिये बाध्य कर देते है।

गोस्वामी जी का सिद्धान्त है "सब तज हरि भज"। यहाँ वे "हरि" को "सब" से बाहर कर लेते है। इसी प्रकार "परिहरि आस भरोस सब" "भजहिं जो मोहि तजि सकल भरोसा" "अमृषैव भाति सकलम्" आदि में "सब" या "सकल" का अर्थ आराध्येतर अन्य सर्व वस्तु है। उन सब विषयों अथवा वस्तुओं के लिये तो वे विरति और विवेक का प्रयोग करने के लिये कहते हैं परन्तु आराध्य के सम्बन्ध में न तो वे विरति ही की सिफारिश

---

१. जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकै रवि रजनी एक ठाम॥

करते हैं और न विवेक ही की। आराध्य के लिये तो वे "एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास" रखते हैं। "सपनेहु आन भरोस न देवक" (३०४-५) उनके सीतापति का परम सेवक है। उनका भक्त जगत से विरक्त हो परन्तु आराध्य में पूर्णतः अनुरक्त (आसक्त) हो। इसी प्रकार वह संसार की सभी बातों को चाहे तो तर्क की कतरनी से कतर कर फेंक दे परन्तु यदि वह भगवदवतार के विषय मे तर्क की कैंची चलावेगा तो ठीक उसी प्रकार की फटकार पावेगा जैसी शंकर जी के द्वारा पार्वती जी को मिली थी। वहाँ विवेक इसी में है कि चुपचाप श्रद्धा से काम लिया जाय। हम अनध्यस्त विवर्त की बात पहले कह आये हैं। विवेक दृष्टि से यद्यपि यह अवतारवाद एक विवर्त ही है तथापि वह अनध्यस्त होने के कारण किसी दिन आप ही आप ब्रह्मज्ञान करा देता है। कनककुण्डल के तत्त्व को हृदयंगम करते हुए हम अनायास ही कनक के तत्त्व को हृदयंगम कर लेते हैं।[१]

गोस्वामी जी ने अपने भक्ति मार्ग को श्रद्धा और आसक्ति के सहारे ठहराया जरूर है परन्तु उनकी वह श्रद्धा सत्तर्क को लिये हुए है और यह आसक्ति विरक्ति की आँच से भली भाँति संशोधित की हुई है। इस सम्बन्ध में गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

---

१. शायद इसीलिए राम कृष्ण सरीखे प्रख्यात अवतारी को धोखे से (उन्हें ईश्वर न जानते हुए) भजन करना भी प्रशस्त बताया गया है। भागवत्कार कहते हैं कि जार बुद्धि से भी कृष्ण में आसक्त होकर कुछ गोपियाँ तर गई थीं (भागवत दशमस्कंध पूर्वार्ध अ० २९ श्लोक ११)

गोस्वामी जी कहते हैं —

जो जगदीश तो अति भलौ जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग।।
(दोहावली ९१ दोहा)

होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥—१६-३

सुख सम्पत्ति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥

ए सब रामभगति के बाधक। कहहिं सन्त तव पद अवराधक॥

१३१-१६, १७

मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान विराग नयन उरगारी॥

भाव सहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥

५०३-१, २

विरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।

जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥५०३-९,१०

चौथा विचारणीय शब्द है "श्रुतिसम्मत"। यह अवश्य है कि गोस्वामी जी का हरिभक्तिपथ विरति विवेक से संयुक्त होने के कारण हठ, पक्षपात और दुराग्रह से कोसों दूर है। परन्तु यह भी अवश्य है कि वे अपने उस पथ को "श्रुति" के भीतर ही सीमित रखना चाहते हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि गोस्वामी जी के मतानुसार श्रुति का अर्थ बहुत व्यापक है। इतिहास, पुराण, उपनिषदें, स्मृतियाँ तंत्र आदि सब कुछ "श्रुति" के अन्तर्गत समझे जाते थे। यद्यपि यह ठीक है कि प्राचीन साहित्य में धर्म का तत्त्वज्ञान (Philosophy) विशेषकर निगम से, बाह्याचार (Ritual) विशेषकर आगम से और आस्तिक्यभाव (Theology) विशेषकर पुराणों से मिलता है। इसीलिए स्थल-स्थल पर गोस्वामी जी "आगम निगम पुराण" की बातें करते हैं परन्तु यह भी निश्चित है कि वे इन तीनों को श्रुति शब्द के अन्तर्गत ही मानते हैं और उसकी विस्तीर्णता के यहाँ तक कायल हैं कि सामान्य बातों के प्रमाण के लिये भी वे वेदों ही का नाम लेते हैं। श्रुति के इस वृहत् काय रूप के भीतर हरएक बात का सामंजस्य भिड़ाना एक प्रकार से असंभव ही है। गोस्वामी जी यह बात न जानते हों सो नहीं है। परन्तु उन्होंने अपने भक्त के हाथ में ज्ञान वैराग्य की ढाल तलवार देकर यह निश्चय कर रखा है कि इन शस्त्रों वाला जीव श्रुति के केवल

उन्हीं सिद्धान्तवाक्यों को ग्रहण करेगा जो उसके तथा समाज के लिये वास्तविक रूप से हितकारी होंगे। यही कारण है कि जिन आगमों का नाम उन्होंने श्रद्धापूर्वक लिया है उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित शक्तिपन्थ को उन्होंने हेय बताया है और कौल को (साम्प्रदायिक शक्ति पूजक को) "जीवित शव"[1] की उपाधि दी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब भक्तिपथ के लिये विवेक वैराग्य का आधार रख दिया गया तब फिर श्रुतिसम्मति की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। पहिली बात तो यह है कि श्रुति को आप्तवाक्य माना जाता है। आप्त को हम विशेषज्ञ (Expert) कह सकते हैं। सच्चे आप्तों का दर्जा विशेषज्ञों से भी अधिक है क्योंकि विशेषज्ञता कभी-कभी प्रखर बुद्धि अथवा विशेष तार्किक प्रणाली के सहारे भी प्रसिद्ध हो सकती है परन्तु आप्त होना तो तभी सम्भव है जब वर्ण्य विषय की सिद्धि केवल प्रखर बुद्धि से नहीं वरन् पूर्ण अनुभव से भी हो जाय। इस तरह आप्त लोगों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान एकदम निर्भ्रान्त होगा ही क्योंकि उसका आधार केवल तर्क ही नहीं वरन् हृदय का अनुभव भी है। इन अनुभवात्मक वाक्यों में यदि परस्पर विरोध जान पड़ता है तो समझना चाहिए कि या तो इन वाक्यों को कहने वाले ऋषियों के हृदय की भूमिका अलग-अलग थी—दृष्टिकोण अलग-अलग थे—या उनके शब्दों का अर्थ अलग-अलग है। कई वाक्य भी ऐसे हैं जिसका ठीक-ठीक अर्थ हम नहीं समझ पाते। या तो वे रूपक के ढंग पर कहे गये हैं या उनके शब्दों का अर्थ लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के सहारे किसी दूसरी ही ओर झुका रहता है। यदि ऐसे वाक्य हमारी विवेक और वैराग्यवृत्ति के अनुकूल नहीं हैं तो हम उन्हें शौक से छोड़ सकते हैं।[2] परन्तु यदि इसी कारण हम सभी

---

१. कौल कामबस कृपिन विमूढ़ा.........

......जीवत सव सम चौदह प्रानी।।३८७-८ से १०

२ उदाहरणार्थ अहल्या की कथा ही लीजिए। कुमारिल भट्ट ने इसे

वाक्यों को अप्रामाण्य मानें तो ऐसा समझना चाहिए कि हम सच्चे विशेषज्ञों की राय का अनादर कर रहे हैं। उन लोगों को स्वकथित तत्त्वों और सिद्धान्तों का अनुभव करने के अतिरिक्त और काम ही क्या था? अपना पूरा जीवन खपाकर उन्होंने जिन सिद्धान्तों को स्थिर किया और हजारों वर्षों से जिन्हें जनता मानती आई उन सिद्धान्तों को हम किस प्रकार एकदम ठुकरा सकते हैं? हम सरीखे सामान्य जीवों को केवल अपनी बुद्धि का कहाँ तक भरोसा करना चाहिए। यदि हमारी राय के साथ बड़े-बड़े विशेषज्ञों की राय मिल जाय तभी समझना चाहिए कि हमारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त जनता के लिये संतोषदायक और लाभदायक सिद्ध होगा। इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने सिद्धान्त को श्रुतिसम्मत बताने की बड़ी आवश्यकता समझी है। फिर, आध्यात्मिक मार्ग में ऐसा कोई विषय भी तो नहीं है जिस पर इन आप्तों ने विचार न किया हो। ऐसा कोई तात्त्विक सिद्धान्त ही नहीं है जिसका मूल वेदों में न हो। तब फिर वेदों का तिरस्कार करके अपने विचारे हुए सिद्धान्त की नवीनता की डींग हाँकने से लाभ ही क्या है? मौलिकता की शेखी बघारना दूसरों को चाहे शोभा दे जाय पर गोस्वामी जी के सदृश भक्तों को तो वह कदापि शोभा नहीं दे सकता। ऐसा भक्त तो अनुग कहाने में ही अपना महत्त्व समझता है।

दूसरी बात यह है कि भारतवासियों के लिये वही भक्तिपथ वांछित है जिसका सम्बन्ध भारतीय संस्कृति और भारतीय भाषा से हो। यह सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है जब श्रुतिसम्मत हरिभक्तपथ ही की चर्चा की जाय क्योंकि श्रुतिग्रन्थ ही आर्यभाव और भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषा के सच्चे कोष हैं। अब्दुर्रहीम और भगवानदास का शाब्दिक अर्थ एक ही है। अल्लाह, खुदा, गॉड अथवा राम के वास्तविक अर्थों में

प्राकृतिक दृग्विषय का रूपक मात्र सिद्ध किया है। फिर भी जो लोग इसमें इन्द्र की कामुकता की ध्वनि देख रहे हैं वे शौक से इस प्रकरण को त्याग सकते हैं।

कुछ अन्तर नहीं। हिन्दू गुरु बनाने की अपेक्षा किसी पीर पैगम्बर को गुरु मानकर चलना कुछ बुरा नहीं कहा जा सकता। विचारदृष्टि से यह सब बहुत ठीक है। परन्तु अब्दुर्रहोम, अल्लाह, खुदा, गाड, पीर पैगम्बर, क्राइस्ट आदि शब्दों और व्यक्तियों में वह भारतीयता सम्बद्ध नहीं है जो भारतोयों को उन्हें अपना आत्मीय समझने में उत्साहित करे। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है कि "राम शब्द के उच्चार से लाखों करोड़ों हिन्दुओं पर फौरन असर होगा और गाड शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा।"[१] इसीलिए भारतोयों के कल्याणार्थ श्रुतिसम्मत हरि-भक्तिपथ ही उपयुक्त हो सकता है, दूसरा नहीं।

गोस्वामी जी के समय में भारत की सुसंस्कृत भक्तिपद्धति चार प्रधान धाराओं में विभक्त थी। पहली थी बौद्ध और जैन पद्धति, दूसरी शाक्तपद्धति तीसरी विभिन्न साम्प्रदायिक पद्धति, चौथी निर्गुणवादी सन्तपद्धति। बौद्ध और जैन पद्धतियों का गोस्वामी जी ने न तो खण्डन ही किया है और न मण्डन हो क्योंकि भगवान् बुद्ध और भगवान् ऋषभदेव तो "श्रुतियों" (पुराणों) के अनुसार हरि के अवतार ही थे। फिर उनकी पूजापद्धतियों के खण्डन मण्डन की आवश्यकता ही क्या थी। जैन कवि बनारसीदास के समागम के अवसर पर वे पार्श्वनाथ जी की स्तुति करने में भी नहीं चूके।[२] हाँ, यदि कोई इन पद्धतियों को सनातन धर्म से—श्रुतिप्रतिपादित धर्म से, पृथक् माने तो गोस्वामी जी उसका साथ देने के लिये तैयार न थे। शाक्तपद्धति में कौलों का वाम-मार्ग उन्हें एकदम अरुचिकर जंचा इसलिए उसकी उन्होंने निन्दा ही की। विभिन्न शैव तथा वैष्णव साम्प्रदायिक पद्धतियों में यद्यपि श्रुतिसम्मतता थी तथापि विचारों की संकीर्णता के कारण आडम्बरप्रियता तथा

---

१. धर्मपथ पृष्ठ २४

२. जिहि नाम पारस जुगल पंकज चित्त चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजर राजित भजत तुलसीदास॥
—देखिए, "गोस्वामी तुलसीदास" पृ० ११८

पारस्परिक विद्वेष की भावना भी बहुत दूर तक अपना अधिकार जमा चुकी थी। विरति और विवेक के सहारे गोस्वामी जी ने इन साम्प्रदायिक पद्धतियों के दोषों को दूर कर उन सबका सामंजस्य करने की चेष्टा की। सन्तपद्धति में यद्यपि विरति और विवेक की पर्याप्त मात्रा थी तथापि अवतारवाद आदि का विरोध होने से वह सोलह आने श्रुतिसम्मत नहीं कही जा सकती थी। इसीलिए गोस्वामी जी को संतो का मतबाहुल्य भी नहीं पसन्द आया। उन्होंने अपनी हरिभक्तिपद्धति के सम्बन्ध में जिन दो विश्लेषणों का "श्रुतिसम्मत" और "संयुतविरतिविवेक" का उपयोग किया है उनमें से अन्तिम विशेषण तो विशेषकर शाक्त और साम्प्रदायिक पद्धतियों के संशोधन के लिये है और प्रथम विशेषकर अ-सनातनीय मानी जाने वाली जैन-बौद्ध और सन्तमत की पद्धतियों के संशोधन के लिये है। जैनों और बौद्धों के अविरोधी रहते हुए भी गोस्वामी जी भारत के लिये व्यवस्था देते हैं "श्रुति-सम्मत हरिभक्तिपथ" की अर्थात् उस भक्तिपथ की जिसमें राम और कृष्ण के समान मर्यादापुरुषोत्तम लोकसंस्थापक आराध्य विद्यमान हों। सन्तों के परम सेवक और सत्संगति के परम भक्त रहते हुए भी वे पंथप्रवर्त्तकों को केवल इसीलिए करारी फटकार बताते हैं कि इन्होंने अवतारवाद पर श्रद्धा न दिखाई। अवतारवाद सनातनी सिद्धान्तों का एक प्रधान आधारस्तम्भ है। वह केवल श्रद्धा का ही विषय नहीं है वरन् बुद्धि भी उसकी उपयोगिता की कायल हो सकती है। महात्मा गांधी कहते हैं "जीव मात्र ईश्वर का अवतार है परन्तु लौकिक भाषा में सब को हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् है उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता।" "गोस्वामी तुलसीदास" के लेखकद्वय कहते हैं "लोककल्याण की दृष्टि से सगुणोपासना के क्षेत्र में भक्ति का चरम उत्कर्ष अवतारवाद की भावना में मिलता है। अवतार नाम और रूप की परम मनोहर सुग्राह्य विभूति है; मुक्ति और आसक्ति का समन्वय है......अवतार की भावना के ही कारण मनुष्य के कार्यों में ईश्वर का हाथ दिखाई देता है, सत्प्रवृत्तियों के लिये दृढ़ आधार मिल जाता

है, मनुष्यता को विकसित होकर ईश्वरीय विभूति में परिणत हो जाने का मार्ग खुल जाता है और दुःखवाद के अन्धकार में पड़े हुए संसार पर मंगलाशा की ज्योति फैल जाती है जिससे उत्साहित होकर भक्त इस लोक तथा परलोक दोनों को एक ही युद्धक्षेत्र में जय कर सकता है।" अवतारवाद की जिस एक त्रुटि की ओर श्री डाक्टर बड़थ्वाल महोदय ने अपने ग्रन्थ "दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोइट्री" में इशारा किया है[1] वह भी वास्तव में त्रुटि नहीं कही जा सकती क्योंकि अवतार के मुख से स्वमहिमास्थापन के वाक्य कहा-कर भक्त कवियों ने आराध्य के त्रैविध्य की ओर ही संकेत किया है न कि किसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर। इतिहासकार जब किसी अवतार का चरित्रचित्रण करेगा तब निश्चय ही वह भक्त की श्रद्धा के पोषक इन और ऐसे वाक्यों को दूर ही रखेगा क्योंकि जो अपनी मर्यादापुरुषोत्तमता स्थापित करके अवतार की कोटि में परिगणित हुआ है वह महापुरुष अपनी मनुष्यता की मर्यादा का इस प्रकार भंग कर हीं कैसे सकता है। परन्तु भक्त कवि तो अपने आराध्य अवतारी पुरुष के वर्णन में उनका केवल माधुर्यभाव ही प्रकट करके चुप नहीं हो सकता। वह निश्चय ही उनका ऐश्वर्यभाव भी प्रकट करना चाहेगा।

पाँचवाँ विचारणीय शब्द है "पथ"। भक्ति के साथ जुड़कर यह दो अर्थों की ओर संकेत करता है। अपने एक अर्थ में भक्ति स्वयं ही साध्य मानी गई है। दूसरे अर्थ में वह एक साधन ही है। इसलिए भक्ति-पथ का एक अर्थ है भक्त के लिये पंथ और दूसरा अर्थ है भक्ति रूपी पथ। गोस्वामी जी ने जहाँ एक ओर :—

सब कर माँगहि एक फल राम चरन रति होउ। २२०–१७
अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहहुँ निरबान।
जन्म जन्म सिय राम पद यह बरदान न आन।। २४९–१५, १६

सरीखे वाक्य लिखकर भक्ति को 'साध्य' बनाया है वहाँ दूसरी ओर :—

---

१. देखिए पृष्ठ ६८

बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा—४८३–४
सुख कि लहहिं हरिभगति बिनु—४८३–९
बिनु हरिभजन न भवभय नासा—४८३–१९

सरीखे वाक्य लिखकर उन्होंने भक्ति को 'साधन' बना दिया है।

मनोविज्ञान का यह सामान्य नियम है कि साधन ही कालान्तर में साध्य बन जाया करता है और कभी-कभी तो इस हद का साध्य बनता है कि वह आरम्भ में जिस साध्य का साधन था उसको भी दबा बैठता है। पहले शरीररक्षा साध्य थी और भोजन करना साधन। फिर भोजन के साथ विशेष साहचर्य होने के कारण वही इस हद का साध्य बन बैठता है कि अपने चटोरेपन में हम अपने शरीर के स्वास्थ्य की भी कुछ परवाह नहीं करते। पहले अन्नवस्त्र का संग्रह ही साध्य था और द्रव्य का अर्जन उसके लिये साधन बनाया गया। फिर तो सिक्कों पर जीवन तक की सांसें न्योछावर की जाने लगीं; अन्न और वस्त्र की सुविधाओं का कहना ही क्या है! हमारा वास्तविक साध्य है आत्मसाक्षात्कार—सच्चिदानन्दत्व—पराशान्तिप्राप्ति। कहना न होगा कि ये तीनों एक ही बातें हैं। इस साध्य के लिये प्रधान साधन है अहंकार-विगलन जिसके सिद्ध होते ही पराशान्ति सिद्ध हो जाती है। अब जिन साधनों से अहंकारविगलन सिद्ध होगा उनके आगे यह अहंकारविगलन ही साध्य हुआ। इस नये साध्य के लिये ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग साधन हुए। ये नये साधन अपने अनुष्ठान के लिये अन्य साधनों पर आश्रित रहकर स्वयं भी साध्य कहे जा सकते हैं। भक्ति इसीलिए साध्य भी कही जाती है और साधन भी। साधन बनकर तो वह अहंकार का विध्वंस करती ही है परन्तु साध्य बनकर वह कभी कभी अहंकार को बनाये रखना चाहती है[1] और इस प्रकार अपने वास्तविक साध्य के विपरीत भी चली जाया करती है। विपरीत होते हुए भी उसमें एक

---

१. अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ३०५-२३

बड़ी विशेषता यह रहती है कि वह भगवान् के आनन्दभाव से अभिन्न होने के कारण भक्त को पदभ्रष्ट नहीं होने देती। इसलिए यदि मुक्ति की अपेक्षा भक्ति ही साध्य बन जाय तो भी कोई हानि नहीं।

गोस्वामी जी ने यद्यपि भक्ति की बहुत महिमा गाई तथापि उनके सिद्धान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि वे भक्ति को साधन ही मानते हैं परमसाध्य नहीं।

भगति के साधनु कहहुँ बखानी। सुगमपंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥

३०८–९

यहाँ स्पष्ट ही भगवान् के मुख से गोस्वामी जी ने भक्ति को साधन (पंथ) और ब्रह्म प्राप्ति—आत्मसाक्षात्कार—मोहिं पावहिं प्रानी को साध्य बताया है।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई॥

४६३–२३, २४

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

५०२–८ से १०

आदि पंक्तियां भी उसे साधन ही बता रही हैं न कि साध्य। इसलिए यह निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिए कि गोस्वामी जी का भी परम साध्य वही है जो कर्मयोगियों का और ज्ञानयोगियों का परम साध्य है।

साधन के तीन प्रधानपथ रहते हुए भी गोस्वामी जी ने भक्तिपथ ही का उल्लेख जानबूझकर किया है। कर्मपथ की वे तो स्वतंत्ररूप से कोई चर्चा ही नहीं करते। बात यह है कि जब कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं ठहर सकता।[1] तब वह चाहे ज्ञानी हो चाहे भक्त उसे कर्म

---

१. नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्॥ गीता अ० ३ श्लोक

तो करने ही पड़ेंगे। और कर्म के दायित्व से तो केवल वही बच सकता है जो या तो परमभक्त हो[1] या परमज्ञानी हो।[2] ऐसी स्थिति में कर्मयोग अथवा कर्मपथ के स्वतंत्र अस्तित्व की चर्चा का अवसर ही नहीं रहता। फिर, अनासक्ति और विरक्ति सरीखे अभावसूचक शब्द आखिर अवस्तु ही तो ठहरे। वे ज्ञान और भक्ति के वस्तुत्व की बराबरी कर ही कैसे सकते हैं। ज्ञान के साथ परमशान्ति और भक्ति के साथ परम आनन्द का जैसा स्पष्ट सम्बन्ध है वैसा विरक्ति अथवा अनासक्ति के साथ किसी परमसाध्य का नहीं। तीसरे गोस्वामी जी के समय तक के आचार्यों ने जिस प्रकार ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की विस्तृत चर्चा की थी उसी प्रकार कर्ममार्ग की नहीं। श्रीशंकराचार्य प्रभृति अद्वैतवेदान्तियों ने जहाँ एक ओर ज्ञानमार्ग को ही सर्वेसर्वा बताया था वहाँ रामानुजाचार्य प्रभृति अनेकानेक साम्प्रदायिक आचार्यों ने भक्तिमार्ग को ही सब कुछ कहा था। गोस्वामी जी को कोरे ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग परम अभीष्ट जान पड़ा, इसलिए उन्होंने अन्यत्र इन दो ही मार्गों की तुलना करते हुए भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता स्पष्ट कर दी है और यहाँ इसलिए केवल भक्तिपथ की चर्चा की है।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की तुलना में गोस्वामी जी निम्नलिखित दृष्टान्तों, कारणों और तर्कों का उल्लेख करते हैं:—

(१) भक्त बालतनय है और ज्ञानी प्रौढ़तनय। माता की प्रीति बालतनय ही की ओर विशेष रहती है और उसकी रक्षा का समूचा भार माता ही पर रहता है।[3]

---

१. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
गीता अ० १८ श्लोक ६६

२. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयं।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंञ्जय॥
गीता अ० ४ श्लोक ४१

३. देखिए पृष्ठ ३२४ पंक्ति ८ से १४

(२) ज्ञान का मार्ग एक तो दुर्गम है दूसरे उसमें प्रत्यूह भी अनेक हैं। तीसरे उसके साधन भी कठिन हैं। भक्ति के मार्ग में इहलोक और परलोक दोनों का सुख है तथा वह न केवल सुखद ही है वरन् सुलभ भी है।[१]

(३) जीवों में मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में वेदज्ञ (नीति-वेत्ता), वेदज्ञों में धर्मिष्ठ, धर्मिष्ठों में वैराग्यशील, वैराग्यशीलों में ज्ञानी, ज्ञानियों में विज्ञानी और विज्ञानियों में भक्त श्रेष्ठ रहा करते हैं। यह सत्य है कि से सब एक ही पिता के पुत्र हैं और सभी पर पिता का प्रेम है परन्तु भक्त तो उस पिता का परम आज्ञाकारी सेवक पुत्र है इसलिए निश्चय ही उस पर पिता का अत्यधिक प्रेम होगा।

(४) माया और भक्ति दोनों ही स्त्रीवर्ग हैं (भावना का आधार लेकर चलती हैं—आसक्ति की भित्ति पर स्थित हैं)। यद्यपि उन दोनों के स्वामी परमात्मा हैं तथापि भक्ति उनकी पटरानी के समान है क्योंकि भक्ति के आधार केवल वे ही हैं और माया एक वेश्या के समान (नर्त्तकी के समान) उनकी रखेली है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान आदि पुरुषवर्ग हैं (क्योंकि तर्क और अनुभव पर उनकी स्थिति है)। यद्यपि स्त्री वर्ग होने के कारण भक्ति तथा माया को निर्बल और सहज ही जड़जाति की कहा जा सकता है और पुरुष जाति के होने के कारण ज्ञान विज्ञान आदि सब प्रकार प्रबल प्रतापी समझे जाते हैं तथापि नारी का मोहमय फंदा इतना प्रबल होता है कि केवल विरक्त मतिधीर लोग तो भले ही उसको काट सकें परन्तु

---

१. देखिए पृष्ठ ४६३ पंक्ति १३ से १६।

२. सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान् पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है—इस समझ का नाम है "ज्ञान" और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति को समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गीता १३।३०) एवं इसी को क्षर अक्षर का विचार कहते हैं—तिलककृत गीतारहस्य (हिन्दी) पृष्ठ ७१६.

३. देखिए पृष्ठ ४८१ पंक्ति १४ से २४ तथा पृष्ठ ४८२ पंक्ति से १२

सामान्य लोग जो विशेषत: विषयी ही रहा करते हैं—उसे कदापि नहीं काट सकते। इसलिए जो केवल पुरुषवर्गीय ज्ञान वैराग्य का सहारा लेकर नारी-वर्गीय माया का उच्छेद करना चाहता है वह कठिनता ही से कृतकार्य होता है। सर्वसाधारण के लिये तो यही उचित है कि नारीवर्गीय (भक्ति का सहारा लेकर आगे बढ़ें क्योंकि एक तो वह नारीवर्गीय होने के कारण (समान भूमिकावाली, यद्यपि भिन्न उद्देश्यवाली, होने के कारण) माया के चक्कर में न आवेगी दूसरे वह भगवान् की पटरानी होने के कारण निश्चय ही नर्त्तकी माया पर अपना आधिपत्य जमा लेगी।[१]

(५) माया कि ग्रंथि का भेदन करने के लिए ज्ञान की सहायता दीप के समान है और भक्ति की मणि के समान। प्रकाश तो दोनों में ही है परन्तु ज्ञानदीप का प्रकाश पाने के लिए न जाने कितने साधनों और प्रयत्नों की आवश्यकता है और पाने पर भी उसके बुझ जाने का सदैव भय है परन्तु भक्तिमणि के लिये न तो उतने झंझट हैं और न उसके बुझने का ही डर है। साथ ही एक लाभ और भी है। उसके धारण करने से मानस रोग भी नहीं सताने पाते।[२]

(६) ज्ञान से अति दुर्लभ परमपद अवश्य मिलता है परन्तु भक्ति से भी तो वही पद मिल जाता है। इतना ही नहीं, वह अनिच्छा रहते हुए भी मिल जाता है। फिर, परमपद का वह सुख भक्ति के आधार के बिना स्थायी नहीं हो सकता। तीसरी बात यह है कि भक्ति के प्रेमानन्द का इतना अपूर्व माधुर्य रहता है कि उसके आगे ब्रह्मानन्द (मुक्ति का आनन्द) भी तुच्छ जान पड़ने लगता है। इसलिए समझदार लोग मुक्ति तक का निरादर करके भक्ति की ओर ही अधिक झुकते हैं।[३]

---

१. देखिए पृष्ठ ४९९ पंक्ति १५ से २७ और पृष्ठ ५०० पंक्ति १ से ३

२. देखिए पृष्ठ ५०० पंक्ति ६ से २५; पृष्ठ ५०१ पूरा; पृष्ठ ५०२ पंक्ति १ से २ तथा १५ से २६।

३. देखिए पृष्ठ ५०२ पंक्ति ३ से ७ जिसके अन्तर्गत पृष्ठ ४८२ पंक्ति २२, २३ का भी भाव है।

(७) भक्ति के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं। ऐसा ज्ञान कर्णधारहीन जलयान के समान है।[१] जो ज्ञानी समझे कि भक्ति के बिना मैं निर्वाण प्राप्त कर लूंगा वह पुच्छविषाणहीन पशु है।[२] जो भक्ति का त्याग कर केवल ज्ञान के लिये परिश्रम करता है वह कामधेनु का त्याग करके आक के वृक्ष से शरीरपोषक दुग्ध पाने की चेष्टा करता है।[३] असल में तो भक्ति के विना अकेले ज्ञान ही क्यों सभी साधन सूने हैं और उनके बिना भवसंतरण हो ही नहीं सकता यह "अपेल" सिद्धान्त है[४] इधर, भक्ति के लिये ज्ञान के ऐसे ही प्रबल सहारे की बिलकुल आवश्यकता नहीं। वह स्वतंत्र मार्ग है और ज्ञान विज्ञान उसके अधीन है।[५] वह श्रद्धा और विश्वास पर टिका हुआ है किसी तर्क पर नहीं।[६] हमारे आराध्य परब्रह्म परमात्मा हैं बस इतना ही उसके लिए पर्याप्त है। यदि इतना भी ज्ञान न हो और परमात्मरूप अवतार, सन्त अथवा सद्गुरु की ओर प्रबल अनुराग ही

---

१. सोह न रामप्रेम बिन ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू।।
२७७-१५

२. रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर पसु बिनु पूछ विसान।।४७८-१, २

३. जे असि भगति जानि परहरिहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी।।
४९९-३, ४

४. राम बिमुख सिधि सपनेहु नाहीं। २६९ ९
बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल।।५०५-१९

५. सो सुमंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना।।
३०८-६

६. भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्।।१-३, ४

कारी को ही दिया जाता है सर्वसाधारण को नहीं।[१] ज्ञान से अधिक दुर्लभ वस्तु इस संसार में नहीं।[२] "पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं" से स्पष्ट है कि ज्ञान भक्ति ही का फल है।[३] और "राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरआईं" से स्पष्ट है कि मोक्ष ही भक्ति की भी अन्तिम गति है। वह चाहे इच्छित हो चाहे अनिच्छित। जैसे व्यवहारधर्म में गोस्वामी जी परमार्थिक तत्त्व को नहीं भूलते वैसे ही तत्त्वसाधन में भी वे लोक की ओर दृष्टि रखकर चलते हैं। 'अन्तरजामी' से 'बाहरजामी' को, राम से नाम को, ज्ञान से भक्ति को, बड़ा कहने में यही रहस्य है और "राम ते अधिक राम कर दासा" कहने में भी यही बात है। परन्तु वास्तव में बाहरजामी इसीलिए बड़ा है कि वह अन्तरजामी तक पहुँचाने का साधन है। नाम का यही महत्त्व है कि वह राम का ज्ञान कराता है, राम की अनुभूति कराता है। 'भक्ति का इसी में साफल्य है कि उससे ज्ञानोत्पादन होता है, राम के मार्ग में राम का दास हमारा आदर्श रहता है। वह बाल्यावस्था किस काम की जिसके बाद प्रौढ़ावस्था ही न आवे? वह भक्ति भी किस काम की जो ज्ञान में परिणत न हो[४]?" "गोस्वामी तुलसीदास" के लेखकद्वय महोदय के उपर्युक्त वाक्यों में बहुत दूर तक सत्यता निहित है। भक्ति मणि के खोजने में गोस्वामी जी ने ज्ञान और वैराग्यरूपी नयनों की आवश्यकता बताई।[५] और हरिभक्तिरूपी विजय के लिये ज्ञानरूपी खड्ग से काम क्रोध लोभादि

---

१. मोहि परम अधिकारी जानी...लागे करन ब्रह्म उपदेसा।
४९६-४, ५

२. नहिं कुछ दुरलभ ग्यान समाना। पृष्ठ ४९९ पं० ११

३. "गोस्वामी तुलसीदास" पृष्ठ १९२

४. "गोस्वामी तुलसीदास" पृष्ठ १९१

५. ग्यान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
५०३-१, २

का मारना अनिवार्य बताया है।[1] वे उसी हरिभक्ति को प्रशस्त कहते है जो "संयुतविरतिविवेक" हो। यदि उन्होंने ज्ञान के पन्थ को कृपाण की धारा बताया है[2] तो वास्तविक भक्ति के पन्थ को भी इतना कठिन बताया है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। वे कहते हैं कि हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्मव्रतधारी होता है, करोड़ों धर्मव्रतियों में कोई एक वैराग्यशील होता है, करोड़ों विरक्त पुरुषों में कोई एक ज्ञानी होता है, करोड़ों ज्ञानियों में कोई एक जीवन्मुक्त होता है, सहस्रों जीवन्मुक्तों में कोई एक ब्रह्मलीन होता है और उन सबसे दुर्लभ वह है जो सच्चा भक्त हो।[3] वास्तव में तो सच्चे ज्ञान और सच्ची भक्ति में गोसाई जी कोई भेद ही नहीं मानते।[4] जो सच्चा ज्ञानी है वह शंकर जी अथवा लोमश ऋषि की भांति सच्चा भक्तिरसरसिक हुए बिना रह नहीं सकता और जो सच्चा भक्त है उसका भुशुंडि के समान संशयोच्छेदक सद्ज्ञानी बन जाना अनिवार्य है। दया के पात्र तो केवल ऐसे ज्ञानी हैं जो "केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।" (४९९–३) वे हैं योग आदि भक्तिव्यतिरिक्त मार्गों से ज्ञान सम्पादन की चेष्टा करनेवाले। भक्ति-मार्ग की तुलना में जो ज्ञानमार्ग हेय बताया गया है वह भी भक्तिव्यतिरिक्त ज्ञानमार्ग ही है। भक्ति और ज्ञान का वास्तविक सम्बन्ध क्या है और इस सम्बन्ध के द्वारा जीव की अन्तिम गति क्या होती है इस विषय में निम्न-लिखित पंक्तियाँ पूर्ण प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त हैं:—

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥
और— ४८३–६,७

---

१. विरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥
५०३-९, १०

२. ग्यान के पन्थ कृपान कै धारा। ५०२-१

३. पृष्ठ ४६७ पंक्ति १ से ७

४. भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। ४९९-१५

सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन।
२१९–१९, २९

आपने दर्शपूर्णत्व की ओर जीव का स्वाभाविक आकर्षण रहा करता है। पूर्ण हुए बिना उसे शान्ति नहीं––तृप्ति नहीं। आत्मसाक्षात्कार में ही उसका आत्मकल्याण है। कल्याणकामी जीव जिस मार्ग से अग्रसर हो उसमें यदि प्रथम से ही सुख मिलता जाय तो फिर कहना ही क्या है। भक्तिमार्ग ऐसा है कि उसमें प्रथम से ही सुख मिलता जाता है। क्योंकि वह मार्ग हृदय के उन भावों पर टिका है जिनका सुख से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण सर्वसाधारण के लिये यही मार्ग उत्तम और प्रशस्त माना गया है। यह मार्ग निवृत्ति से नहीं वरन् प्रवृत्ति से प्रारंभ होता है, त्याग से नहीं वरन् संग्रह से प्रारंभ होता है, अपने अहंकार और तज्जन्य वासनाओं के दमन करने से नहीं वरन् उन सबको आदर्शपूर्णत्व की ओर–भगवान् की ओर––प्रेरित कर देने से होता है। इसीलिए यह मार्ग सर्वसाधारण जीवों के लिए बड़ा सुखकर कहा गया है। मनुष्य अपनी जिह्वा की तृप्ति के लिये भोजन करते हैं परन्तु अलक्षित रूप से जठराग्नि उस भोजन को पचा कर शरीर का पोषण कर दिया करती है। उसी प्रकार लोग प्रत्यक्ष सुख के लिये भक्ति की ओर प्रवृत्त होते हैं परन्तु वह अलक्षित-रूप से––बिना यत्न बिना प्रयास––संसृतिमूल अविद्या का नाश कर देती है।[1] इस मार्ग में योग यज्ञ जप तप उपवास के कष्ट नहीं उठाने पड़ते। वे सब धर्म आप ही आप सिद्ध होते जाते हैं।[2] कल्याण और शान्ति का परम

---

१. भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥
अस हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥
५०२-८ से १०

२. कहहु भगति पथु कवन प्रयासा। जोगु न मख जप तप उपवासा॥
४६३-२३

सम्बन्ध हृदय की समता से है और हृदय की समता का पूरा स्वारस्य भगवद्-भाव पर निर्भर है इसलिये भक्ति निश्चय ही सब साधनों का फल और सब प्रकार के मंगलों का मूल कही जा सकती है।[1] कर्ममार्ग योगमार्ग अथवा ज्ञानमार्ग में साधक पहिले पहल अपने व्यक्तित्व को लेकर चलता है इसलिए काम क्रोध आदि से युद्ध करने के लिये उसको बड़ा परिश्रम करना पड़ता है भक्त प्रारम्भ से ही भगवद्भाव को लेकर चलता है इसलिए यह भाव ही उसके लिये ढाल का काम देता है। अब रही ध्येय की बात, सो कोई-कोई भक्त यदि भगवान् हो जाने की अपेक्षा भगवान् के कृपापात्र बने रहने की इच्छा करते हैं तो यह उनकी अपनी रुचि और समझ है। "भिन्नरुचिर्हि लोकः।" दायित्वपूर्ण राजमुकुट धारण करके स्वयं राजा होने की अपेक्षा कई लोग राजा के कृपापात्र बनकर—उसे प्रेमरस द्वारा अपना वशीभूत बनाकर—मस्ती का जीवन व्यतीत करने में अधिक बुद्धिमानी और विशेष माधुर्य का अनुभव करते हैं। इन्हीं सब बातों की ओर ध्यान देकर गोस्वामी जी के समान भावुक सन्त ने संसार के कल्याण के लिये समन्वयमार्ग को भक्तिपथ के रूप में ही स्थिर किया है।

अति संक्षेप में भक्तिमार्ग की कुछ विशेषताओं को फिर से दुहरा देना अनुचित न होगा। वे इस प्रकार हैं—

(१) वह मार्ग जीव की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल है।

(२) इस मार्ग के साधन कष्टकर नहीं होते।

(३) इस मार्ग में प्रत्यूहों और विघ्नों का झंझट कम रहता है।

(४) भक्ति सब मंगलों का मूल और सब सुखों की खानि है। इसलिए वह किसी अन्य मार्ग से कम नहीं।

(५) यही सब साधनों का फल है।

(६) यही सब साधनों का आधार भी है क्योंकि इसके बिना सब साधन शून्य हैं।

---

१. सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु। २५०-२०

(७) यही वह साधन है जिसमें साधन भी (भक्ति भी) साध्य की तरह (मुक्ति की तरह) वरन् साध्य से भी अधिक, सुखप्रद रहता है।

(८) भगवान की परमप्रीति पाने का यही मार्ग है।

(९) यह परम ध्येय का सबसे सीधा पथ (short cut) भी है क्योंकि इसी मार्ग से भगवान् शीघ्र द्रवित होते हैं और इस प्रकार नियति-चक्र शीघ्रतिशीघ्र कट जाता है।

(१०) इसके बिना न तो इस लोक का सुख है न परलोक का।

(११) इसी मार्ग के लिये सब बड़े-बड़े आचार्यों का ऐक्यमत है।

इसीलिये गोस्वामी जी कहते हैं कि भक्तिमान् व्यक्ति ही धन्य है[1] और अभक्त ही नितान्त शोचनीय है।[2]

---

१. **पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भगत जासु सुत होई॥१९८-२६**
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रंग रये। ३२५-२२
सोइ सरवग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह विग्यान अखण्डित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥
४६५-४, ५

धन्य देश सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी॥
सो कुल धन्य उमा सुनि जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज विनीत॥
५०८-३, ७-८ इत्यादि

२. **जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥**
नयनन्हि सन्त दरस नहि देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तूम्बरि सम तूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवन सव समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥
५७-२४; ५८ १ से ४

ऐसी विशेषताओं से भक्तिमार्ग में श्रुतिसम्मतता, हरिभक्ति तथा विरति-विवेक-संयुक्तता के विशेषण लगाकर गोस्वामी जी ने उसे और भी परिष्कृत तथा और भी अधिक सुग्राह्य बना दिया है। वास्तव में वह सनातनधर्म का, और सनातनधर्म ही क्यों भारतीय मानवधर्म का—सुसंस्कृत प्रतिरूप बन गया है। कल्याणमार्ग के लिये ऐसा उत्तम पथ विद्यमान रहते हुए अनेकानेक पन्थों की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी। जो लोग इस उत्तम सनातनीय भक्तिमार्ग को त्याग कर नये-नये पन्थों की कल्पना करते हैं—नये-नये मत चलाते है—उन्हें कलियुग से प्रभावित मोहमुग्ध मानव मानना ही गोस्वामी जी को अभीष्ट है। ऐसे भक्तिपन्थों से अथवा साधना पन्थों से उनका विरोध नहीं जो भारतीयता को—वेदानुकूलता को—लेकर चलते हैं। परन्तु जो भारतीय संस्कृति के किसी आवश्यक अंग को—उदाहरणार्थ वेदों की मान्यता अथवा अवतारवाद को—खण्डित करके भारतीय लोगों को किसी नये रास्ते पर चलाना

साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महँ जासु न रेखा॥
जाय जियत जग सो महि भारू। जननी जीवन विटप कुठारू॥
२४४-४, ५

सो सुख धरम करम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ॥
२८२-१४

ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती॥
४६६-२१

नरतन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुख देनी।
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषयरत मंद मंद तर॥
कांचु किरिच बदले ते लेहीं। कर तें डारि परसमनि देहीं॥
५०३-१९ से २२

चाहते हैं वे भारतीयों के सच्चे हितैषी नहीं। इसलिए उनकी कार्रवाइयों पर एतराज करते हुए[१] गोस्वामी जी ने कहा है :—

श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संजुत विरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कलपहिं पंथ अनेक।।४८९-४,५

---

१. कबीर नानक दादू आदि परम श्रद्धेय सन्त हो गये हैं और गोस्वामी जी के हृदय में ऐसे सन्तों के प्रति अवश्य बड़ी श्रद्धा रही होगी; परन्तु भारत के उस वातावरण में उन्हें अवतारवाद का खण्डन बिलकुल अनुपयुक्त जंचा इसीलिए पूर्वपक्ष में पार्वती के मुख से सन्तमत (निर्गुण सम्प्रदाय) की सी तर्कावली कहलाकर उत्तरपक्ष में उन्होंने शंकर जी के मुख से उस तर्कवाद को फटकार बता दी है। श्रद्धेय सन्त लोग अवतारवाद का पूरा विरोध कर सके हैं यह भी शंकास्पद ही है। उनके अनुयायी जो उन्हें परमात्मा का अवतार मान कर निश्चय ही पक्के अवतारवादी हो गये हैं।

सप्तम परिच्छेद

भक्ति के साधन

भक्ति स्वतः एक साधन है; परन्तु वह ऐसा साधन नहीं जो अपने साध्य से एकदम उस तरह भिन्न हो जैसे दिल्ली पहुँचने का रास्ता दिल्ली से भिन्न रहा करता है। जो हाल भक्ति और उसके साध्य का है, वही भक्ति और उसके साधनों का भी है। इसलिए भक्ति के साधन कहीं तो साधन ही माने गये हैं और कहीं वे भक्ति के अंग कह दिये गये हैं।[1]

भक्ति के साधनों की कोई सीमा नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं:—

जप तप नियम जोग निज धरमा। श्रुति सम्भव नाना सुभ करमा।।
ग्यान दया दमु तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत स्रुति सज्जन।।
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फलु सुन्दर।।

४६४-२६ से २८, ४६५-१

जप तप मख समदम ब्रत दाना। बिरति विवेक जोग बिग्याना।।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा।।

४८६-७, ८

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग विराग ग्यान निपुनाई।।
नाना करम धरम व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना।।

---

१. लक्ष्मण जी के प्रति भगवान् ने भक्तियोग की जो चर्चा की उसमें साधनों का उल्लेख है। (भगति के साधन कहहुँ बखानी ३०८।९)। उन्हीं साधनों की चर्चा जब शबरी के प्रति की गई तब उन्हें भक्ति का अंग बताया गया है—(नवधा भगति कहहुं तोहि पाहीं ३२०-१२)।

भूतदया द्विज गुरु सेवकाई। विद्या बिनय विवेक बड़ाई।।
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।
५०७–१८ से २१

वे तो सभी प्रकार के सुकृतों को रामस्नेह का साधन मानते हुए कहते हैं:—
वेद पुरान सन्त मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू।। १७–२०
परन्तु इतना कहते हुए भी उन्होंने कुछ विशेष साधनों को विशेष प्राधान्य दिया है।

श्रीमद्भागवतकार ने भक्ति के नौ साधन वताते हुए कहा है:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।।७-५-२३, २४

भक्ति के आचार्यों को यह कथन इतना अच्छा जंचा है कि उन्होंने इस नवधा भक्ति की अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से चर्चा की है। श्रवण कीर्तन और स्मरण—ये तीनों तो नाम सम्बन्धी साधन हैं जो विशेषकर श्रद्धा और विश्वास की वृद्धि के सहायक हैं, पादसेवन, अर्चन और वन्दन—ये तीन रूप सम्बन्धी साधन हैं जो वैधी भक्ति के विशेष अंग हैं और दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन—ये तीन भाव सम्बन्धी साधन हैं जो रागात्मिका भक्ति से घनिष्ठता रखा करते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो साधन परस्पर सम्बद्ध भी जान पड़ेंगे और क्रमशः एक दूसरे के विकसित रूप प्रतीत होकर भक्तिरस की तर तक पहुँचाने वाले नौ सोपानों की तरह भी दिखाई पड़ेंगे। भारतीय भक्तिसाहित्य में जब से इन श्लोकों का आविर्भाव हुआ है, तब से नवधा भक्ति की चर्चा अमर सी हो गई है। भागवतोक्त इस नवधा भक्ति के अनुकरण पर एक स्वतन्त्र नवधा भक्ति की चर्चा आध्यात्म रामायण में हुई है। वह भी इस प्रसंग में उल्लेख योग्य है।

अध्यात्मरामायणकार कहते हैं:—

तस्माद् भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनं।
सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥२२
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥२३
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा।
पंचमं पुण्यशीलत्वं यमादिनियमादि च॥२४
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितं।
मम मंत्रोपासकत्वं साङ्गा सप्तममुच्यते॥२५
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा॥२६
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा॥२७
(अध्यात्म रामायण आरण्यकाण्ड दशम सर्ग)

गोस्वामी जी को नवधा भक्तिका यह वर्णन इतना पसन्द आया है कि उन्होंने इसका अनुवाद सा करते हुए[१] अपने मानस में लिखा—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजनु सो वेद प्रकासा।
छठ दम सीलु विरति बहु कर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥
सातवं सम मोहिं मय जग देखा। मोतें सन्त अधिक करि लेखा॥
आठवं जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥

---

१. मिलान करने से विदित होगा कि गोस्वामी जी की पंक्तियां केवल अनुवाद नहीं है। उनमें पर्याप्त मौलिकता है।

नव महँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।।
३२०–१२ से २२

गोस्वामी जी की इस नवधा भक्ति में दो बातें मार्के की हैं। पहली बात तो यह है कि वे इन नवों साधनों का तारतम्य अथवा क्रम स्थिर करना उचित नहीं समझते। वे कहते हैं कि इन नव साधनों में से एक भी साधन जिसके पास हो वह भगवत्कृपापात्र हो जाता है। दूसरी बात यह है कि पहिली, तीसरी, छठी आठवीं और नवीं की आधी भक्ति में आस्तिक्यभाव की बात उन्होंने गुप्त कर दी है।[1] छठें और आठवें साधन को तो नास्तिक लोग भी अपना सकते हैं। इन साधनों को अपनी पद्धति में सम्मिलित करके गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो लोकसेवक है वह भी ईश्वर-सेवक ही है भले ही वह ईश्वर की प्रत्यक्ष पूजा-अर्चा आदि न करता हो।[2] इस नवधा भक्ति का आठवां साधन तो उन्हें इतना रुचा है कि उन्होंने निम्न-लिखित पंक्तियों से इसे ही समूची भक्ति का प्रतीक मान लिया है :—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोगु न मख जप तप उपवासा।।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई।।
४६३–२३, २४

इस नवधा भक्ति की चर्चा गोस्वामी जी ने केवल एक ही बार की हो, सो नहीं है। लक्ष्मण जी के प्रति कहे हुए भक्तियोग में भी इसका उल्लेख हुआ है। पूरा प्रसंग इस प्रकार है :—

---

१. नवधाभक्ति का इस प्रकार दो हिस्सों में बराबर विभाजन क्या यह नहीं बताता कि नर सेवा और नारायण सेवा का दर्जा ठीक बराबरी का जाय?

२. वे तो भगवद्भक्त होने की अपेक्षा भगवद्भक्तों (सज्जनों) का समझा भक्त होना अधिक अच्छा समझते हैं।

सुनु सुरस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ।।
जो अपराधु भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।
२५४-२२, २३

भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलहि जो संत होहिं अनुकूला ।।
भगति के साधन कहउँ बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी ।।
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीति । निज निज करम निरत स्रुति रीती ।।
यदि कर फलु मनु विषय विरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ।।
स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाही । मम लीला रति अति मन माहीं ।।
सन्त चरन पंकज अति प्रेमा । मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ।।
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा । सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा ।।
मम गुन गावत पुलक शरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ।।
काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरन्तर बस मैं ताके ।।

वचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम ।
तिन्हके हृदय कमल महुँ करइउँ सदा विश्राम ।।३०८-८ से १७

इन दोनों प्रसंगों में नवधा भक्ति का मिलान इस प्रकार होगा—

शवरी के प्रति	**लक्ष्मण के प्रति**
१ प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा	१ संत चरन पंकज अति प्रेमा
२ दूसरि रति मम कथा प्रसंगा	२ मम लीला रति अति मन माहीं
३ गुरुपदपंकज सेवा तीसरी भगति अमान	३ दृढ़ सेवा
४ चौथि भगति मम गुन गन करई कपट तजि गान	४ मम गुन गावत पुलक सरीरा गदगद गिरा नयन बह नीरा
५ मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा पंचम भजनु सो बेद प्रकासा	५ मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा
६ छठ दमु शील विरति बहु कर्मा निरत निरन्तर सज्जन धर्मा	६ काम आदि मद दंभ न जाके
७ सातवं सम मोहि मय जग देखा मोतें सन्त अधिक कर लेखा	७ गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा सब मोहि कहँ जानइ (सन्त चरन पंकज अति प्रेमा)

८ आठवँ जथा लाभ संतोषा सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा	८ भजन करइ निहकाम
९ नवम सरल सब सन छलहीना मम भरोस हिय हरष न दीना	९ बचन करम मन मोरि गति[1]

लक्ष्मण—भक्तियोग में एक विशेषता यह भी है कि वहाँ अध्यात्म रामायणोक्त नवधा भक्ति ही की चर्चा नहीं हुई है वरन् उसके साथ ही भागवतोक्त नवधा भक्ति की भी चर्चा (स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं) हो गयी है। साथ ही यह भी कह दिया गया है कि भक्ति के इन उभय प्रकार के नवधा साधनों के आधारस्तंभ हैं (१) ज्ञान (जो विप्रचरणों में अतिप्रीति करने से मिलता है) और (२) वैराग्य (जो "धर्म ते विरति" के सिद्धान्तानुसार श्रुतिरीत्या निज-निज कर्म में निरत होने से आता है)। तथा इन दोनों का भी मूलाधार है सत्संग, क्योंकि सन्तों की अनुकूलता के विना तो भक्ति मिल ही नहीं सकती।

लक्ष्मण—भक्तियोग में निर्दिष्ट ये समग्र साधन भक्ति सरोवर की तह तक पहुँचने वाले सप्त सोपानों अथवा भक्ति की सप्त भूमिकाओं का भी रूप धारण किये हुए हैं। वे भूमिकाएँ हैं:—(१) ब्राह्मणसेवा (२) श्रवणादिक नवधाभक्ति (३) सन्तसेवा (४) वासुदेवः सर्वमिति भाव (५) सात्त्विक प्रेमोन्माद (६) द्वन्द्वातीत अवस्था और (७) अनन्यासक्त-चित्तता। पहिले परिच्छेद में हम इस विषय पर विस्तृत रूप से लिख आये हैं इसलिए उसे यहाँ दुहराना हम अनावश्यक समझते हैं।

साधनों की तीसरी उल्लेखनीय सूची इस प्रकार है:—

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥
जिन्ह के स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुगम सरि नाना॥

---

१. इस तुलनात्मक विवेचन के लिए हम सावन्त जी के ऋणी हैं (देखिए मानसपीयूष अरण्यकाण्ड पृष्ठ १९०)। तीसरे और सातवें साधनों की तुलना में हमने कुछ फेरफार अवश्य कर दिया है।

भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥
निदरहिं सरित सिंधु सर बारी । रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक । बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥

जस तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुक्ताहल गुनगन चुनइ राम बसहु मन तासु ॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहिं निवेदित भोजनु करहीं । प्रभु प्रसाद पटु भूषण धरहीं ॥
सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी । प्रीति सहित करि विनय विसेखी ॥
कर नित करहिं रामपद पूजा । राम भरोस हृदय नहिं दूजा ॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा । पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहिं विधि नाना । विप्र जेवाइ देहिं बहु दाना ॥
तुम्हतें अधिक गुरुहिं जिय जानी । सकल भाय सेवहिं सनमानी ॥

सबु करि माँगहिं एक फलु रामचरन रति होउ ।
तिन्हके मन मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ ॥

काम कोह मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया । तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥
सबके प्रिय सबके हितकारी । सुख दुख सरिस प्रशंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहिं छांड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥
जननी सम जानहिं पर नारी । धनु पराव विष तें विष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर विपति विशेखी ॥
जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे । तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥

स्वामि सखा पितु मातुगुरु जिन्हके सब तुम तात ।
मन मन्दिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं।।
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्हकर मनु टीका।।
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही।।
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदनु सुखदाई।।
सब तजि तुम्हहिं रहइ लउ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई।।
सरगु नरकु अपवरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना।।
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा।।

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु।।

एहि विधि मुनिवर भवन देखाये। बचन सप्रेम राम मन भाये[1] ।।

२२०–१ से २८
२२१–१ से ११

भगवान् के निवासयोग्य ये चौदह भवन बताकर वाल्मीकि जी के मुख से गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्तों और भक्ति के साधनों के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कह दी हैं। सावन्त जी अपने नोट में इन स्थानों के विषय में कहते हैं कि "ये प्रभु की प्राप्ति के चौदह साधन हैं, या यों कहिये ये चौदह प्रकार की भक्तियाँ हैं।" (मानसपीयूष अयोध्याकाण्ड ६६६ पृष्ठ)। बाबू रामदास जी गौड़ का मत है कि इन चौदह साधनों में उभय प्रकार की नवधा भक्तिओं का समन्वय हो गया है। उनके कथनानुसार शबरी को कही गयी (अर्थात् अध्यात्मरामायणोक्त) नवधा भक्ति का नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—(१) सत्संग (२) कथा में रति (३) मानरहित गुरुभक्ति (४) कीर्त्तन (५) जपभजन (६)

---

१. इस प्रकरण में भी अध्यात्मरामायण की छाया है। देखिए अयोध्या काण्ड पृष्ठ सर्ग, श्लोक ५४ से ६३

सन्तवृत्ति (७) अनन्यवृत्ति (८) सन्तोषवृत्ति और (९) भगवदलम्ब। भागवत प्रोक्त नवधा भक्ति से श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण तथा दास्य इन चारों का अन्तर्भाव क्रमशः द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम तथा सप्तम भेद में (अर्थात् कथा में रति, कीर्त्तन, जपभजन और अनन्यवृत्ति में) हो जाता है। शेष रही पञ्चधा भक्ति। सो उन पांच साधनों को अध्यात्मरामायणोक्त उपर्युक्त नौ साधनों के साथ मिला देने से चौदह प्रकार के साधन हो जाते हैं। इन चौदह प्रकार के साधनों का नामकरण उन्होंने इस प्रकार किया है :—

(१) श्रवणम् (२) रूपासक्ति (३) कीर्त्तनम् (४) पूजासक्ति (५) नामासक्ति (६) ज्ञानवृत्ति (७) भगवदलम्ब (८) सन्तवृत्ति (९) सर्वस्वभाव (१०) तितिक्षावृत्ति (११) कार्पण्यवृत्ति (१२) वैराग्यवृत्ति (१३) अनन्यवृत्ति और (४) शुद्ध प्रेमासक्ति।[१]

"श्रीरामचरितमानस की भूमिका" नामक ग्रन्थ में गौड़ महोदय ने श्रवणादिक नव भक्तियों के साथ दर्शनाभिलाषा को सम्मिलित करके लिखा है कि "इन दसों के सिवा मानसकार ने स्थितप्रज्ञावस्था, शरणागति, निष्केवल प्रेम, निष्काम सदाचार, यह चार उपासनाएँ भी सम्मिलित की हैं। गोस्वामी जी की अपनी उपासना इन चौदह रत्नों की अपूर्व स्वादु और तोषदायक खिचड़ी थी'। (प्रथम संस्करण १०६ पृष्ठ।)

व्यक्तिगत रूप से हमारा अनुमान तो यह है कि चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर भगवान् ने जब चौदह वर्षों तक बन में निवास करना अंगीकार किया तब उनके पूछने पर वाल्मीकि जी ने पहिले चौदह प्रकार के भक्त-हृदय रूपी भवन ही दिखाये हैं फिर कहीं चित्रकूट की चर्चा की है। इसलिए रस प्रकरण में चौदह प्रकार के भक्तों ही की चर्चा है जो इस भांति है :—

(१) श्रवणानन्दी (२) दर्शनानन्दी (३) भजनानन्दी (४) सेवानन्दी (५) गुरुभक्तिपूर्वक जपासक्त जीव (६) निर्विकार (७) अनन्य

---

१. देखिए मानसपीयूष अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ६६७

शरणागतिवान् सन्त (८) कामिनीकांचन में अनासक्त सन्त (९) भगवान् ही को सब कुछ समझनेवाले (१०) परहित ब्रती (११) विनय विश्वासी सेवक (१२) एश्वर्यत्यागीभक्त (१३) मुक्ति के लिये भी अलोलुप सेवक और (१४) निरीह सहज स्नेही।

भक्तों के लक्षणों की चर्चा में साधनों की बात आप ही आप आ जाती है। इसलिए इस प्रसंग को हम साधनों की चर्चा के साथ बराबर जोड़ सकते हैं। परन्तु इसे उभय प्रकार नवधा भक्तियों का समन्वय करने वाली चतुर्दशधा भक्ति पद्धति का प्रकरण मानना गोस्वामी जी के अभिप्राय के साथ खींचतान करना ही पड़ेगा। गौड़ जी के उर्युपक्त कथनों पर हमने खूब विचार किया और अन्त में हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

साधनों के सम्बन्ध में दो प्रसंग औरभी हैं जो देखने योग्य हैं। एक है ज्ञानदीपप्रकरण में भक्तिमणि की प्राप्ति का प्रसंग और दूसरा है मानसरोग के उन्मूलन में भक्तिसंजीवनी बूटी के सेवन का प्रसंग। वे दोनों प्रसंग इस प्रकार हैं:—

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।।
सुगम उपाइ पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भट भेरे ।।
पावन परबत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना ।।
मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्चा विराग नयन उरगारी।
भावसहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी।।

५०२—२५ से २७

५०२—१,२

---

१. प्रयत्न करने पर भी हम उभय प्रकार की नवधा भक्तियों के गौड़ महोदय कथित चौदह साधनों को उन्हीं के द्वारा बताए हुए वाल्मीकि प्रोक्त चौदह साधनों से अथवा रामचरितमानस की भूमिका में बताये हुए चौदह साधनों से ठीक-ठीक मिला नहीं पाये। ठोंकठाक कर जोड़-तोड़ भिड़ा देना दूसरी बात है।

रामकृपा नासहिं सब रोगा। जो येहि भांति बनइ संजोगा।।
सद्गुरु बैद वचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान स्रद्धा मति पूरी।।
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहित जतन कोटि नहिं जाहीं।।
५०५–३ से ६

प्रथम प्रसंग में (१) सद्ग्रंथानुशीलन (२) सुमति (३) विरति-विवेक और (४) सद्भाव की चर्चा है। दूसरे प्रसंग में (१) गुरुवाक्य में विश्वास (ज्ञान) (२) विषयों से निवृत्ति (वैराग्य) और (३) श्रद्धा-पूर्ण हरिभक्ति की चर्चा है। इन दोनों प्रसंगों में ज्ञान और वैराग्य को—विवेक और विरति को—पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। पुरजनगीता में भी विप्रपूजा (ज्ञान) और शंकरभक्ति (वैराग्य) की बात कही गयी है। लक्ष्मण जी के प्रति कहे गये भक्तियोग में विप्रपूजा (ज्ञान) और मन विषय विरागा (वैराग्य) की बातें आ ही गयी हैं। साथ ही:—

विरति चर्म असि ग्यान मन लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस विचारि।।
५०३–९-१०

का उल्लेख छठे परिच्छेद में किया ही जा चुका है। इन प्रसंगों को देखने से विदित होता है कि गोस्वामी जी ने ज्ञान और वैराग्य को भी भक्ति के साधनों में अच्छी प्रधानता दी है।

गोस्वामी जी ने हरभिक्ति को यद्यपि विशेषतः भगवत्कृपासाध्य ही कहा है तथापि भगवत्कृपा सम्पादनके लिये कुछ क्रियाओं की चर्चा करके वे उसे क्रियासाध्य भी बना देते हैं। इस प्रकार कृपा और क्रिया दोनों ही हरिभक्ति के साधन बन जाती हैं। गोस्वामी जी कहते हैं कि भक्ति के लिये प्रीति, प्रीति के लिये प्रतीति और प्रतीति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। और यह ज्ञान तभी आ सकता है, जब भगवान् की कृपा हो।[1] वे अन्यत्र

---

१. रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।।

कहते हैं कि भगवदनुराग के लिये विवेक और विवेक के लिये सत्संग आवश्यक है तथा यह सत्संग रामकृपा के बिना एकदम दुर्लभ है।[१] एक और स्थल पर उन्होंने लिखा है कि सत्संग के बिना हरिकथा नहीं, हरिकथा के बिना मोह नहीं जाता, मोह गये बिना रामपद में दृढ़ अनुराग नहीं होता और दृढ़ अनुराग बिना भक्ति (भगवान् की प्रसन्नता) नहीं सिद्ध होती। यह सत्संग तभी प्राप्त हो सकता है, जब भगवत्कृपा की कोर इस ओर हो जाय।[२] इसी प्रकार के अनेक स्थल हैं जिनमें भगवत्कृपा का पूर्ण महत्त्व व्यक्त होता है। अब इस कृपा के सम्पादन में जिन क्रियाओं की चर्चा गोस्वामी जी ने की है उनकी बानगी इस प्रकार है:—

मन क्रम वचन छांड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥
९१-२६

अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह। २९९-११

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीति॥
प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥
४८३-५ से ७

१. होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
२०६-७

बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥४-२१

२. बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा, किये जोग जप ग्यान विरागा।
४७०-७ से ९

सन्त विशुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
४७३-२१

मिलत कृपा तुम पर प्रभु करिहौं। उर अपराध न एकहु धरिहौं॥
३६८–२७

गिरजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीति॥
३७४–१६

उमा जोग जप दान तप नाना मख व्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस जसि निहकेवल प्रेम॥४३६–६,७
बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह विस्राम॥
४८१–२०, २१

ताहि भजिय मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई॥
५०९–१०

यदि भक्त को एकदम क्रियासाध्य बता दिया जावे तो अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावना है। सबसे बड़ा अनर्थ तो यह है कि इस पद्धति में भगवान् के औदार्य के बदले अपने प्रयत्न पर ही अभिमान होना स्वाभाविक हो जाता है। उससे मिलता-जुलता दूसरा अनर्थ यह है कि जब हमें अपने प्रयत्न में सिद्ध नहीं मिलती तब असन्तुष्ट होकर नास्तिक-सा बन जाना भी हमारे लिये स्वाभाविक हो जाता है। इस सम्बन्ध में हमने "गीतासार" के पृष्ठ ६३, ६४ और ६५ में जो लिखा है उसे यहाँ प्रसंगानुकूल कुछ फेरफार के साथ दुहरा देना अनुचित न होगा। (१) "यदि हम गुरु के समक्ष प्रयत्न करेंगे तो हमें ज्ञान मिल जायगा।" और "यदि गुरु की कृपा होगी तो हमें ज्ञान मिल जायगा।"—इन दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य तो हमारे कर्तव्यों का महत्त्व सूचित करता है और उस क्रिया में हमारा ध्यान गुरु के महत्त्व की ओर बहुत ही कम जाता है। दूसरे वाक्य में हमारा ध्यान गुरु ही पर रहता है। हमें शान्ति और शाश्वत स्थान की प्राप्ति तभी होगी, जब हमारा पूर्ण लक्ष्य ईश्वर की ओर होगा न कि अपनी शरणागति की क्रिया की ओर। जो लोग धर्मग्रन्थ देखकर ही भक्ति और

शरणागति के तरह-तरह के विधान रचा करते हैं और परिणाम में विमान को अपने पास न आते देख ईश्वर को ही कोसने लगते हैं, वे इस 'कृपा' वाली बात को न जानने के कारण सच्ची भक्ति तक पहुँच ही नहीं पाते। (२) हम अल्पदर्शी हैं और ईश्वर सर्वदर्शी है। हम अपना भूत भविष्य नहीं जानते, इसलिए शान्ति इत्यादि की प्राप्ति के लिये हमें किस अंश तक प्रयत्न करना चाहिए, यह हमें विदित नहीं होता। एक मनुष्य शीघ्र ही सिद्ध पा जाता है, दूसरा जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करता रहता है तब भी नहीं पाता। अतः यदि कृपा का नाम न लिया जाय तो हम अपने प्रयत्नों का परिणाम देखकर निराश हो जा सकते हैं। यदि कृपा की ओर ध्यान रखा गया तो हमें बराबर सन्तोष बना रह सकता है क्योंकि प्रभु की प्रसन्नता कब होगी इसके लिये तो कोई समय निर्धारित हो ही नहीं सकता। (३) यदि हम स्वार्थभावना से किसी की सेवा करेंगे तो उसकी कृपा प्राप्त करना कठिन ही रहेगा। ईश्वर तो सर्वज्ञ है। उससे हमारी स्वार्थभावना कैसे छिप सकती है? इसलिए अपनी स्वार्थभावना द्वारा उसका पूर्ण कृपापात्र बनना प्रायः असम्भव ही है। भले ही वह हमारे प्रयत्नों के अनुसार हमें मन चाहे फल दे दे, परन्तु वह हम पर पूर्णतः प्रसन्न हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी प्रसन्नता के लिये तो निष्कपट हृदय से निःस्वार्थ शरणागति आवश्यक है। तभी उसकी कृपा होगी। इसलिए आचार्यों ने क्रिया की अपेक्षा कृपा पर जोर दिया है। (४) भगवान् के यहाँ दूकानदारी तो है नहीं कि जितने पैसे लें उतने ही की चीज दें। बड़े बड़े जप तप की उनके दरबार में कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्य चाहे भयंकर से भयंकर पापी हो और अपनी कमजोरियों के बोझ को चाहे वह दुर्लङ्घ्य समझ रहा हो, फिर भी वह सच्चे हृदय से परमात्मा की ओर अग्रसर हो जाय तो वे दौड़कर सहायता के लिये उपस्थित हो जाते हैं। बच्चा आँगन में पड़ा हुआ है और माँ अट्टालिका पर बैठी काम कर रही है; मानों उसे बच्चे की कोई चिन्ता ही नहीं; परन्तु जब वही बच्चा माँ के लिये व्याकुल होकर रोता हुआ सीढ़ियों पर चढ़ने का उपक्रम करता है, तब माँ दौड़ कर उसे गोद में उठा

लेती है और उस बच्चे को अवशिष्ट सीढ़ियाँ तय करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। यही तो वह मार्ग है, जिस पर चलकर सुदामा ने तीन मुट्ठी चावलों के बदले त्रैलोक्य की वसुधा पाई थी। यही तो वह पथ है, जिसके लिये "पैये फल चार फूल एक दै धतूरे को" कहा गया है। इसीलिए आशीर्वाद से भरी हुई भगवत्कृपा की बात पर भक्तों का इतना अधिक अनुराग रहा करता है।

यदि भक्ति को एकदम कृपासाध्य ही बता दिया जावे तो भी अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावना है। पहिला अनर्थ तो यह है कि ऐसे विचारों वाला व्यक्ति किसी प्रकार के प्रयत्न पर जोर देगा ही नहीं। वह तो निकम्मा, आलसी और किंकर्तव्यविमूढ़ सा ही बना रहेगा। दूसरा अनर्थ यह कि यदि उसने प्रयत्न किया भी तो "हे भगवान् कृपा करो" "हे राम कृपा करो" इसी तरह की प्रार्थनाओं को प्राधान्य देता जायगा। लोक-संग्रह की ओर तो उसका ध्यान जाना ही कठिन है।

(१) इस संसार का यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि जो जैसा करेगा सो तैसा भरेगा। कर्मचक्र का नियम इतना अटल माना गया है कि पुन-र्जन्म के सिद्धान्त को भी इस कर्मवाद के साथ जुड़ जाना पड़ा है। हम अगले जन्म के कर्मों के फल इस जन्म में भोग रहे हैं और इस जन्म के कर्मों के फल इसी जन्म में नहीं वरन् अगले जन्मों तक भोगेंगे। यह सिद्धान्त भारतीय सनातनधर्म का मेरुदण्ड है। अब, यदि भक्ति एकदम कृपासाध्य मान ली जावे तब तो यह सिद्धान्त एकदम तहस-नहस ही हो जावेगा। यहस्थिति किसी भी विचारशील व्यक्ति की दृष्टि में समुचित नहीं कही जा सकती।

(२) भक्ति जब केवल कृपासाध्य है और कृपा एकदम निर्हेतुक है तब भगवान् केवल एक उच्छृंखल शासक ही माने जा सकते हैं जो 'राम' पर तो कृपा कर दें और 'श्याम' को कष्ट भुगताते रहें, 'हरि' को तो एकदम तार दें और 'गोविन्द' को चौरासी लाख योनियों का चक्कर दिलाते रहें। जब दुनिया के सभी जीव उनके हैं तब इसका क्या मतलब है कि किसी पर

तो निष्कारण कृपा हो जाय और किसी की ओर ये आँख उठाकर देखें तक नहीं। उनकी निर्हेतुकी कृपा के साथ संसार की इस विषमता का सामञ्जस्य कैसे होगा ?

(३) भक्ति सबको एक बराबर तो मिला नहीं करती। वह तो व्यक्ति विशेष को ही मिलती है। इसलिए कृपासाध्य भक्ति का मार्ग व्यक्तिपरक मार्ग अथवा "साधुमत" का ही मार्ग ठहरा। लोकमत के मार्ग की वहाँ गुञ्जाइश ही कहाँ। जिस प्रकार भगवान् ने राम, श्याम और मोहन पर कृपा करके अपनी भक्ति प्रदान कर दी उसी प्रकार मुझ पर भी कृपा करदें; बस यही इच्छा रखकर भक्त साधुमत में दीक्षित होता है। उसे संसार के अन्य जीवों की चिन्ता ही नहीं हो सकती।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ एक ओर :—

अस प्रभु दीनबन्धु हरि कारन रहित कृपाल।
तुलसीदास सठ ताहि भजु छाँड़ि कपट जंजाल॥१००–११, १२
कारन बिनु रघुनाथ कृपाला। ३१९–१२

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरिहि कृपा पाव कोई कोई॥३३७,२४
आदि बातें लिखकर "कृपा के सिद्धान्त को अंगीकार किया है वहाँ दूसरी ओर :—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोगु सब भ्राता॥
२०५–२४

करम प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
२५५-४

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ हित परलोक नसाना॥
काल रूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता।
४६२-१,२

आदि लिखकर "क्रिया" के सिद्धान्त को भी पूरी तरह स्वीकार किया है। वास्तव में क्रिया के बिना कृपा नहीं हो सकती और कृपा के बिना

क्रिया के फल की सिद्धि भी नहीं हो सकती। बीज और वृक्ष की भाँति कृपा और क्रिया अन्योन्याश्रित हैं। इसीलिए गोस्वामी जी यहाँ एक ओर कहते हैं कि कृपा के बिना भक्ति नहीं मिल सकती[१] वहाँ दूसरी ओर कहते हैं कि भक्ति के बिना कृपा भी नहीं मिल सकती।[२] गोस्वामी जी कहते हैं कि परमात्मा अवश्य निर्हेतुक कृपाशील हैं परन्तु जीव अपने ही कृत्यों से अपने को उसकी कृपा से वंचित रखता है।[३] जिसके हृदय में कपट की आड़ होगी वह ईश्वर की कृपा पाही नहीं सकता।[४] जो स्वतः भ्रान्त होगा वह तत्त्व के वास्तविक रूप को कैसे देख सकता है।[५] जो जड़ हिम बनकर उस प्रभाकर के पास पहुँचना चाहेगा वह अवश्य ही गल जायगा।[६] परमात्मा तो प्रत्येक जीव में अपना सहज स्नेह अर्पित किये हुए है।[७] जीव चाहे तो उस स्नेह को बढ़ावे और चाहे तो उसे माया की नश्वर वस्तुओं में नष्ट हो जाने दे। कृपा और क्रिया के सिद्धान्तों का सुन्दर सामञ्जस्य इससे बढ़कर शायद ही और कहीं दिखाया गया हो। कर्मसिद्धान्त कहता है कि पाप

---

१. देखिए पृष्ठ ४८३ पंक्ति ५ से ७।

२. देखिए पृष्ठ ४३६-६, ७ तथा ४८३-२०, २१

३. करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ हित परलोक नसाना।।
काल रूप तिन्ह कहं मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता।।
४६२-१, २

४. जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई।।
३६२-२०

५. चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये।।
इत्यादि ५९-१७

६. तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ।।
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मनमथ महेश कै नाई।।
४६-१७, १८

७. ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। १०२-२०

करोगे तो उसके फलभोग स्वरूप नरक अवश्य मिलेगा। कृपा का सिद्धान्त कहता है कि भगवान् की शरण में नरक का भय ही न रहेगा। बड़े-बड़े पापी भी शरणागत होकर कृपापात्र बन गये और इस प्रकार नरक से बच गये हैं। सामञ्जस्य का सिद्धान्त बतता है कि "भाई, शरणागति के समय जो पापकृत्यों के सम्बन्ध का पश्चात्ताप होता है यही तो उस पाप का फलभोग है और भविष्य में निश्छल और निष्पाप बनने की जो प्रतिज्ञा होती है वही तो उस पापकर्म को काटने वाला पुण्यकर्म है। इसलिए यदि तुम कर्मचक्र के इस रास्ते को पकड़ोगे तो तुम्हें विशेष कष्ट न उठाना पड़ेगा और तुम नरकयातनाओं की असीम पीड़ा से बच सकते हो, क्योंकि पहिले रास्ते में तो केवल तुम्हारे कर्मों के चक्कर की ही बात थी और इस दूसरे रास्ते में तुम भगवान् की निर्हेतुक सहायता के अधिकारी भी तो बन रहे हो।" कर्मचक्र ही भगवान् का न्याय है और निर्हेतुक कृपा ही उनकी दया। न्याय और दया का सामञ्जस्य जब तक ठीक ठीक न होगा तब तक भक्ति सिद्धान्त का रहस्य ठीक ठीक समझ में आ ही नहीं सकता। इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने मानस में दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य करके बड़गल तिङ्गल आदि सभी सम्प्रदाय वालों को समेट लिया है।

भक्ति के लिये भगवत्कृपा अनिवार्य साधन है ही। परन्तु वह साधन तो ईश्वराधीन है। इसलिये भक्ति के साधनों की चर्चा में जीवाधीन साधनों अर्थात् क्रियाओं का ही विशेष उल्लेख होता है। यह सच है कि भक्ति के ऐसे साधनों की कोई सीमा नहीं परन्तु यह भी सच है कि ऐसे सब साधन महत्त्ववाले भी नहीं रहा करते । कुछ साधन एकदम गौण हैं उनके बिना भी काम चल सकता है। कुछ साधन इतने प्रधान हैं कि वे भक्ति की प्राप्ति के लिये एकदम अनिवार्य हैं। उनके बिना भक्ति सध ही नहीं सकती।[१] गोस्वामी जी के बताये हुए ऐसे साधन इस प्रकार हैं:—

---

१. **गोस्वामी जी एक ओर—**

१. मानव शरीर

गोस्वामी जी कहते हैं कि शरीर के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना (४८६-१९)। शरीर में मानव शरीर सर्वश्रेष्ठ है।

बड़े भाग मानुप तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परिलोक सँवारा॥
४६२-२४, २५

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहिं करमहिं ईश्वरहिं मिथ्यादोष लगाइ[1]॥ ४६३-१,२

मानव देह में द्विज वपु तो देवताओं के लिये भी दुर्लभ वस्तु है। चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान स्रुति गाई॥४९५-७

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिवेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥
४८६-७, ८

लिख कर साधनों की लम्बी सूची बनाते हैं, दूसरी ओर—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
४६३-२३

लिखकर कई साधनों का गौणत्व बता देते हैं। वे—

बिनु सतसंग न हरिकथा। ४७०-७ मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। ४००-९ आदि लिखकर सत्संग तथा प्रभुप्रेम सरीखे साधनों की अनिवार्यता भी स्पष्ट कर देते हैं।

१. यहाँ भी कृपा और क्रिया का सामंजस्य देखिए। मानव शरीर की प्राप्ति भगवान् की कृपा का फल है। देखिए पृष्ठ ४६३ पंक्ति ८। इस शरीर को पाकर परलोक संवारना हमारी क्रिया का परिणाम होगा। देखिए पृष्ठ ४६३ पंक्ति ११, १२।

इसलिए इस शरीर को पूरी तरह स्वस्थ, सबल और समुन्नत बनाये रख-कर इसका भरपूर सदुपयोग करना चाहिए।

२. श्रद्धा और विश्वास

गोस्वामी जी ने कहा है:—
श्रद्धा बिना धरमु नहिं होई—४८३-१५
वे यह भी कहते हैं:—

कवनिउ सिद्धि कि बिनु विश्वासा। ४८३-१९

बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।४८३-२०
इसलिए श्रद्धा और विश्वास तो अनिवार्य साधन हुए ही।

३. निश्छलता और लोकसेवा

भगवान राम कहते हैं:—

जो पै दुष्ट हृदय अति होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोंहिं कपट छल छिद्र न भावा॥
३६३-२०,२१

गोस्वामी जी भी—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई॥
४६३-२४

को भक्ति का आनवार्य लक्षण कहते हैं।

यह तो हुआ निश्छलता का हाल। अव लोकसेवा के विषय में देखिए।

मानसकार कहते हैं:—
सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि ।५०२-११
सेवक सो जो करइ सेवकाई। १२५-७
करइ स्वामिहित सेवक सोई। २४२-१२

अग्या सम न सुसाहिब सेवा। २८६-९
सोई सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥
४६२-२२
सो अनन्य असि जाके मति न टरहि हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवन्त॥३२९-१६,१७,

लोकरक्षक परमात्मा का हित अथवा अनुशासन लोकसेवा में है इसलिए लोकसेवा बिना सेवक कैसा और सेवकभाव के बिना भवसन्तरण अथवा अनन्यभक्ति का भाव कैसा?

४. विवेक और वैराग्य

कहीं-कहीं तो गोस्वामी जी ने इनकी आवश्यकता को गौणता दे दी है और कहीं एकदम प्रधानता दी है। सत्संग के प्रसंग में वे कहते हैं —"संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने"। ६-११ प्रीति के प्रसंग में वे कहते हैं "जाने बिनु न होइ परतीती, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।" ४८३-६

इस तरह तो हुई ज्ञान की अनिवार्यता। अब वैराग्य की अनिवार्यता बताते हुए वे कहते हैं—
तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहु मन बिस्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम॥३६४-१८, १९
ताहि कि सम्पति सगुन सुभ सपनेहु मन विश्राम।
भूत द्रोह रत मोह बस राम विमुख रतकाम॥४११-८, ९
निज सिद्धान्त सुनावहुँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
४८१-३३

इस सम्बन्ध में हम छठें परिच्छेद में विशेष लिख आये हैं इसलिए यहाँ इतना ही पर्याप्त है। संक्षेप में यही समझ लेना चाहिए कि व्यापक अर्थ वाले विरति और विवेक—साधनरूप से स्वतन्त्र मार्ग बन जाने वाले वैराग्य और ज्ञान—भले ही गौण हों, परन्तु अपने प्रकृत अर्थवाले

विरति और विवेक की अनिवार्य आवश्यकता गोस्वामी जी को सर्वथैव मान्य थी।

५. प्रभुप्रेम नामजप और सत्सङ्ग

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥
२३३-७

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग जप ग्यान विरागा॥
४७०-९

आदि वाक्य प्रभुप्रेम की अनिवार्य आवश्यकता बता ही रहे हैं।

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि विशेष नहिं आन उपाऊ॥
१६-३

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि॥
५०९-७,८

आदि लिखकर गोस्वामी जी ने नाम जप की अनिवार्यता स्पष्ट ही कर दी है। तथा—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥
४-१९-२०

सत संगति मुद मंगल मूला। सोई फल सिधि सब साधन फूला॥
४-२२

बिनु सतसंग न हरि कथा—४७०-७

सबकर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई॥
५०३-५

सदृश पक्तियाँ लिखकर गोस्वामी जी ने सत्संगति की भी अनिवार्य आवश्यकता बता दी है।

इन अनिवार्य साधनों में शरीर तो ईश्वर ही की देन है। इसलिए उसका सम्बन्ध विशेषतः हमारी क्रिया से नहीं वरन् परमात्मा की कृपा से है। शेष ९ साधनों में[1] श्रद्धा और विश्वास नामजप के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं, निश्छलता और लोकसेवा का प्रभु प्रेम में अन्तर्भाव हो जाता है और विवेक-वैराग्य सत्सङ्ग के उपाङ्ग से बन जाते हैं। अतः नामजप, प्रभुप्रेम और सत्संग ही प्रधान क्रियात्मक साधन शेष रहते हैं। हृदय से (मनसा) प्रेम, मुख से (वाचा) नामजप और क्रिया से (कर्मणा) सत्सङ्ग; इन्हीं तीन सर्वश्रेष्ठ साधनों में शेष सभी साधन समा जाते हैं। इन तीनों साधनों का परस्पर सम्बन्ध भी ऐसा है कि किसी एक साधन पथ पर आरूढ़ होने से शेष दोनों साधन आप ही आप सिद्ध हो जाते हैं। इनमें से किसी एक की सम्यक् साधना करने से मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है। इसलिए यदि इस परिच्छेद में कथित अनेकानेक साधनों का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव से नहीं किया जा सकता तो कम से कम इन तीनों साधनों का कुछ विस्तृत वर्णन किसी प्रकार भी अप्रासङ्गिक न होगा। गोस्वामी जी ने भी इन तीनों साधनों का विस्तृत वर्णन जी खोलकर किया है।

प्रेमासक्ति

गोस्वामी जी ने चातक और मीन को प्रेमासक्ति का प्रतीक माना है।

जग जस भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना।।

२६१-१

वे कहते हैं कि बाधा उपस्थित होने पर जो क्षीण हो गया वह प्रेम ही क्या है।[2]

---

१. गोस्वामी जी की यह निराली नवधा भक्ति बड़े मार्के की है।

२. अपने ५४वें और ५५वें भक्तिसूत्रो में नारदजी ने भी प्रेम सम्बन्ध की परिभाषा में उसके प्रतिक्षण वर्धमान और अविच्छिन्न भाव पर काफी जोर दिया है। वे कहते हैं —

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पवि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥
२४९-१९ से २१

यह प्रेम जीव के लिये एक स्वाभाविक वस्तु है क्योंकि वह ब्रह्म का अंश होने से उसका 'सहज संघाती' और 'सहज स्नेही' है।[1] विशुद्ध ब्रह्म तो उसके लिये अदृश्य रहता है इसलिए वह दृश्यमान ब्रह्म (जगत्) की वस्तुओं से प्रेम करने लग जाता है। और नहीं तो कम से कम अपने व्यक्तित्व पर तो वह अवश्य ही प्रेम करने लगता है। इसी व्यक्तित्व के लिये वह धन-दौलत, कपड़े-लत्ते, घर-द्वार, बाग-बगीचे, नौकर-चाकर कुटुम्ब-कबीले आदि जोड़ता रहता है। व्यक्तित्व के पोषण और वर्धन के लिये (आत्मरक्षा और वंश विस्तार की मूल प्रवृत्तियों की चरितार्थता के लिये) कांचन और कामिनी की ओर आकर्षण होना भी स्वाभाविक है। गोस्वामी जी ने इसीलिए प्रेम का रहस्य समझाने के लिये इन तीन आसक्तियों को (शरीर-सम्बद्ध व्यक्तित्व के लिये आसक्ति, कांचन के लिये आसक्ति और कामिनी के लिये आसक्ति को) उपामानरूप से चुना है। वे कहते हैं:—

सेवत लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥ २२५-४
कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम॥५१०-३

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपं। ५४

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति तदेव चिन्तयति॥५५

१. ईश्वर अंस जीव अविनासी।५००–९
ब्रह्म जीव इव सहज संघाती। १५–३
ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। १२०-२०

इस सादृश्य का रहस्य समझाते हुए डाक्टर बड़थ्वाल महोदय कहते हैं:—

"वासनाएँ स्वतः भली या बुरी नहीं होतीं। उनका भला या बुरा होना उनके आलम्बन पर निर्भर है। जो वासना पुत्र कलत्र धन इत्यादि की ओर आकृष्ट होकर मोह कहाती है और बन्धन का कारण होती है, वही भगवान् की ओर आकृष्ट होने से उपासना या भक्ति कहाती है और जीव की मुक्ति का कारण हो जाती है।"[1]

आलम्बन की महत्ता के सम्बन्ध में तो गोस्वामी जी ने जितना कहा है उससे अधिक शायद ही और कोई कुछ कह सका हो। प्रेम की सार्थकता इसी में है कि वह "सचराचर रूप राशि भगवन्त" की ओर अर्पित हो।[2] भगवान् स्वतः ही व्यक्तित्वमय आराध्य की बात न कह कर सर्वभूतमय आराध्य की ओर अति प्रेम करने को कहते हैं।[3] जो सच्चे भगतप्रेमी रहते हैं वे तो "निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।"[4] संसार की वस्तुओं में आसक्ति का पाठ पढ़कर मनुष्य वे सब आसक्तियाँ भगवान् की ओर अर्पित करदे तभी तो उसके प्रेम की सार्थकता है।[5]

---

१. देखिए "हिन्दी साहित्य में उपासना का स्वरूप" कल्याण भाग ९ संख्या ४ पृष्ठ ८३८।

२. सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवकु सचराचर रूपरासि भगवन्त॥ ३२९—१६, १७

३. सदा सरवगत सरबहित जानि करेहु अति प्रेम। ४५१—१६

४. उमा रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
४९७—१४, १५

५. जननी जनकबन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कइ ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बांध बरि डोरी॥
३६५—६, ७

आलम्बन की इस महत्ता को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि सच्चा प्रेमी वह है जो लोकसेवक हो। भगवान् सदैव श्रुतिसेतु के पालक कहे गये हैं।[१] इसलिए उनका प्रेमी वही है जो लोकरक्षा के निमित्त कार्य करे। 'प्रेम का परिचय प्रेमी के प्रीति निमित्त कर्म करने से होता है, केवल कहने से नहीं'[२]। परहितव्रत की इसीलिए इतनी महिमा है[३] क्योंकि वह भगवत्प्रेम का ही दूसरा रूप है।

यह बात नहीं है कि आराध्य की विश्वरूपता पर ही गोस्वामी जी ने समूचा जोर दिया हो। हम पहिले ही बता आये हैं कि गोस्वामी जी ने अपने आराध्य के त्रैविध्य की भरपूर चर्चा की है इसलिए उन्होंने व्यक्तित्व-विशिष्ट परमात्मा से भी प्रेम करने की चर्चा की है। भगवान् का व्यक्तित्व कैसा है इसके सम्बन्ध में गोस्वामी जी कहते हैं कि "जिन्ह के रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।" (११२-२२)[४]। सुन्दर से सुन्दर और आकर्षक से आकर्षक रूप कैसा हो सकता है तथा उस रूप की किस प्रकार भिन्न-भिन्न झाँकियाँ हो सकती हैं इन वर्णनों से तो समूचा रामचरितमानस ही भरा पड़ा है। जिस व्यक्ति की रुचि जिस झाँकी और जिस रूप में हो वह उसी ओर अपनी प्रेमवृत्ति अर्पित कर दे।

यह सार्वभौम नियम है कि जिसका जिस पर सत्य स्नेह होता है वह उसे अवश्य मिलता है।[५] फिर भगवान् तो पुनीत प्रेम के अनुरागी रहा

---

१. तुम पालक सन्तत श्रुति सेतू।।२१९-१०

२. चौधरी रघुनन्दनप्रसाद कृत भक्तियोग पृष्ठ १५९

३. परहित सरिस धरम नहीं भाई।।४६१-२५

४. तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानां मरूपिणः।।
भागवत ३।२४।३१

५. जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू।।
१२०-६

करते हैं।[1] इसलिए इस मार्ग से उनकी प्राप्ति निश्चित ही है। परन्तु कठिनता यह है कि (उनकी अप्रत्यक्षता के कारण और व्यवधान रूप जगत् की प्रत्यक्षता के कारण) उनकी ओर अचल अनुराग होने नहीं पाता। यदि संसार की किसी वस्तु की ओर हमारा अचल अनुराग हो गया है तब तो प्रयत्नपूर्वक आलम्बन बदल देने से काम चल जायगा और यदि अनुराग की अचलता हममें आई ही नहीं है तो फिर वैधी और रागात्मिका भक्ति-पद्धतियों में बताये हुए उपायों आदि द्वारा हम अनुराग के भाव को उसकाएं और उसे अचल बनाएँ नामजप के उपाय को गोस्वामी जी ने दोनों स्थितियों के लिए प्रशस्त माना है। उससे न केवल आलम्बन की स्पष्टता होती है वरन् उस आलम्बन के साथ सान्निध्य भी बढ़ता है[2] जिसके कारण उस ओर क्रमशः श्रद्धा, संग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम[3] का प्रादुर्भाव होता है।"[4]

---

१. राम पुनीत प्रेम अनुरागी। १७१–२२

२. सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विसेखे॥
१५–१५

३. आदौ श्रद्धा ततः संगः ततोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततो प्रेमाभ्युदंचति।
साधनाकामयं प्रेम्णः प्रादुर्भाव भवेत् क्रमः॥ भक्तिरसामृतसिन्धु

४. महर्षि शाण्डिल्य ने भी अपने भक्तिसूत्र में "सम्मान बहुमान प्रीतिविरहेतर विचिकित्सा महिमख्याति तदर्थ प्राणस्थान तदीयता सर्वतद् भावा प्रतिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्"॥ २।१।१८ लिख कर बताया है कि हरिनामस्मरण से परमात्मा की ओर क्रमशः सम्मान, बहु-मान, प्रीति, विरह, इतरविचिकित्सा, महिमख्याति, तदर्थ प्राणस्थान तदीयता, सर्वतद्भाव, अप्रातिकूल्य आदि की वृद्धि होती है।

कई आचार्यों ने प्रेम के सेव्य-सेवक भाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुर (दाम्पत्य) भाव में तारतम्य दिखाने की चेष्टा की है और परतर को पूर्वतर से श्रेष्ठ कहा है। परन्तु यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो भगवद्-विषयक माहात्म्यज्ञान इन श्रेष्ठतर कहे जानेवाले भावों में कम ही होता चला जाता है। इसलिए तो सख्यभाव वात्सल्यभाव और दाम्पत्य भाव वाले भक्तिमार्ग धीरे-धीरे सांसारिकता के दलदल में फंसते गये और उनके उपास्य राधाकृष्ण अधिकांश में एक सामान्य नायक-नायिका के रूप में रह गये। सेव्यसेवकभाव में इस धोखे का डर नहीं क्योंकि उस प्रकार के प्रेम में प्रेमपात्र की महत्ता का ज्ञान सदैव सन्मुख रखना अनिवार्य है। फिर, सेव्यसेवकभाव की सीढ़ी तै किये बिना श्रेष्ठतर कहे जाने वाले भावों पर दृढ़ स्थिति भी तो कठिन ही है। यदि किसी विशेष अधिकारी ने यह स्थिति प्राप्त भी कर ली तो उसका प्रयत्न अपवाद ही कहावेगा लोकमत की दृष्टि से सामान्य नियम नहीं। इसीलिए गोस्वामी जी ने सेव्यसेक भाव को पूरी महत्ता देते हुए कहा है 'सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि।" (५२०-११)

सेवक-सेव्यभाव से बहुत मिलता-जुलता साधन है प्रपत्तिमार्ग। आराध्य की ओर यदि हमारा प्रेमाकर्षण सुदृढ़ नहीं है तो न सही; यदि हम उसकी शरण हो जाने की ही भरपूर चेष्टा कर लें तो हम उसका प्रेम आप ही आप पा जावेंगे। यह मार्ग सबके लिये खुला हुआ है। अन्य कोई सहारा यदि पास न हो और यही एक सहारा हो तो भी कृतकृत्यता के लिये वह हर तरह पर्याप्त है। भक्त सुतीक्ष्ण कहते हैं—

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाही। भगति बिरति न ग्यानु मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥

३०४-९ से ११

शरणागति के लक्षण वायुपुराण में बड़ी सुन्दरता से दिये गये हैं। वहाँ लिखा है—

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिःक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।।

भगवान् को जो बातें रुचें वही करने का संकल्प, उन्हें जो बातें अरुचिकर हों उन्हें दूर करने का निश्चय, वे हमारी रक्षा करेंगे इसका विश्वास, साहाय्य के लिये उनसे प्रार्थना; अपना समूचा भविष्य उन पर छोड़ देना और अपने को उनका एक अकिंचन सेवक मात्र मानना। (दीन की भाँति गर्वहीन होना) यही षड्विधा शरणागति कहलाती है।[1] इसे ही प्रपत्ति-मार्ग कहते हैं।

भगवान् शरणागतवत्सल हैं इसीलिए वे करोड़ों विप्रों के वध करने वाले महापातकी को भी उसके सब अपराध विसार कर अपनी शरण में ले लिया करते और उसकी रक्षा किया करते हैं।[2] परन्तु कोई पातकी उनकी शरण जा ही नहीं सकता जब तक कि वह अपना हृदय निर्मल, निश्छल न करले।[3] जब उसे अपने पातकों के लिये पश्चात्ताप होगा और भविष्य

---

१. यद्यपि गोस्वामी जी ने शरणागति के इन छहों अंगों का कहीं स्पष्ट विवेचन नहीं किया है तथापि मानस के कई प्रसंगों में यह षड्विधा शरणागति ध्वनित होती है। ऐसे प्रसंगों में एक यह है—

जे पद परसि तरी रिषि नारी। दण्डक कानन पावनकारी।
जे पद जनकसुता उर लाये। कपट कुरंग संग धर धाये।।
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहऊं तेई।।
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आज बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ।।३६३-१ से ५

२. कोटि विप्र वध लागहिं जाहू। आये सरन तजऊं नहिं ताहू।।
३६३–१७

गये सरन प्रभु राखिहिं तव अपराध विसारि। ३५४-२७

३. जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सम्मुख आव कि सोई।।
३६३–२०

के लिये "अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्" होगा तभी तो वह शरणागति का अधिकारी होगा। ऐसा मनुष्य निश्चय ही अपनाया जाने योग्य है।

विभिन्न परिस्थितियों में प्रेमभाव की विभिन्न लहरें (आसक्तियाँ) प्रकट हुआ करती हैं। कभी-कभी तो वह इतना गुप्त रहता है कि विरह की ठोकर के बिना उसके अस्तित्व का पता तक नहीं चलता। भरत के प्रेम ही को देखिए। जब तक विरह की ठोकर न लगी तब तक कुछ पता भी न था कि उनका प्रेम राम के लिये किस हद का था। वह ठोकर लगते ही उनके एक-एक श्वासोच्छ्वास से अनुराग की धाराएँ चारों ओर उमड़ पड़ीं। जिसे विरह की महिमा और प्रेम का स्वरूप देखना हो वह मानस के भरत-चरित का अनुशीलन करे।[१] विरह ही वह वस्तु है जो प्रेमपात्र कीर ओर ध्यान की एकाग्रता बढ़ाकर अनुराग को और भी प्रबल कर देती है। जब तक मनुष्य विरह में व्याकुल होना ही न जानेगा तब तक प्रेम का रस वह पा ही कैसे सकता है। असल में तो प्रेम और प्रेमपात्र दोनों ही आनन्द का उल्लास होने के कारण अभिन्न हैं।[२] विरह में भी प्रेमानन्द तो मिलता ही रहता है इसलिए वियोगावस्था में भी संयोगावस्था निहित रहा करती है। विरह के इस रहस्य को समझने वाले लोगों ने विरह की प्रशंसा में न जाने क्या-क्या कह डाला है।[३] मुक्ति का निरादर करके भक्ति का द्वैतभाव बनाये रखना भी तो विरह की महिमा ही द्योतक करता है।

प्रेम ही वह जल है जिससे हृदय का मल धोया जाता है।[४] इसके

---

१. प्रेम अमिय मन्दरु विरह भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटे सुर साधु हित कृपा सिन्धु रघुबीर।।२६२-१९, २०

२. प्रेम हरी को रूप है वे हरि प्रेमस्वरूप।।रसखान।

३. बिरहा बिरहा मत कहौ बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरै सो घट जान मसान।।कबीर

४. प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई।।
४६५–३

गोस्वामी जी ने युगधर्म की चर्चा करके परिवर्तनशील अवस्था के अनुसार व्यवस्था का विधान रच दिया है। प्रगतिशील और परिवर्तन-शील जगत् में एक ही नियम सर्वत्र और सर्वदा उपयुक्त नहीं हो सकता। इसीलिए समय को देखते हुए गोस्वामी जी ने योग और तप का संयमपूर्ण कष्टप्रद ज्ञानमार्ग सतजुगी जीवों के लिये, कर्मकाण्डमय इष्टापूर्त का संग्रह-त्याग-वैदिक मार्ग त्रेतावालों के लिये, मठ मन्दिर मूर्ति आदि को प्राधान्य देने वाला पौराणिक पूजामार्ग द्वापर वालों के लिये और नामस्मरण तथा कीर्तनवाला सरलमार्ग कलियुगी जीवों के लिये बताया है। यह बात नहीं, है कि किसी एक युग में एक ही प्रकार की मनोवृत्तिवाले मनुष्य रहते हों। प्रत्येक युग में चारों युगों की वृत्तिवाले मनुष्य मिल सकते हैं। यही नहीं प्रत्येक मनुष्य में भी चारों युगों की वृत्तियाँ समय-समय पर आविर्भूत हो जाया करती हैं।[1] परन्तु सर्वसाधारण के लिये वही नियम उपयुक्त समझा जाता है जो उस युग का विशेष धर्म हो। इसलिए नाम-स्मरण वाला नियम यद्यपि चारों युगों में मान्य है तथापि इस कलियुग में तो वह विशेषतः मान्य है। "कलि विशेष नहिं आन उपाऊ"।[2]

जिस प्रकार मन्त्रों की संख्या अपरिमित है उसी प्रकार भगवान् के

---

१. देखिए पृष्ठ १७ पंक्ति २१ से २२ ।। पृष्ठ ४६८ पंक्ति १२ से १४। पृष्ठ ४९० पंक्ति ११ से २२।। और पृष्ठ ४९१ पंक्ति ३ से ८।।

२. नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलम्बन एकू।।
१८-२

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचारि।
श्री रघुनाथ नाम बिनु नाहिन आन अधार।।
४३८-२३, २४

यह कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा।
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। सन्तत सुनिय रामगुन ग्रामहिं।।
५०२-७, ८

नामों की संख्या भी अपरिमित है। उन सब मन्त्रों और नामों में "राम" की विशेष महिमा गाई गयी है।

वैष्णवेष्वपि सर्वेषु रामंमंत्राः फलाधिकाः॥

रामार्चनचंद्रिका २५ पृष्ठ

गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरेष्वभीष्टदः।
वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममंत्राः फलाधिकाः॥

रामोत्तरतापिन्युपनिषद् ॥श्लोक ४

यथैव बटबीजस्थः प्राकृतश्च महान्द्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥

रामपूर्वतापिन्युपनिषद् (द्वितीय)

वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममंत्रः फलाधिकः।
मंत्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः॥

अगस्त्यसंहिता

जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमंत्रांश्च पार्वति।
तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥

पद्मपुराण।

सप्तकोटि महामंत्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव परो मंत्रो राम इत्यक्षरद्वयम्॥

वृद्ध मनुस्मृति।

यादव् वेदार्थगर्भप्रणवि जगदुदाधारभूतं सविन्दु।
सुव्यक्तं रामबीजं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्णट षड्व्याप्तिभेदम्॥
रेफा रूढत्रिमूर्त्ति प्रचुरतर महाशक्ति विश्वोन्निदानं।
शश्वत् संराजते यद्विविध सकल संभासमानप्रपञ्चम्॥

श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर श्लोक १२ पृष्ठ ४०

---

१. कई आचार्यों ने ओं नारायण, कृष्ण, हरि आदि नामों की भी सुन्दर व्याख्या करके उनका भी बड़ा माहात्म्य बताया है।

आदि-आदि प्रमाणों से "राम' मन्त्र की महिमा भली भाँति प्रकट हो रही है। हनुमन्नाटककार कहते हैं:—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां।
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य॥
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां॥
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥

यह कथन किसी प्रकार अत्युक्तिपूर्ण नहीं क्योंकि "राम" इस छोटे से शब्द में बड़े-बड़े आचार्यों ने जाने कितना अर्थ भर दिया है। श्रीरामानन्द स्वामी (वैष्णवमताब्जभास्करकार) का कथन तो हमने ऊपर दे दिया है। रामरहस्योपनिषद् रामपूर्वतापिन्युपनिषद्, रामोत्तरतापिन्युपनिषद् तथा तारसारोपनिषद् में इस शब्द के जो-जो रहस्य बताए गये हैं वे वहीं देखने योग्य हैं। श्रीरामपटलकार कहते हैं:—

रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधि—
मकारार्थो जीवः सकलविधिकैंकर्यनिपुणः
तयोर्मध्याकारो युगलमथ सम्बन्धमनयो—
रनन्यार्हि ब्रूते त्रिनिगमस्वरूपोऽयमतुलः॥१॥
(पृष्ठ ९७)

रामार्चनचंद्रिकाकार का कहना है:—

रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति।
सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते।
व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः।
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगो विद्धि तत्प्राणयोजनम्॥
रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतंमकारयोजनं।
मकरोऽभ्युदयार्थत्वात् मा मायेति च कीर्त्यते॥
अयमेवान्तमुत्सज्याकारमेकाक्षरो मनुः।
सोऽयं बीजस्य हेतुः स्यात्समायं ब्रह्म तूच्यते॥

सविन्दुः सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दुरूपवान्।
ज्योतिस्तस्य शिखारूपं नादः सा प्रकृतिर्मता।।
प्रकृतिः पुरुषञ्चोभौ समायं ब्रह्मतत्त्वतः।
बिंदुनादात्मकं बीजं बह्नि सोमलता मता।।
अग्नी सोमात्मकं विश्वं रामबीजे प्रतिष्ठितं।
यथैव बटवीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः।।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।।
(पृष्ठ २५-२६)

श्रीमहारामायण में लिखा हुआ है:—

रकारोऽनलबीजं स्याद् ये सर्वे बाडवादयः।
कृत्वा मनोऽनलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्।।
अकारो भानुबीजं स्याद् वेदशास्त्रप्रकाशकम्।
नाशयत्येव सद्दीप्त्या या विद्या हृदये तमः।।
मकारश्चान्द्रबीजश्च पीयूषपरिपूर्णकं।
त्रिपातं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च।।
(मानसपीयूष बालकाण्ड पृष्ठ ३२३)

इसी प्रकार के न जाने कितने प्रमाण इस महामंत्र की महिमा में दिये जा सकते हैं। गोस्वामीतुलसी दास जी ने लिखा है कि नारद जी ने भगवान् से यह वरदान ही मांग लिया था कि:—

"राम सकल नामन्ह तें अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।।"
३२३-२७

इसलिए वे जहाँ पर नाम की बन्दना करते हैं वहाँ इसका समूचा रहस्य ही समझा देते हैं। वह पूरा प्रकरण भलीभाँति मनन करने योग्य है। संक्षेप में वह इस प्रकार है:—

मर्यादापुरुषोत्तम का रामनाम[1] (कृशानु की तरह सम्पूर्ण वासनाओं को भस्म कर देने वाले) वैराग्य (भानु की भाँति सम्पूर्ण तत्त्वों का बोध करानेवाले प्रकाशवान्) ज्ञान और (हिमकर की तरह शीतलता देने वाली) भक्ति का हेतु है। उसमें सृष्टि, स्थिति और प्रलय के सम्पूर्ण तत्त्व निहित हैं। वह ॐ के समान निर्गुण का प्रतीक होकर भी गुणनिधान भगवान् का अभिव्यञ्जन करता है। इसलिए वह अनुपम है।

उसकी महिमा के विषय में देवाधिदेव महादेव, प्रथम पूजा के अधिकारी गणाधिपति और कवियों में अग्रगण्य आदि कवि वाल्मीकि सरीखे महानुभाव प्रमाण हैं। केवल पुरुष ही नहीं स्त्रियों में अग्रगण्य आदि शक्ति जगदम्बिका भी उसकी महिमा का लोहा मान चुकी है।

इस नाम से भक्ति सार्थक होती है और भक्त की उन्नति होती है इसलिए भक्तरूपी शालि के लिये इन दो अक्षरों को यदि भक्तिवर्षा के सावन और भादों महीने कहा जाय तो अनुचित न होगा।

ये दोनों वर्ण मधुर और मनोहर हैं। ये सुलभ हैं, सुखद हैं और लोक तथा परलोक में कल्याण करने वाले होकर हृदय की दो आँखों के समान हैं। ये कहने के लिये दो हैं। वास्तव में तो ब्रह्म और जीव की भाँति सहज संघाती होकर ये एक ही हैं।

नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उन दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। फिर भी नामी श्रेष्ठ है क्योंकि नामी (प्रभु) उसके अनुगामी बन जाते हैं (नाम लेने से प्रभु की प्राप्ति हो जाती है।) यद्यपि नाम और रूप दोनों ही परमात्मा की उपाधियाँ हैं (उसकी माया के चमत्कार हैं) तथा किसी आचार्य के नाम को किसी ने रूप को प्रधानता और पूर्वता देकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसको बड़ा और किसको छोटा कहा जाय,

---

१. बीजमंत्रों की दृष्टि से र कर्मकृशानु जगाने वाला अग्निबीज आ ज्ञान ज्योति जगाने वाला आदित्य बीज और म भक्ति की शीतल शान्ति देने वाला चन्द्र बीज है।

फिर भी विचार करने से यही जान पड़ता है कि नाम श्रेष्ठ है। नाम से तो रूप की कल्पना की जा सकती है और नामस्मरण से स्नेह का प्रादुर्भाव होने पर रूपकी झाँकी भी हृदय में प्रकाशित हो जाती है, परन्तु नाम के बिना रूप का पूरा परिचय (उसकी अन्य पदार्थों से विशेषता आदि का सम्यक् ज्ञान) न तो स्वतः को हो सकता है और न दूसरे को ही कराया जा सकता है। (स्वतः को चाहे कुछ हो भी जाय परन्तु दूसरों के आगे वह अनुभव तो "गूंगों का गुड़" ही रहेगा।)

परमात्मा निर्गुण भी है सगुण भी है। निर्गुण का पंथ अलग है सगुण का अलग है। उन दोनों का प्रबोध करानेवाला यदि कोई एक पदार्थ है तो वह यह नाम ही है। यही उन दोनों के बीच का साक्षी भी है और दोनों के साथ जीव के भावों का सम्बन्ध कराने वाला दुभाषिया भी। इसलिये भीतर और बाहर (आत्मकल्याण और लोककल्याण के पथ में) प्रकाश फैलाने के लिये नाम रूपी मणि को जिह्वास्थ करके देहली दीपक् बना देना चाहिए। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी सभी प्रकार के भक्तों ने इसे अपनाया है। योगी लोग भी तो इसी के बल पर जाग्रत् रहा करते हैं।

परमात्मा का नाम उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों (भावों) से बढ़कर है। जिस तरह अग्नि-तत्त्व अलक्षित रूप से विश्व में (लकड़ियों में) भी व्याप्त है और प्रज्वलित होकर लक्षितरूप से एक देशीय भी बन जाता है उसी प्रकार निर्गुण और सगुण परमात्मा का हाल है। "अग्नि" कहने से जिस प्रकार दोनों तरह की अग्नियों का बोध होता हैउसी प्रकार "राम" कहने से ब्रह्मराम और दाशरथि राम दोनों का बोध होता है। अब देखिए रामनाम ब्रह्मराम से किस प्रकार बड़ा है। सच्चिदानन्द ब्रह्म तो प्रत्येक हृदय में विराजमान हैं फिर भी लोग उसके आनन्द का सीकर भी न पाकर "दीन दुखारी" ही रहा करते हैं। वह उपेक्षित रत्न की भांति दबा पड़ा रहा करता है। परन्तु नाम ही के निरूपण से और उसी के प्रयत्न से वह आनन्दमय ब्रह्म इस प्रकार जाग उठता है जैसे रत्न से उसका मूल्य। राम-

नाम दाशरथि राम से किस प्रकार बड़ा है इस सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि दशरथ राम ने वानर भालुओं की सेना एकत्र कर न जाने कितने परिश्रम से सेतु बनाया परन्तु नाम के तो स्मरण मात्र से भवसागर के समान महासागर एक दम सूख जाता है। नाम की यह वरदायक महिमा जानकर ही शतकोटि रामचरित्र से छाँटकर भगवान् शंकर ने इस नाम को ही अपना हृदयहार बनाया है। वे ही क्यों शुक, सनकादिक, नारद, प्रह्लाद ध्रुव, हनुमान, यहाँ तक कि अजामिल, गज, गणिका तक ने नाम ही से कृतकृत्यता पाई है। अधिक कहाँ तक कहा जाय बस यही समझ लीजिये कि स्वयं राम भी अपने इस नाम के पूरे गुण नहीं गा सकते।

इस कलि में तो भगवान् का यह नाम ही कल्याण निवास कल्पतरु है, जिसके स्मरण मात्र से तुलसीदास जी भाँग से तुलसीदास बन गये। यद्यपि चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकों में लोग नाम जपकर विशोक हुए हैं तथापि कलि में तो केवल यही एक अवलम्ब है जो परम अभिमतदाता है। इसे कलिकालनेमि के लिये हनुमान अथवा कलिहिरण्यकशिपु के लिये नरसिंहरूप समझना चाहिए।

संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि भाव कुभाव अनख आलस्य किसी प्रकार का नाम जप करने से दशों दिशाओं में मंगल ही मंगल होता है।[1]

"भाव कुभाव अनख आलस्य" की ये बातें सुनकर कोई यह न मान बैठे कि यंत्रवत् 'राम राम' चिल्लाने मात्र से मुक्ति हो जायगी। बहुतों ने गोस्वामी जी पर यह दोष लगाया है कि उन्होंने नामस्मरण पर आवश्यकता से अधिक जोर दे दिया है और :—

"राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥
२४५-१४

"तुलसी रा के कहत ही बिनसत पाप पहार।
बहुरि न आवन देन को देत मकार किवार" ॥

---

१. देखिए पृष्ठ १४ पंक्ति १३ से २३, पृष्ठ १५ पंक्ति १ से २४; पृष्ठ १६ पंक्ति ४ से २७, पृष्ठ १७ पंक्ति १ से १९, पृष्ठ १८ पंक्ति १ से ६।

सरीखे वाक्यों पर लोगों ने कहकहे लगाये हैं। यदि ऐसे सज्जनगण गोस्वामी जी की उक्तियों का पूर्वापर सम्बन्ध मिला लेने की चेष्टा कर लिया करें तो गड़बड़ का कोई अवसर ही न आवे। गोस्वामी जी स्पष्ट कहते हैं कि—नामस्मरण से स्नेह की वृद्धि होती है[1] और स्नेह की वृद्धि हुए बिना न तो हृदय निर्मल होता है और न परमात्मा ही मिलते हैं।[2] इसलिए यदि कोई चाहे कि भगवान् की ओर स्नेह बढ़ाये बिना केवल "राम-राम" कहकर मुक्ति पा लेगा तो उसका प्रयास ही निष्फल है। "राम राम सब कोई कहै ठग ठाकुर अरु चोर, बिना प्रेम रीझै नहीं तुलसी नन्द किशोर[3]।" फिर श्रद्धा और विश्वास के बिना तो सिद्ध लोग भी स्वान्तस्थ ईश्वर को नहीं देख पाते हैं।[4] इन दोनों साधनों के बिना किसी प्रकार का धर्म, किसी प्रकार की सिद्धि, होना ही संभव नहीं।[5] तब इनके बिना नामजप का साधन भी किस प्रकार फलप्रद हो सकता है? यदि श्रद्धा और विश्वास साथ हैं तो नामजप से भगवत्प्रेम की वृद्धि होना अनिवार्य है।

---

१. सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे।।
१५–१५

२. प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई।
४६५-३

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छलछिद्र न भावा।।
३६३–२१

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।४७०–९।

३. यह दोहा प्रसिद्ध है परन्तु हमें गोस्वामी जी के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में यह नहीं मिला।

४. देखिए पृष्ठ १ पंक्ति ३, ४।

५. श्रद्धा बिना धरमु नहिं होई।४८३–१५।
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।४८३–१९।

प्राचीन आचार्यों ने नामापराध से बचाकर ही नामजप करना अभीष्ट बताया है। मुख्य नामापराध दस हैं; यथा:—(१) सत्पुरुष निन्दा (२) नामों में भेदभाव (३) गुरुनिन्दा (४) शास्त्रनिन्दा (५) हरिनाम में अर्थवाद की कल्पना (६) नाम का सहारा लेकर पाप करना (७) धर्म, व्रत, दान, यज्ञादि के समान नाम को भी समान्य साधन मानना (८) अश्रद्धालु को नामोपदेश करना (९) नाम का महात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और (१०) अहंता ममता आदि विषयों में लगे रहना।[१] गोस्वामी जी ने भी नामस्मरण के साधक और बाधक विषयों की चर्चा करके नामापराधों की ओर संकेत किया है। वे कहते हैं:—

अस प्रभु दीनदयाल हरि कारन रहित कृपाल।
तुलसीदास सठ ताहि भजु छाँड़ि कपट जञ्जाल।।
१००-११,१२

राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहूँ ।।
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।।
१९९-४,५

दीपसिखा सम जुवति तनु मनु जनि होसि पतङ्ग।
भजहि राम तजि कामु मदु करहि सदा सतसङ्ग।
३२५-२५,२६

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पन्थ ।।
सब परिहरि रघुवीर ही भजहु भजहिं जेहि सन्त ।।
३६१-१६,१७

परिहरि मान मोह मदु भजहु कोसलाधीस ।।३६१-२७
अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।।४६१-१५

---

१. देखिए कल्याण भाग २ संख्या ३ पृष्ठ १६०।

अस बिचारि मति धीर तजि कुर्तक संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद।
४८३-२२, २३

सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥
४९०-१८, १९

इन पंक्तियों में 'छाड़ि कपट जंजाल' 'बिकार बिहाई' आदि पद ध्यान देने योग्य हैं।

नामापराध दूर करने के लिये नाम ही प्रधान साधन माना गया है।[1] नाम जपते रहने से कभी न कभी श्रद्धा विश्वास, प्रेम आदि उमड़ ही पड़ेंगे। इसीलिए गोस्वामी जी ने भाव, कुभाव, अनख आलस्य में भी नाम जपना मङ्गलप्रद बताया है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है। मन्त्रों की शक्ति प्रबल रहा करती है। "मन्त्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्व" (११९-४) आजकल के भौतिक विज्ञान वाले चाहे इस बात को न मानें परन्तु जब कि हम लोग आज दिन भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि सर्प-विष सरीखी भयंकर भौतिक वस्तु केवल मंत्रबल से न जाने कैसे सत्त्वहीन होकर अन्तर्धान हो जाती है तब कारण नहीं है कि हम मन्त्रों की शक्ति पर क्यों न विश्वास करें। गोस्वामी जी राम नाम को महामन्त्र कहते हैं और प्रत्यक्ष सिद्ध बताते हैं।[2] तब फिर यदि उन्होंने निश्चय के साथ

---

१. नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघं।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि हि॥
कल्याण भाग २ सं० ३ पृष्ठ १६०

२. महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥१४-१५
भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरे तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥विनय०।

कह दिया कि इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से दशों दिशाओं में मङ्गल होता है तो आश्चर्य की बात ही कौन सी है। दूसरे मन्त्रों के लिये कड़े-कड़े नियमों वाले अनुष्ठान चाहिए। इस नाम जप के सम्बन्ध में तो कहा गया है :—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः ।
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते ।।
कल्याण भाग २ संख्या १ पृष्ठ ८२

इसलिए गोस्वामी जी के समान श्रद्धालु लोकहितैषी का इस साधन पर बहुत अधिक जोर देना नितान्त स्वाभाविक था।

नाम महिमा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचार, जो कल्याण भाग २ संख्या १ पृष्ठ ९९ में हैं, देखने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं:—

"नाम की महिमा के बारे में तुलसीदास ने कुछ भी कहने को बाकी नहीं रखा है। द्वादशमन्त्र, अष्टाक्षर, इत्यादि सब इस मोहजाल में फँसे हुए मनुष्य के लिए शान्तिप्रद हैं इसमें कुछ भी शका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले उस मन्त्र पर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्ति का अनुभव नहीं है और जो शान्ति की खोज में है उसको तो अवश्य राम नाम पारस मणि बन सकता है। ईश्वर के सहस्र नाम कहे हैं। उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं गुण अनन्त हैं इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है परन्तु देहधारी के लिये नाम का सहारा अत्यावश्यक है। और इस युग में मूढ़ और निरक्षर भी राम नाम रूपी एकाक्षरमन्त्र का सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारण में एकाक्षर ही है। और ओंकार और राम में कोई फरक नहीं है। परन्तु नाम महमिा बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकती है श्रद्धा से अनुभवसाध्य है।"

चंचल मन अकसर एक ही मन्त्र पर बँधा नहीं रह सकता। जिस तरह जिह्वा छः रसों के लिये चटपटाती रहती है, उसी तरह मन भी नौ रसों के लिये लोलुप बना रहता है। इसलिए आचार्यों ने जप के साथ कीर्तन की भी व्यवस्था की है। कीर्तन में ईश्वर के गुणों और उनकी लीलाओं

का गान होने से हृदय को अनेकानेक रस मिलते हैं, भावों की उड़ान के लिये अनेकानेक अवसर मिलते जाते हैं, मनकुरग को चारों ओर चौकड़ी भरने और इस प्रकार उछल-कूद से अघाकर नामजप पर स्थिर हो जाने का स्थान मिलता है। गोस्वामी जी ने इसीलिए राम नाम का वृहत्संकरण रूप यह रामचरितमानस रचकर लोगों के सामने रख दिया। मानस क्या है इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि हृदय की सुमति में स्थित जो वेदपुराणादि सद्ग्रन्थ थे उनसे प्रेमभक्ति तथा सगुण लीला संयुक्त राम सुयश खींचकर सन्त लोगों ने उस रस द्वारा सुकृति की वृद्धि की है। वही सुयश हमारे श्रवणमार्ग से होकर हमारी स्मरणशक्ति द्वारा एकत्र किया गया है। और इस प्रकार हमारे हृदय में स्थिर होकर मानसरोवर के समान लहरा रहा है। इसी मानसरोवर से रामचरितमानस चर्चा रूपी सरयू निकल पड़ी हैं।[1] वे कहते हैं कि वे तो निमित्तमात्र के लिये कवि बन गये हैं, असल में तो शम्भु के प्रसाद से जो सुमति टलसी उससे रामचरितमानस आप ही आप बाहर लहरें मारने लगा है।[2] हम पहिले ही कह आये हैं कि उनका मानस भगवान् राम का वाङ्मय तनु है। इसलिए जो इस पर श्रद्धा और विश्वास रख कर इसका सहारा लेगा वह निःसन्देह भक्ति और मुक्ति सभी कुछ पा लेगा।[3]

---

१. देखिए मानस का सुर-सरि रूपक।

२. संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।। २२–१९

३. रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोगु।
रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिरागु जपु जोगु।।३२५-२३-२४
मुनि दुर्लभ हरिभगति पावहिं बिनहिं प्रयास।
जो यह कथा निरन्तर सुनहिं मानविश्वास।। ५०७–२३, २४
रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्वान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।।५०८-१७, १८

सत्सङ्ग

गोस्वामी जी ने सत्सङ्ग पर बहुत अधिक जोर दिया है। यही सब मुद मङ्गलों का मूल है।[१] मति कीर्ति गति भूति भलाई आदि जो कुछ प्राप्य वस्तुएँ हैं सब सत्संग के ही प्रभाव से मिलती हैं। लोक (सर्वसाधारण का वर्तमानकालीन अनुभव) और वेद (विशेषज्ञों का शास्त्रसिद्ध अनुभव) दोनों ही इस बात की साक्षी देते हुए कहते हैं कि सत्संग के अतिरिक्त दूसरा उपाय है ही नहीं।[२] सत्संग के बिना न तो विवेक का ही सम्यक् आविर्भाव होता है न संशयों का तिरोभाव होता है।[३] उसके बिना कोई भी मनुष्य न तो हरिकथा का रस ही प्राप्त कर सकता है और न उसे किसी तरह भक्ति ही मिल सकती है।[४] गोस्वामी जी वस्तुओं का सु अथवा कु होना, लोगों का ज्ञानी अथवा अज्ञानी होना तथा इस संसार में लाभ अथवा हानि का सब

---

१. सत संगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
४-२२

२. मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥
सो जानव सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥
४१९, २०

३. बिनु सतसंग विवेक न होई। ४२१—
तबहिं होहिं सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा।
४७०-२

४. बिनु सतसंग न हरि कथा। ४७०-७
सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई ॥
५०३-५

भगति सुतन्त्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
४७३-१७

सिलसिला क्रमशः सत्सङ्ग और असत्सङ्ग पर ही निर्भर करते हैं।[1] उनके मत में सत्सङ्ग से बढ़कर कोई लाभ और सुख नहीं ही है।[2] इन्हीं सब कारणों से उन्होंने अपनी भक्ति पद्धति के साधनों में सर्वप्रथम सम्मान सत्सङ्ग को ही दिया है।[3]

गोस्वामी जी के मत में स्वर्ग और अपवर्ग का समग्र सुख भी लव सत्संग की बराबरी नहीं कर सकता।[4] बात यह है कि सत्संग में तो आत्मा से आत्मा का मेल होता है और सत् के इस मेल से हमारी आत्मा की उत्क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है, इसलिए इसका लव परमाणु भी बाहरी सुखों से (ऐसे सुखों से जिनमें केवल भोग ही भोग है, आत्मा की उत्क्रान्ति की बात नहीं) बढ़कर ही है। फिर चाहे वे बाहरी सुख स्वर्ग और अपवर्ग के से ही क्यों न हों।

गोस्वामी जी कहते हैं कि सत्संगरूपी तीर्थराज में स्नान (भजन) करने से कौवा कोयल हो जाता है और बक हंस बन जाता है। इस स्नान का फल इसी काल में (इसी जन्म में) मिल जाता है। परलोक (मरणान्तर) का रास्ता देखने की जरूरत तक नहीं रहती।[5] जो वंश

---

१. ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होंहि कुवस्तु सुवस्तु जग लखहि सुलच्छन लोग।।७-१३, १४
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।। ३३५-१९
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू।।७-८

२. गिरिजा सन्त समागम सम न लाभ कछु आन।।५०७-१३
सन्त मिलन सम सुख कहुँ नाहीं।।५०३-२३

३. प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा।।३२०-१३

४. तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग। ३४७-११, १२

५. मज्जन फल देखिय ततकाला। काक होंहि पिक बकउ मराला।।
४-१५

और वृत्ति अर्थात् जन्म और कर्म दोनों दिशाओं में काला मनुष्य है वह सत्संग के प्रभाव से उज्ज्वल कर्मवाला बन जाता है—भीतर बाहर दोनों तरह से काला कौआ मधुरालापी (भीतर से उज्ज्वल) कोयल बन जाता है; और उज्ज्वल जन्म तथा कुत्सित कर्म वाला बक तुल्य मनुष्य भीतर बाहर से उज्ज्वल हंस की तरह हो जाता है।

सत् काअर्थ होता है परमात्मा, इसलिए सत्संग का अर्थ हुआ ब्रह्म-साक्षात्कार। सत् का दूसरा अर्थ है सज्जन, इसलिए सत्संग का अर्थ हुआ सज्जनों का संग। सत् का तीसरा मतलब होता है सतोगुणवर्धक पदार्थ, इसलिए सत्संग का अर्थ हुआ ग्रंथावलोकन, तीर्थसेवा आदि सद्विषयों की ओर प्रवृत्ति। गोस्वामी जी ने सत्संग से यद्यपि तीनों प्रकार का अर्थ लिया है तथापि विशेषरूप से वे सज्जनों के संग को ही सत्संग कहते हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र से भक्तिमाधुर्ययुक्त कथा-सुधा को निकाल कर सर्वसाधारण को बांटने वाले इस दुनिया में यदि कोई हैं तो सन्त सज्जन लोग ही हैं।[१] यदि भगवान् समुद्र हैं तो उसके मधुररस को सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर देने वाले मेघ हैं; यदि भगवान् अगम्य मलयज चन्दन हैं तो सन्त वह दक्षिणी वायु हैं जो उसका सौरभ लाकर सर्वत्र बिखरा देती है।[२] इसीलिये सन्तों की महमिा परमात्मा से भी अधिक कहीं गयी है। ऐसे सन्तों का सङ्ग परम वांछनीय है। भले ही वे मौन रहें, उनका अलक्षित प्रभाव सत्संगी जीव पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उनका प्रभाव हमारे हृदय में श्रद्धा और विश्वास की अवश्यमेव वृद्धि करता और इस प्रकार अलक्षित रूप से वह हमें नाम स्मरण के सच्चे रस का रसिक बना देता है।

---

१. ब्रह्म पयोनिधि मन्दर ग्यान सन्त सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़इ भगति मधुरता जाहि॥५०३-७, ८

२. राम सिन्धु धन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि सन्त समीरा॥
५०३, ४

सत्संग के लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है। एक तो विवेक की और दूसरे (वैराग्य के प्रधान आधार) पुण्यपुञ्ज (धर्माचरण) की। गोस्वामीजी कहते हैं पुण्यपुञ्ज के बिना तो सन्तों का मिलना ही सम्भव नहीं- और विवेक के बिना उनकी परख होना कठिन है। जब तक परख न होगी तब तक उनका संग्रह और त्याग कैसा ? और जब तक देख परख कर उनका संग्रह त्याग आदि न हो तब तक भवसन्तरण की चर्चा ही क्या है ?[1]

गोस्वामी जी ने सन्तों की सूची में न केवल साधुओं को वरन् कुछ देवताओं को, प्राचीन महात्माओं को, गुरु को, ब्राह्मणों को, मित्रों को, पितरों को, और यहाँ तक कि तीर्थ आदि सत्पदार्थों को भी, सम्मिलित कर लिया है। यदि सत्संग के लिये वास्तविक सन्त नहीं मिल रहे हैं तो ब्राह्मण ही सही, क्योंकि गोस्वामी जी के मत में सत्संग का आधार पुण्यपुञ्ज है और पुण्यपुञ्ज का आधार विप्रपूजा है।[2] यदि घर बैठे सन्त अथवा सत्पात्र ब्राह्मण नहीं मिल सकते हैं तो तीर्थ में जाकर हम सात्विक वातावरण का अनुभव करें। अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग, रामेश्वर, काशी और नैमिषारण्य की महिमा इसीलिए गोस्वामी जी ने जी खोलकर कही है। कोई

---

१. पुन्य पुञ्जबिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता।।
४६३-१८

अस विवेक जब देइ विधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता।।
७-१

तेहि ते कछुगुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।।६-११

सन्त असन्तन्ह के गुन भाखे। ते न परहिंभव जिन्ह लखि राखे।।
४६२-५

२. पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता।
पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्रपद पूजा।।
४६३-१८, १९

यह न समझ ले कि तीर्थ में स्नान करने मात्र से मुक्ति अथवा सत्संग का सर्वस्व मिल जायगा, इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं :—

तब रघुपति रावन के सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि जिमि तीरथ कर पापा[1] ॥[4]२२-२३,२४

यह उक्ति ठीक उसी प्रकार है जैसी नास्तिक ब्राह्मण के त्याग में निम्नलिखत उक्तियाँ :—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, सब मानियहि राम के नाते ॥
१९८-२२

जरहु सो सम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ ॥ २४२-६,

ऐसे कथन भी स्पष्टता घोषित करते हैं कि सत्संग का आधार विवेक और वैराग्य पर होना चाहिए तभी वह पूर्ण फलप्रद हो सकता है।

सत्संग के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने दो बातें बड़े मार्के की कही हैं। एक तो यह कि वह "मन लाई"[2] किया जाय और दूसरी यह कि यह

---

१. तीर्थ का पूरा फल तभी है जब वहाँ जाकर मनुष्य पापवासना ही छोड़ दे। यदि वह तीर्थ में भी अथवा तीर्थ करके भी पाप करेगा तो वे पाप और भी अधिक प्रचण्ड रूप से अपना फल दिखावेंगे। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है —

अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य गच्छति।
तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥
(वाराहपुराण-मथुरामाहात्म्य)

अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितं।
तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥
(मानसपीयूष लंकाकाण्ड ७६५ पृ०

२. जो नहाइ चह यहि सर भाई। सो सतसंग करउ मन लाई ॥
२४-१९

"बहुकाल" तक किया जाय।[1] यदि मन लगाकर बहुत समय तक सत्संग किया जाय तो उसका असर होना और हमें लाभ पहुँचना अवश्यंभावी है। "सन्त आध्यात्मिकता का सूर्य है जिससे ज्ञान की किरणें समस्त जगत् पर पड़ती हैं। जिन्होंने अश्रद्धा का आतपत्र नहीं धारण किया है (छाता नहीं ओढ़ा है) वे उनसे संजीवनी शक्ति खींच सकते हैं।"[2] यह संजीवनी शक्ति बात की बात में नहीं खिच आ सकती। वे बिरले ही भाग्यवान् हैं जो स्वल्प सत्संग से ही कृतकृत्यता प्राप्त कर लेते हैं। सामान्य जीवों के लिये तो यही उचित है कि वे सत्संग करते जायँ, करते जायँ। जब कि रस्सी के आने-जाने से कुएँ की जगत के पत्थर पर भी चिह्न पड़ जाते हैं[3] तब बहु काल तक सदात्मा के संघर्ष का असर हमारी आत्मा पर कैसे न होगा।

हमने इन तीन साधनों का जो विवेचन किया है उसमें इस बात का स्पष्ट संकेत है कि विवेक और वैराग्य पर टिके हुए सत्संग के द्वारा श्रद्धा विश्वासमूलक नामस्मरण की ओर रुचि होती है और उस ओर प्रवृत्त होने से हृदय में ऐसे भगवत्प्रेम की वृद्धि होती है जो निश्छलता और लोकसेवा के भावों से विरहित कदापि नहीं रह सकता।[4] सामान्यतः साधनों का

---

१. तबहिं होहिं सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा॥ ४७०-२

२. देखिए कल्याण के सन्तांक पृष्ठ ८६८ में बड़थ्वाल महोदय का लेख।

३. रसरी आवत जात तें सिल पर परत निसान॥ (कस्यचित्कवेः)

४. हमारी समझ में जैसा कि हम पहले कह आये हैं गोस्वामी जी कथित तीसरे प्रकार की अथवा यों कहिए कि प्रधान प्रकार की नवधा भक्ति यह है जिसके अंग हैं—(१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) सत्संग, (४) श्रद्धा, (५) विश्वास, (६) नामस्मरण, (७) निश्छलता (८) लोकसेवा, और (९) प्रभु-प्रेम।

यद्यपि यही क्रम देखा जाता है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस नियम का कोई अपवाद नहीं। वास्तव में ये सब साधन एक दूसरे का प्रवर्धन भी करते हैं और एक दूसरे से प्रवृद्ध भी होते हैं। इसलिए इन सब साधनों की एक साथ अथवा इनमें से किसी एक साधन को भली भाँति ग्रहण कर लेना कल्याणेच्छु साधक के लिये पर्याप्त है। इन सब साधनों में सब में सरल और सुलभ साधन है नामस्मरण अथवा राम नाम, जिसकी महिमा गाते हुए गोस्वामी जी ने कभी थकने तक का नाम नहीं लिया है।

अष्टम परिच्छेद

तुलसीमत की विशेषता

गोस्वामी जी ने अपने नाम से कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। यह उनकी सज्जनता थी, क्योंकि साम्प्रदायिकता में आखिर संकीर्णता आ ही जाती है। कबीर, नानक आदि सन्तों ने हिन्दू, मुसलमान आदि अनेक धर्मवालों को एक करने की चेष्टा की और परिणाम यह हुआ कि वे धर्म तो बने ही रहे साथ ही कबीरपन्थ, नानकपन्थ आदि नये पन्थ (सम्प्रदाय) और बढ़ गये। सब को समेट कर चलने की उत्कट इच्छा रखते हुए भी गोस्वामी जी ने कदाचित् इसीलिए न तो सम्प्रदायिक आचार्यत्व का प्रदर्शन करके अपनी कोई गद्दी ही चलाई और न खण्डन-मण्डन की शैली अपनाकर वे इधर-उधर दिग्विजय ही करते फिरे। उन्होंने कोई नयी बात कहने का दावा भी नहीं किया और जो कुछ कहा वह श्रुतिसम्मत ही कहा। उनकी नवीनता यदि कुछ थी तो वह केवल उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग में थी। परन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने जो सिद्धान्त रामचरित-मानस द्वारा सर्वसाधारण के सामने रख दिये हैं उन पर उन्हीं की अमिट छाप पड़ी हुई है। इसलिए यदि हम उन सिद्धान्तों के समूह को "तुलसी मत" कह दें तो किसी प्रकार अनौचित्य न होगा।

तुलसीमत एकदम श्रुतिमत है। इसलिए यह उन कल्पित मतों की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता, जिन्हें गोस्वामी जी ने अपने कलिधर्मवर्णन में खूब फटकारा है।[1] इस मत को ग्रहण करने के लिये न तो किसी प्रकार के

---

१. दंभिन्ह निजमत कलपि करि प्रगट किये बहु पन्थ।।४८७-१३
मारग सोइ जो कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।।
४८७-१७ आदि

साम्प्रदायिक विधि-विधान की आवश्यकता है और न अपने परम्परागत धर्म अथवा सम्प्रदाय को ही त्यागने की जरूरत है। इसीलिए तुलसीमत एक सुश्रृंखलित मत होकर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता को अखिल भारतीय संस्कृति की नस-नस में प्रविष्ट कराके सार्वभौम भाव से इस प्रकार विराज रहा है कि सर्वसाधारण को गुमान तक नहीं होता कि तुलसीमत नाम का भी कोई सम्प्रदाय हो सकता है।

तुलसीमत जिस उद्देश्य को सामने रखकर प्रचारित हुआ है उसी उद्देश्य को लेकर रामकृष्ण मिशन के सज्जन, थियासाफी के प्रेमीगण, आर्य समाज के कार्यकर्त्ता महोदय, आदि आदि अपनी-अपनी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु उनके सिद्धान्तों को वह लोकप्रियता नहीं मिल पाई है जो तुलसीमत को मिली है। इसका प्रधान कारण यह है कि तुलसी मत न केवल स्वतः बहुत उत्तम तत्त्व है वरन् वह बहुत उत्तम ढंग से कहा भी गया है।

तुलसीमत के तत्त्वों का विवेचन तो हम पिछले परिच्छेदों में पर्याप्त रूप से कर ही आये हैं। इसलिए इस परिच्छेद में उसके प्रकाशन के ढंग पर ही प्रकाश डालना सर्वथा समुचित जान पड़ता है। फिर भी सारांश रूप से यदि तत्त्वविवेचन की चर्चा करते हुए हम इस मत की महत्ता पर भी कुछ कह दें तो अनुचित न होगा। उत्तम विषय का पिष्टपेषण सर्वथैव अवांछनीय नहीं रहा करता।

तुलसीमत की महत्ता के तीन प्रधान कारण हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१. उसमें बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर सामञ्जस्य है

पण्डितम्मन्य जीव अपना तर्क भिड़ाए बिना किसी बात को स्वीकार कर लेना नहीं चाहते। जब यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक बढ़ जाती है तब सत्सिद्धान्तों का भी खण्डन करके अपनी ही बात पर अड़े रहना उन्हें आह्लादकर जान पड़ता है। ऐसे तर्क का नाम है दुष्ट तर्क अथवा कुतर्क। यह तर्क व्यक्ति और समाज दोनों ही दृष्टियों से हेय है। सत् तर्क सदैव प्रशंसनीय है क्योंकि तत्त्वज्ञान इसी तर्क के द्वारा होता है। यदि

भक्ति और भगवान् के मामलों में तर्क का कोई स्थान ही न हो तो अपनी अपनी समझ के अनुसार मतमतान्तर स्थापित करने वालों में लट्ठबाजी होते रहना अनिवार्य हो जायगा। यही नहीं, पंडा पुजारी पुरोहित पीर पादरी आदि का बाहरी बाना धारण करने वाले ढोंगी व्यक्तियों को अपने दंभाचार के प्रचार का पूरा अवसर भी मिलता रहेगा। स्नान, पूजा-पाठ आदि के बाह्य आचारों में सर्वसाधारण का मन खींचने की अच्छी शक्ति रहती है, परन्तु मठ मूर्ति मन्दिर महन्त देश वेष आदि की ऐसी बाहरी बातों ही को सब कुछ मान बैठना और इनके चक्कर में पड़कर 'मैं ब्राह्मण हूँ तू शूद्र है; मैं शुद्ध हूँ तू अशुद्ध है; मैं चक्रांकित दीक्षित हूँ तू निगुरा है' इत्यादि कथन ही को परमधर्म समझ बैठना नितान्त विवेकहीनता है। तुलसीमत में ऐसी विवेकहीनता को कहीं स्थान नहीं है। गोस्वामी जी तो मुक्ति अथवा भक्ति के लिये बाह्य साधनों की अनिवार्यता स्वीकार ही नहीं करते।

तुलसीमत के बुद्धिवाद की विशेषता यह है कि उसने अद्वैतमत को भली भांति अपना लिया है। विचारों की संकीर्णताएँ यदि किसी दार्शनिक सिद्धान्त द्वारा भली भांति दूर की जा सकती हैं तो वह अद्वैत सिद्धान्त ही है। बुद्धि को पूर्ण सन्तोष यदि मिल सकता है तो अद्वैत सिद्धान्त से ही। नास्तिकों को यदि कोई मुंहतोड़ उत्तर देकर भगवान् की सत्ता का निश्चय करा सकता है तो वह अद्वैत सिद्धान्त वाला ही है। अद्वैत सिद्धान्त के द्वारा ही हम राम, रहीम और गॉड की एकता स्थापित कर सकते हैं। सायुज्य मुक्ति इसी सिद्धान्त की खास चीज है। इस मलायतन संसार की अपूर्णताओं पर यदि हम पूर्ण विजय प्राप्त कर सकते हैं तो इसी सिद्धान्तके सहारे। यदि हम अद्वैत को विशिष्ट ही समझें रहें या द्वैत बनाये रहे तो संसृतिचक्र से पूर्णरूप से हटना किस प्रकार सम्भव होगा? जहाँ संसृतिचक्र है वहाँ पाप ताप कभी न कभी अपना प्रभाव दिखा ही देंगे। इसलिए अद्वैत मत ही से चित्त का पूर्ण समाधान होता है। शंकराचार्य की भांति गोस्वामीजी भी भक्ति को मुक्ति की स्थिरता का प्रधान साधन मानते हैं। यदि अन्तर है तो केवल

इतना ही कि शंकराचार्य विशेषतः मुक्ति के लिये ही भक्ति की व्यवस्था देते हैं और गोस्वामी जी—भक्तिमाधुर्य के लिये ही भक्ति करना अच्छा बतलाते हैं। जो लोग भगवत् प्रेम के आनन्द ही में मस्त रहकर अपने व्यक्तित्व का—अपने अहंकार का—एकदम विगलन नहीं कराना चाहते वे भी धन्य ही हैं क्योंकि वे आखिर माया के दुःखमय अविद्यारूप से तो मुक्त हो ही चुकते हैं। उनका अस्तित्व यदि स्वतः उनके कल्याण के लिये नहीं तो जगत्कल्याण के लिये अवश्य आवश्यक है। यह ठीक है कि भक्ति माया का एक अंग कही जा सकती है[1] और परमात्मा का सगुण व्यक्तित्व—उनका अवतार—"अनध्यस्त विवर्त है,"[2] इसलिए जीव का अन्तिम आदर्श निर्गुण ब्रह्म ही है और अन्तिम ध्येय मुक्ति ही है; परन्तु यह भी तो ठीक है कि अनध्यस्त विवर्त के सहारे हमको तत्त्वबोध हो ही जाता है और भक्ति के सहारे हमें मुक्ति "अनइच्छित" "बरिआई" मिल ही जाती है। इसलिए गोस्वामी जी ने यदि भक्ति को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे अद्वैत सिद्धान्त से हट गये हैं।

कारपेण्टर महोदय का आक्षेप है कि भारतीय दार्शनिकों की भांति गोस्वामी जी ने भी पाप के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया।[3] तुलसीमत का बुद्धिवाद ही कैसा यदि यह प्रश्न अछूता[3] छूटा रहता। गोस्वामी जी ने स्पष्ट ही लिखा है:—

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करमफल दाता॥

४६२–१,२

---

१. हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ विहंगवर॥

४७८-६, ७

२. देखिए चतुर्थ परिच्छेद।

३. देखिए पृष्ठ १९७।

गोस्वामी जी ने पाप को रोग कहा है और मोह को उन सब रोगों का मूल बताया है (देखिए मानस रोग प्रकरण)। इसलिए परम सद्वैद्य की भांति वे विशिष्ट रोगों को नहीं वरन् सभी रोगों के मूलकारण को ही भली भांति स्पष्ट कर रहे हैं और उसके नष्ट करने का उपाय बता रहे हैं। रक्तविकार वाले मनुष्य के शरीर में उत्पन्न होते रहने वाले व्रणों की अलग-अलग चिन्ता करने के बदले यही सदैव अच्छा है कि उसके रक्तविकार को ही दूर करा देने की चिन्ता की जाय। रक्तविकार दूर करने की चेष्टा करते ही वे फोड़े आप ही आप अच्छे होने लगेंगे। इस मलायतन नश्वर संसार महा-मोह का विध्वंस करके पराशान्ति (पापतापहीनता) किस प्रकार प्राप्त कर ली जाय, इसी प्रश्न के ऊहापोह में तो तुलसीमत का समूचा बुद्धिवाद लगा हुआ है।

हृदयवाद की पहली विशेषता है अभिलषित विषय की ओर लगन। उसकी दूसरी विशेषता है इस लगन की बाधक परिस्थितियों में भी अविचलता। उसकी तीसरी विशेषता है प्रतिकूल विषयों के परित्याग के लिये पर्याप्त मनोबल। गोस्वामी जी के हृदयवाद की पहिली दो विशेषताएँ अनुराग के विवेचन में और तीसरी विशेषता वैराग्य के विवेचन में स्पष्ट ही परिलक्षित हो रही है।

गोस्वामी जी कहते हैं कि अपने भगवान की ओर लगन ऐसी पक्की हो जैसी कामी, लोभी और अविवेकी की कामिनी, काञ्चन और अपने शरीर की ओर रहती है।[1] वे विघ्नों से ठीक उसी प्रकार अविचलित रहने की बात कहते हैं जिस प्रकार चातक अपने ही प्रेमपात्र की "जफ़ाकारियों"—वज और ओले की मारों—से अविचलित रहा करता है। वे तो कहते हैं कि तपने से जिस प्रकार सोने से दमक दूनी होती जाती है उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों का सन्ताप पाकर प्रेम के रंग में भी दूनी चमक आनी चाहिए।[2]

---

१. देखिए पृष्ठ ५१० पंक्ति ३, ४ और पृष्ठ २२५ पंक्ति ४।

२. देखिए पृष्ठ २४९ पंक्ति १९ से २१।

रामभक्ति के बाधक जितने पदार्थ हैं उन सबसे मुंह मोड़ लेने में उन्हें जरा भी हिचक नहीं।[१] अर्थ, धर्म और काम की बात ही क्या है वे तो निर्वाण तक को ठुकरा देने की क्षमता रखते हैं।[२] जिस विषय को ग्रहण किया उसे अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में अभिन्न बनाये रखना और उनके प्रतिकूल विषयों को दूर रखने के लिये सदैव तत्पर रहना गोस्वामी जी के हृदयवाद में ओतप्रोत हैं।

हृदयवाद की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है जीव के "सहज स्नेह" की चरितार्थता। जीव पूर्णत्व की ओर आकृष्ट होकर या तो सग्रह का मार्ग अपनाता है या त्याग का। वह या तो व्यष्टि अथवा स्वार्थ मार्ग से परमार्थ प्राप्त करना चाहता है या समष्टि अथवा परार्थ के मार्ग से। कुछ जीव ऐसे भी हैं जो सग्रह और त्याग का अथवा स्वार्थ और परार्थ का सामञ्जस्य भी कर लेते हैं और इस प्रकार सर्वतोमुख भाव से "सहज स्नेह" को चरितार्थ करते हैं। "स्व" की ओर तो हर कोई आसानी से झुक जाता है इसलिए केवल आत्मकल्याण की चिन्ता करने वालों में वह खूबी नहीं जो आत्मकल्याण को लोक-कल्याण का एक अंग मानकर अखिल लोक के कल्याण की चिन्ता करने वालों में है। ऐसे ही लोगों का सहज स्नेह विशेष प्रशंसनीय माना जाता है। हमारे हृदय में लोककल्याण का आदिम भाव "समवेदना" के रूप से प्रकट होता है। वह समवेदना अथवा सहानुभूति हृदयवाद की परम सुग्राह्य विभूति है और जिस महापुरुष में इसकी जितनी अधिक मात्रा होगी वह अवतार कोटि के उतने ही समीप समझा जायगा। गोस्वामी जी के हृदयवाद में समवेदना का यह दिव्यभाव परम उज्ज्वल मणि की भांति देदीप्यमान है। उनका "स्वान्तःसुख' उसमें है जिसके "कहत सुनत सब कर हित होई"। "पर उपकार वचन मन काया" को "सन्त सहज सुभाव" समझते हैं। लोककल्याण की भावना ही तो रामचरितमानस में आदि से

---

१. देखिए पृष्ठ ३३१ पंक्ति १६, १७।

२. देखिए पृष्ठ २४२ पंक्ति १५, १६।

अन्त तक जगमगा रही है। गोस्वामी जी के हृदय की महत्ता व्यक्त करने के लिये इतना लिखना ही पर्याप्त है।

महात्मा तुलसीदास जी बुद्धिवाद और हृदयवाद के विशुद्धतम रूप को ही प्रकट करके नहीं रह गये हैं, वरन् उन्होंने उन दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य भी किया है। तर्क और श्रद्धा का तथा विरक्ति और आसक्ति का जैसा समन्वय उन्होंने किया है वह हम पहिले लिख ही आये है। यह उन्हीं की खूबी है कि उन्होंने जहाँ एक ओर सर्वोत्कृष्ट हृदयवाद को विवेक से सुदृढ़ आसन पर संस्थापित कर रखा है वहाँ दूसरी ओर चरम सीमा तक पहुँचे हुए बुद्धिवाद को वे वैराग्य की अचल, अटल नींव से हिलने नहीं देते।

लोकधर्म में जो आवश्यकता विवेक की है वही वैराग्य की भी है। वही धर्म विश्वधर्म कहा जा सकता है जो वैराग्य पर स्थित हो। वैराग्य के बिना विश्व में पक्की शान्ति स्थापित हो नहीं हो सकती। यदि हर एक मनुष्य ईश्वर की सहायता से, अथवा योगमार्ग इत्यादि के द्वारा अपनी ही बढ़ी हुई शक्ति की सहायता से, सुखसम्पत्ति, ऐश्वर्य विभूति समेटना प्रारंभ कर दे तो फिर बाकी लोगों का क्या हाल हो? कोई तो ऐश्वर्यशाली स्वामी हो जाय और कोई साधनहीन सेवक बनने के लिये बाध्य किया जाय। विज्ञान की वर्तमान वृद्धि यही दिशा तो दिखला रही है। जापान यदि अपनी ओर सब कुछ समेट लेना चाहता था तो इटली अथवा जर्मनी अपनी ओर। इसका परिणाम हुआ संहार और विनाश। रावण के समान तपस्वी तथा याज्ञिक और कौन होगा, परन्तु उसका तप और उसके यज्ञ याग उसकी ऐश्वर्यवृद्धि और अजेयता के लिये थे इसलिए उसके द्वारा जगत् में संकट ही उपस्थित हुआ और अन्त में भगवान् को उसके यज्ञ का विध्वंस कराना पड़ा। जो व्यक्ति अनासक्ति योग द्वारा धर्माचरण करता है—विषयों में वैराग्यशील रह कर कर्तव्य कर्म करता है—वही सच्चा धार्मिक है। यह वैराग्य हृदयवाद की विशिष्ट वस्तु है। परन्तु ऐसा वैराग्य भी यदि विवेक की आँच में तपाया जाकर खरा न कर लिया जाय तो वह हमारे लिये भ्रामक सिद्ध हो सकता है। वैराग्य का यह अर्थ नहीं है कि अपने कल्याणमय और

अभावहीन जीवन से ही विरक्ति कर ली जाय। दुःखों और संकटों का आह्वान करना वैराग्य नहीं और न उनसे त्रस्त होकर भाग निकलना ही वैराग्य है। अपने जीवन को सुदृढ़ बनाना और अपनी परिस्थिति को अपने वास्तविक उत्कर्ष के अनुकूल बनना तो प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होना चाहिए। निष्क्रियता और वैराग्य में बड़ा अन्तर है। मुर्दे की शान्ति और जीवन-मुक्ति की शान्ति में आकाश-पाताल का सा भेद है। हमारे लिये वही वैराग्य उपयुक्त है जो हमें जीवनमुक्त की सी शान्ति दे न कि मुर्दे की सी। हमें तो वह वैराग्य चाहिए जो लोकसेवा का साधन बनकर रहे। जगत् राममय है इसलिए लोकसेवा ही सच्ची रामसेवा है। परन्तु यह भली भाँति तभी सम्भव है जब मनुष्य विषयसुखों की आशाएँ छोड़ दें। ऐसे धर्मशील व्यक्ति के पास विषयसुख और सम्पत्तियाँ ठीक उसी प्रकार आप ही दौड़ी चली आवेंगी जिस प्रकार समुद्र के पास बिना बुलाए नदियाँ दौड़ी चली आती हैं।

बुद्धिबल कितना भी प्रबल हो, फिर भी वह हृदयबल की अपेक्षा न्यून ही कहा जायगा। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि "बुद्धिबल से हृदय वल सहस्रशः अधिक है।"[१] मनुष्य अपने बुद्धिबल के सहारे भले ही अद्वैत सिद्धान्त स्थिर करले, युगधर्म सरीखी अनमोल बातें ढूढ़ निकाले, लोकसेवा के समान परम धर्म निश्चित कर ले, परन्तु यदि उसके पास हृदयबल नहीं है तो वह निकम्मा ही बना रहेगा। शैतान भी वेदतत्त्व पर लम्बी स्पीच झाड़ सकता है। दुर्योधन ने इसीलिए तो स्पष्ट कहा है कि "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।" जिसके पास हृदयबल है गौतम बुद्ध की तरह उसे रोग, वृद्धत्व और मृत्यु के केवल एक ही एक उदाहरण पर्याप्त हैं। स्वल्प उत्तेजना से ही वह अद्वितीय कर्मयोगी और लोकोपकारी बन सकता है। परन्तु सद्विवेकहीन हृदयवाद भी खतरे से खाली नहीं है। लोकसेवा ही की बात देखिए—यदि वह कोरे हृदयवाद की प्रेरणा का परिणाम होगी तो लोकसेवक के हृदय में जनता की उपेक्षा को सहन कर सकने

---

१. धर्मपथ पृष्ठ १२१।

की शक्ति कदापि न प्रदान कर सकेगी। हम जिस जनता की सेवा करना चाहते हैं, वही कई अवसरों पर हमारे विरुद्ध हो जाती है। हमें कई अवसरों पर शान्ति की रक्षा करते-करते शान्ति ही का संहार करने को बाध्य होना पड़ता है। ऐसे अवसर पर हमारा विवेक ही हमारे काम आता है जो बताता है कि लोकसेवा का मूल केवल साम्यवाद सरीखे सिद्धान्तों में ही नहीं है वरन् वह प्रभुप्रेम सरीखे अटल सिद्धान्त में है। गोस्वामी जी ने अपने मत में हृदयवाद और बुद्धिवाद का जैसा सुन्दर सम्मिश्रण किया है वह देखने, परखने और अनुभव करने की वस्तु है।

२. वह सनातन हिन्दू धर्म का विशुद्ध रूप है

समुद्र की विशालता से प्रभावित होकर भर्तृहरि जी ने कहा है:—

> इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा—
> मितश्च शरणार्थिनः शिखरिपत्रिणः शेरते।
> इतोऽपि बडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
> रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिंधोर्वपुः॥

ठीक यही हाल हिन्दूधर्म का है। न जाने कितने मतमतान्तर इस "वितत ऊर्जित और भरसह" धर्म के अन्दर समाये हुए हैं। जब कि महाभारत के समय भी —

> श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्नाः
> नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
> महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

की घोषणा करनी पड़ी थी तब आज दिन, जबकि नये-नये पन्थों की संख्या सीमा को भी पार सी कर गयी है, संक्षेप में इस विशाल हिन्दू धर्म के किसी शृंखलित रूप की चर्चा कर देना प्रायः असम्भव ही है। आस्तिक, नास्तिक, निराकारवादी, साकारवादी, साधुमतवाले, लोकमतवाले, वाममार्गी,

दक्षिणमार्गी, लोकपन्थी, वेदपन्थी आदि, आदि न जाने कितने विभिन्न सम्प्रदाय से ओतप्रोत होकर यह धर्म अनिर्वचनीय-सा बन गया है।

महर्षि वेदव्यास ने भी इसकी विभिन्नताएँ देखकर सभी सम्प्रदायों के अन्तिम ध्येय की ओर लक्ष्य रखते हुए कहा है:— —

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग् धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः॥

(महाभारत, भीष्मस्तवराज)

भारतीय आचार्यों ने धर्म का व्यापक अर्थ लिया है। अपने-अपने धर्म के बिना वस्तु का वस्तुत्व ही स्थिर नहीं रह सकता। अग्नि का धर्म है दाहिकाशक्ति और मनुष्य का धर्म है मनुष्यता। यदि दाहिकाशक्ति हट जाय तो अग्नि का अग्नित्व ही न रहे। यदि मनुष्यता चली जाय तो वह मनुष्य एक द्विपद पशु मात्र रह जावे। यह मानव-धर्म ही भारतीय भाषा और भारतीय भावों के द्वारा व्यक्त होकर सनातनधर्म के नाम से अभिहित हुआ है। इस धर्म का कोई एक आचार्य नहीं। यह तो मानव समाज की आदिम अपस्था से लेकर अब तक विकसित होता और विभिन्न धर्मप्रवर्तकों के तत्त्वों को आत्मसात् करता चला आ रहा है। इसीलिए यह सनातन धर्म कहाता है। प्रगतिशील-संसार की नूतन परिस्थिति में जब कभी इसके कोई पुरातन सिद्धान्त अनुपयोगी सिद्ध होते हैं तभी उनके तिरोभाव का क्रम प्रारम्भ हो जाता है और जिन लोगों ने ऐसे सिद्धान्त के कारण ही सनातन धर्म को हेय मानकर इसके विरोध में अपना नूतन पन्थ चलाने की चेष्टा की थी, उन्हीं के चलाये हुए धर्म को (सम्प्रदाय को) अपना ही एक अंग बनाकर वह फिर भी पूर्व की भाँति जीता जागता रहता है। सनातन हिन्दू धर्म की ऐसी विशालता का यही प्रधान कारण है।

सनातन हिन्दू धर्म में भारतीय संस्कृति (परिस्थिति) और मानव धर्म दोनों का मेल है। भारतीय संस्कृति (परिस्थिति) के कारण तो वह हिन्दू-राष्ट्रीयता स्थापित किये हुए है और मानवधर्म के सिद्धान्तों के कारण यह इतने-इतने आघात सहकर भी अमर बना हुआ है। संसार के आगे

इसकी वास्तविक महत्ता भारतीय संस्कृति (भारतीयता की विशेष परिस्थिति) के कारण नहीं किन्तु मानवधर्म के कारण है। यह मानव-धर्म जिस खूबी और गहराई के हाथ सनातन हिन्दूधर्म में व्यक्त हुआ है देखने और समझने की वस्तु है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवकु सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ॥
३२९-१६, १७

इतना ही नहीं, वे इस निश्चय के अनुसार अखिल संसार के जड़चेतन सभी पदार्थों को सम्मान देते हुए कहते हैं:—

जड़ चेतन जग जीवजत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पदकमल सदा जोरि जुग पानि ॥७-१७, १८
आकर चारि लाख चौरासी। जात जीव नभ जल थल वासी॥
सीय राय मय सब जग जानी। करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥
७-२१, २२

इन विचारों वाला व्यक्ति निश्चय ही 'सचराचर रूप' 'भगवन्त' की सेवा में प्रवृत्त होकर यदि एक ओर "सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई॥" (४६३-२४) धारण करेगा तो दूसरी ओर "उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।" (४९७-१४,१५) के तत्त्व को समझता हुआ मानवेतर जीवों को भी अपने स्वार्थ के लिए उत्पीड़ित न करना चाहेगा और सादगीवाले जीवन के साथ त्यागपूर्ण मार्ग में अभिरुचि रखेगा। यही हिन्दूधर्म का परम महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

वास्तविक मानवधर्म के साथ ही साथ भारतीय वातावरण के अनुसार जो बहुत सा व्यावहारिक धर्म इस सनातन हिन्दू धर्म में समाविष्ट हो गया है, उसमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन आवश्यक रहा करता है। तुलसी मत की खूबी यह है कि व्यावहारिक धर्मों के ऐसे परिवर्तनों की ओर पर्याप्त प्रेरणा रहते हुए भी खण्डन-मण्डन का बवण्डर नहीं उठाया गया है।

एक उदाहरण देखा जाय। व्यावहारिक धर्म में प्रधान समझे जाने वाले "रोटी और बेटी" (भोज और विवाह या आहार और विहार) के प्रश्नों का मूल है जाति भेद की प्रथा। गोस्वामी जी को अभीष्ट था कि सभी जीव "राममय" समझे जाकर समाज-पुरुष के आवश्यक और उपयोगी अंग माने जायँ। उनमें जाति गत वैषम्य अमिट न माना जाय। इस बात के लिए उन्होंने जहाँ एक ओर ब्राह्मणों की महिमा बताते हुए "अब जनि करेहि विप्र अपमाना। जानेसु सन्त अनन्त समाना" (४९४-१८) कहा है, वहाँ दूसरी ओर शूद्रों को—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥
२४५-१८, १९

कोटि विप्रवध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥३६३-१०
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानइँ एक भगति कर नाता ॥
३२०-९

आदि बातें कहकर यह बता दिया है कि वे हरिजन यदि आस्तिक हैं तो ब्राह्मण के अपमान की कौन कहे, ब्राह्मण के वध के पाप से भी मुक्त हो सकते हैं और ब्राह्मणों के बराबर ही सम्मान्य माने जा सकते हैं। इस कथन में प्रत्यक्षतः जातिभेद की वर्तमान प्रथा के विरुद्ध कोई तीखी उक्ति नहीं है तथापि यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी के मतानुसार जन्मना चाहे वर्णवैषम्य, कुलवैषम्य, जाति वैषम्य आदि आदि हो भी जाय परन्तु कर्मणा हर कोई व्यक्ति उच्चातिउच्च वर्ण, कुल अथवा जातिवाले व्यक्तियों की बराबरी पा सकता है। व्यावहारिक धर्म की दूसरी प्रधान देन है सनातन हिन्दू धर्म का बाह्याचार। प्रत्येक महान् धर्म में तत्त्वज्ञान, आस्तिकता और बाह्याचार के स्पष्ट दर्शन हो सकते हैं। तत्त्वज्ञान तो सभी धर्मों में प्रायः एक सा है। आस्तिकता भी प्रायः एक सी ही है यदि अन्तर है तो केवल नाम रूप आदि की कल्पनाओं में। बाह्याचार अवश्य अपने-

अपने देश की परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग हैं।[1] किसी को मन्दिर पसन्द है, किसी को मसजिद और किसी को गिरजा। कोई अजान देना पसन्द करता है कोई शंख बजाना और कोई घण्टे की गूंज उत्पन्न करना। गोस्वामी तुलसीदास जी के समय सनातन हिन्दू धर्म के बाह्याचारों पर चारों ओर के विषम आघात हो रहे थे। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने युग-धर्म की चर्चा करके बाह्याचारों को जिस खूबी से अन्य युगों के धर्म बताकर इस युग के लिए सदाचारमूलक नामस्मरण की प्रधानता रख दी है वह देखने और अनुभव करने की वस्तु है। उनके कथन में न तो खण्डन-मण्डन और विरोध के झंझट ही उठने पाये और न धर्मान्धिता का ही अथवा गतानुगतिकता का ही कोई सवाल रह गया।

वेदानुकूल शब्दों और भावों के द्वारा ही मानवधर्म की चर्चा करके तथा रामावतार पर पूर्ण निष्ठा प्रकट करते हुए गोस्वामी जी ने सनातन हिन्दू धर्म के भारतीय संस्कृति वाले अंश की भी पर्याप्त रक्षा की है। इस विषय पर हम विस्तार के साथ लिख आये हैं। इसलिए यहाँ संकेतमात्र पर्याप्त है।

तुलसीमत न केवल मानवधर्म और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ बातों को ही समटे हुए है वरन् वह गीता से लेकर गांधीवाद तक समग्र धर्म-प्रवर्त्तकों के सत्सिद्धान्तों को भी अपनी गोद में खिला रहा है। गीता का अनासक्तियोग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का जप, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्तिभावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतभाव, मध्व की रामोपासना, वल्लभ का बालरूप आराध्य, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाममाहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्मसमाज की ब्रह्मकृपा, आर्यसमाज का आर्य संगठन और गांधीवाद की

---

१. डाक्टर भगवानदास महोदय ने अपने "दी यूनिटी इन एशियेंटिक थाट" नामक निबन्ध में विभिन्न धर्मों के इन बाह्याचारों में भी बहुत साम्य दिखाया है।

सत्य अहिंसामूलक आस्तिकतापूर्ण लोकसेवा आदि आदिसभी कुछ तो उसमें है ही, साथ ही मुसलमानों का मानवबन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा कारुण्य से पूर्ण सदाचार भी उसमें क्रीड़ा कर रहे हैं।

इन्हीं सब कारणों से तुलसीमत सनातन हिन्दूधर्म का विशुद्ध रूप बनकर सभी सम्प्रदाय वालों के लिये सम्मान्य हो रहा है।

३. वह नकद धर्म है

स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक व्याख्यान में नकद धर्म और उधार धर्म की सुन्दर विवेचना की है। जिस धर्म का प्रत्यक्ष फल हमें इसी जन्म में न मिले वह उधार धर्म है। अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में इस लोक के कर्तव्यों को भुला बैठना बुद्धिमानी नहीं। वह उधार धर्म की बात है। गोस्वामी जी ने इसीलिए स्वर्ग के लालच को कभी प्राधान्य नहीं दिया। उनका धर्म एकदम नकद धर्म है, क्योंकि वह न केवल सदाचारमूलक है। वरन् उसमें साधुमत और लोकमत का सुन्दर सम्मेलन भी है। उसका प्रचार ही लोकहित की दृष्टि से किया गया है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि "गोस्वामी जी की श्रुतिसम्मत हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शील है।" और "शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है"। (तुलसी ग्रन्थावली तृतीय भाग पृष्ठ १३८)

लोकहित के लिये गोस्वामी जी का तरीका भी साम्यवादियों अथवा क्रान्तिकारियों का सा नहीं है। यद्यपि वे नास्तिक को भी अपने मत में पर्याप्त आश्रय दे देते हैं, तथापि उनकी लोकसेवा आस्तिकता से भिन्न नहीं। वे केवल हृदय की प्रेरणा से ही लोकसेवा की ओर नहीं झुक रहे हैं, वरन् उसमें बुद्धि की प्रेरणा का भी पर्याप्त योग दे रहे हैं। वे लोकसेवा को विभुसेवा का सर्वप्रधान अंग बताते हुए उस विभु के नाते, अपने विरोधी व्यक्तियों अथवा सिद्धान्तों का भी उसी सौम्यभाव से स्वागत करने को तैयार है।

अपने आचार में परिस्थिति के अनुकूल किस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिए, इधर-उधर के लोगों की बातें छोड़कर अपने ही पास 'सचराचर' रूप से किस प्रकार भगवान् को देख लेना चाहिए, भक्ति के आनन्द के ही लिये किस प्रकार "सब तज हरिभज" वाला सिद्धान्त ग्रहण करना चाहिए लोकमत की चरितार्थता और पारस्परिक संगठन के लिये किस प्रकार सत्संग सरीखे सुन्दर उपायों का अवलम्ब लेना चाहए, तथा संसार सेवा को ही विभुसेवा का प्रधान रूप मानकर किस प्रकार व्यवहार और परमार्थ को एक कर लेना चाहिए आदि-आदि बातों की चर्चा करके गोस्वामी जी ने अपने मत को स्पष्ट ही नकद धर्म बना दिया है।

तुलसीमत की उत्तमता पर इतना ही लिखकर अब हम उसकी उक्ति के उत्तम ढंग पर कुछ प्रकाश डाल देना चाहते हैं। गोस्वामी जी के कथन का ढंग इतना महत्त्वपूर्ण है कि यह कहना कठिन हो जाता कि उनकी ऐसी असामान्य लोकप्रियता का कारण उनका तुलसीमत है अथवा उनका काव्य-कौशल। बड़थ्वाल महोदय कहते हैं कि "मनःप्रवृत्ति के क्षेत्र में जो उपासना है, अभिव्यंजना के क्षेत्र में वही साहित्य हो जाता है"। (देखिए कल्याण भाग ९ संख्या ४ पृष्ठ ८३६)। इस सिद्धान्त के अनुसार तो गोस्वामी जी की परम भावुकता ने दोनों क्षेत्रों में कमाल किया है। उसने उन्हें न केवल परम भक्त ही बनाया वरन् परम कवि भी बना छोड़ा और इन दोनों के सुन्दर सामंजस्य ने ही तुलसीमत के ऐसे अपूर्व लोकरंजक रूप की सृष्टि की है। गोस्वामी जी की कला पर बहुतों ने बहुत कुछ लिखा है और अब भो उस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। हमारे निबन्ध का विषय दूसरा है, इसलिए हम तो उस कला के कतिपय प्रधान अंगों का परिचय मात्र ही दे सकेंगे और वह भी तुलसीमत की विशेषता का दिग्दर्शन कराने के नाते।

क्विनाइन में रोग नाशक शक्ति है अवश्य, परन्तु वह तब तक सुग्राह्य नहीं होती जब तक उस पर शक्कर की लपेट न लगाई जाय। इसी प्रकार सनातन हिन्दू धर्म का सारभूत सिद्धान्त गोस्वामी जी की कला की लपेट

पाकर ही इतना सुग्राह्य हो उठा है। गांधी जी ठीक ही कहते हैं कि "भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने बहुत अधिक भाग लिया है। तुलसीदास के चेतनमय रामचरितमानस के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत् और शुष्क बन जाता। पता नहीं कैसे क्या हुआ, परन्तु यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास जी की भाषा में जो प्राणप्रद शक्ति है वह दूसरों की भाषा में नहीं पाई जाती।" (धर्मतत्त्व पृष्ठ ७५)

गोस्वामी जी की उक्ति की उत्तमता को हम दो भागों में विभक्त करते हैं। पहिला भाग है काव्य और दूसरा है इतिहास अथवा कथा। काव्य के कारण लोकोत्तर आनन्द मिलता है जिससे वर्ण्य विषय रोचक हो उठता है और कथा की लपेट के कारण तत्त्वबोध सुग्राह्य हो जाता है। इन दोनों से मुक्त होकर तत्त्व चिन्तन की आध्यात्मिकता उभरे तभी रचना की पूरी सार्थकता है। कबीर की पद्धति में तत्त्व के साथ काव्य की (विशेषकर छायावाद के से काव्य) की प्रधानता थी, सूर की पद्धति में काव्य के साथ इतिहास (कथानक) की। चन्द आदि कवियों की वीरगाथा-पद्धति में अध्यात्मिकता का पता तक न था। जायसी की सूफी सम्प्रदाय वाली पद्धति में सब कुछ होते हुए भी अनुकूलता न थी। गोस्वामी जी ने इस इन सब पद्धतियों के सुन्दर तत्त्वों को समेट कर अपनी कला के लिये न केवल भारतीय इतिहास का सर्वोत्तम कथानक ही चुना वरन् उसकी लपेट के साथ ही साथ काव्य के कमनीय अंगों की अपूर्व माधुरी से अज्ञविज्ञ सभी को मुग्ध भी कर दिया, परन्तु साथ ही अपने प्रकृत वर्ण्य विषय—आध्यात्मिक तत्त्व—की प्रधानता को कहीं भी शिथिल नहीं होने दिया।

गोस्वामी जी का शब्दकोष इतना विशाल है जितना हिन्दी के किसी भी अन्य कवि का न होगा। उन्होंने हजारों संस्कृत प्राकृत तथा विभिन्न भाषाओं के शब्दों का बड़े अधिकार के साथ प्रयोग किया है। जिस कवि का शब्दकोष जितना विस्तृत होगा वह उतने ही सौष्ठव के साथ अपने भावों को प्रकट कर सकेगा। किसी अधिकारी कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती करना और उनके अर्थों को निर्धारित करके कवि के मनोगत

भावों का पता लगाना भी बड़ा उपयोगी अनुसंधानकार्य है। अंग्रेजी में शेक्सपियर और मिल्टन के शब्दों पर कई सज्जनों ने इस प्रकार का परिश्रम किया है। वह दिन दूर नहीं है जब हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयत्न प्रारंभ होंगे।[१] हमने कई रामायणी सज्जन देखे हैं जो खास-खास शब्दों के सम्बन्ध में यह बता सकते हैं कि वे रामचरितमानस में कितनी बार किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। गोस्वामी जी का शब्दभाण्डार विशाल होने के साथ ही साथ इतना गंभीर भी है कि कई टीकाकार कई शब्दों का अर्थ करने में चक्कर खा गये हैं। गोस्वामी जी की शब्दावली को लेकर जितना विचार कीजिये उतना ही नया मसाला मिलता चला जाता है।

गोस्वामी जी का शब्दस्थापन भी मार्के का बन पड़ा है। कहाँ किस प्रकार के शब्द का प्रयोग होना चाहिए इस कला में गोस्वामी जी परम पटु हैं। उपयुक्त पात्र के लिये उपयुक्त भाषा मानों आप ही आप उनके हृदय से उमड़ पड़ती है। कठिन और सरल शब्दों का कुछ ऐसा अपूर्व सुयोग उनकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति में पाया जाता है कि अपढ़ गँवार से लेकर परम ज्ञानी तक सभी इसमें अपना मनोरंजन पा जाते हैं। श्री बाबूराम युक्तिविशारद जी ने "सबकर मत खगनायक एहा" के १,६७५, १८६ अर्थ बताये हैं जो 'तुलसी सूक्ति सुधाकर भाष्य' नाम से अलग ग्रन्थाकार प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार लगभग सत्रह लाख अर्थों को प्रकट करने वाला यद्यपि विशेषतः बाबूरामजी का अपूर्व मस्तिष्क ही है तथापि इस संबंध में गोस्वामी जी का शब्दस्थापन भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि इस पंक्ति में यदि शब्दों का वैसा सम्बन्ध-स्थापन न हुआ होता तो बाबूराम जी का मस्तिष्क भी इतने अर्थों की उद्भावना करने में कदाचित् ही सक्षम हो सकता। गोस्वामी जी का एक दोहा —

---

१. प्रसन्नता की बात है कि अब इस प्रकार के शोध प्रबन्ध भी लिखे जाने लगे हैं।

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसी के वृन्द तहँ देखि हरष कपिराइ ॥३७४-२१, २२

इस दोहे में "नव" शब्द पर विचार कीजिए। यह अकेला एक शब्द उस गृह के स्वामी के भूत, भविष्य, वर्तमान, सुकृतरहस्य को खोले दे रहा है। "नव" का अर्थ "झुका हुआ" होता है। अतएव झुके हुए तुलसी के वृन्द बताते हैं कि गृही ने भूतकाल में बहुत सुकृत किया था जिसके कारण वर (फल) प्रादानार्थ तुलसी झुकी पड़ी है। "नव" का अर्थ "नौ" भी होता है। अतएव तुलसी के ९ वृन्द यह बताते हैं कि गृही इस लोक से अन्तिम प्रयाण के समय देह के नवों द्वारों के लिये पहिले ही से तुलसी की व्यवस्था किये ले रहा है। "नव" का तीसरा अर्थ "नया" भी होता है। अतएव इस अर्थ में नूतन तुलसी वृन्द यह बताते हैं कि गृही का वर्तमान भाव भी सुकृतपूर्ण है (क्योंकि उसने हाल ही में ये वृक्ष लगाये हैं) और इस प्रकार का त्रिकाल सुकृती जीव इस गृह में निवास कर रहा है। ऐसे अनेकों उदाहरण उनके शब्दस्थापन के सम्बन्ध में दिये जा सकते हैं। यह सुप्रसिद्ध है कि गोस्वामी जी के मानस की प्रायः प्रत्येक पंक्ति में "सीताराम" रूपी अक्षर चतुष्टय का कोई न कोई अक्षर अवश्य विद्यमान होगा। यह भी स्वामी जी के शब्दस्थापन का चमत्कार है क्योंकि ऐसी खूबी रहते हुए भी कहीं भी न तो शब्दों की खींचतान है और न कोई भरती शब्द ही रखा गया है।

शब्दस्थापन अथवा पदयोजना की ही भांति गोस्वामी जी की वाक्य-रचना का हाल है। कई वाक्य इस खूबी के साथ कहे गये हैं कि वे सुनते ही याद हो जाते और लोकोक्तियों का काम देने लगते हैं। बहुतों में इतना अपूर्व रचनाकौशल है कि देखते ही बनता है। भगवान् राम परशुराम जी से कहते हैं:—

विप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डराई॥
१३०-१७

प्रथम दो अर्थों में भगवान् ने परशुराम को मान देकर अपना मार्दव प्रकट किया और शेष दो अर्थों में उन्हें नसीहत देकर अपना गूढ़त्व (दिव्य-भाव) प्रकट किया है।

ऐसे-ऐसे वाक्यों के इसी प्रकार अनेकानेक अर्थ निकल सकते हैं जो शब्दों को तोड़े मरोड़े बिना—उनका विच्छेद किये बिना अथवा उनका अप्रचलित अर्थ ढूंढ़े बिना ही—स्पष्ट हो जाते हैं।

वाक्यरचना के समान गोस्वामी जी का प्रबन्धसौष्ठव भी कमाल का है। किस प्रसंग को कहाँ किस प्रकार सामने लाना चाहिए यह गोस्वामी जी को खूब अच्छी तरह मालूम था। कथा को कहाँ किस प्रकार बढ़ाना और किस प्रकार घटाना कहाँ वर्णनात्मक क्रम रखना और कहाँ नई-नई घटनाएँ जोड़ देना यह सब विषय इन्हें हस्तामलकवत् था। ऐसे प्रत्येक प्रसंग में उनका न केवल मनोविज्ञान सम्बन्धी परम पांडित्य प्रदर्शित हो रहा है वरन् उनका अद्वितीय कलाकारत्व भी स्पष्ट हो रहा है। कई स्थलों में तो पूरे प्रसंग के प्रसंग चमत्कारिक अर्थों से भरपूर जान पड़ते हैं। वाटिका-प्रसंग ही का हाल देखिए। हमने एक बार सुना कि "चातक कोकिल कीर चकोरा" वाली पंक्ति में पक्षियों के बहाने भक्तों की चर्चा की गई हैं।[1] इसलिए ध्यान पूर्वक हमने फुलवारी लीला का पूरा प्रकरण देखा और यह पाया कि अथ् से इति तक उसमें आध्यात्मिक अर्थ भी भरा पड़ा है। मानस रूपक में गोस्वामी जी ने लिखा है "सन्त सभा चहुँ दिसि अँवराई। स्रद्धा रितु बसन्त सम गाई" (२३-१८) वाटिका प्रसंग में भी वे बाग के साथ बसन्त का योग करके कहते हैं "भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई।" (१०६-२३) साथ ही इस बाग के लिए

---

१. बैजनाथ जी पाँच पक्षियों का भाव यह लिखते हैं कि "अर्थी जिज्ञासु ज्ञानी आर्त और प्रेमी ये पाँच भक्त पक्षी का रूप धर आ बैठे हैं और अपने अपने भावों को प्रकट कर रहे हैं।" मानसपीयूष बाल काण्ड पृष्ठ १७११।

वे "आराम" शब्द का प्रयोग करते हैं[1] जिसका संस्कृत के अनुसार अर्थ हो सकता है 'आसमन्तात् रामः यस्मिन्' अर्थात् जो रामप्रेम से ओतप्रोत है तब प्रत्यक्ष ही वह 'बागवर' श्रेष्ठ सन्तसमाज हुआ। जनक (पितामह ब्रह्म) की अयोनिजा कन्या है जीवात्मा। यदि वह परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहे तो उसे सत्संग करना चाहिए। यद्यपि उसका अन्तिम आराध्य है निर्गुण ब्रह्म तथापि सत्संग में उसे निर्गुण और सगुण (श्याम राम और गौर लक्ष्मण) दोनों का साक्षात्कार होता है। "जिस सन्तसमाज में सीता रूपी परम अधिकारिणी जीवात्मा पहुँची थी वह परम उन्नत समाज होना ही चाहिए। उसने भगवान के उभय रूपों की कृपा पहिले ही से प्राप्त कर ली थी। ऐसा हुए बिना वह जीवात्मा-परमात्मा का इतना मधुर मेल करा ही कैसे सकती थी। वह परम उन्नत सन्तसमाज जगतकल्याण की संरक्षक (भू-प) थी। उसके स्त्री पुरुष सभी षड्गुणोपेत थे। उसके प्रत्येक व्यक्ति शोभन सुमन फल और पल्लव (मन वाणी और कर्म) युक्त होकर भी नम्र (नव) थे। अपनी दैविक सम्पत्ति के आधिक्य से वे देवताओं को भी रूखा (क्षुद्र) बना रहे थे। उसमें न केवल ऊर्ध्वगामी (विहग) साधक भक्त लोग (आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी लोग) ही चेष्टाशील हो रहे थे वरन् सिद्ध भक्त (परमात्मा ने 'मोर'-मेरा-कहकर जिनका पक्ष धारण कर लिया है वे) भी मस्ती में थिरक से रहे थे। इस सन्तसभा के मध्य में तो रामचरित-चर्चा का मनोज्ञ सरोवर था ही। उस सरोवर तक पहुँचने के साधन (सोपान) भी महत्त्वपूर्ण और महामूल्यवान थे। उस सरोवर में भक्ति (विमल सलिल) वैराग्य (सरसिज) ज्ञान (खग) और योग (भृंग) के तत्त्वों का भी समावेश निश्चित ही था अथवा यों कहिए कि सतयुग (विमल सलिल) त्रेता (सरसिज बहुरंगा) द्वापर (जलखग-जिनका रंग श्यामलता की ओर विशेष झुका रहता है) और कलि (काले भृंग) की समग्र विभूतियों का ऐश्वर्य स्पष्ट ही था। ऐसे रामचरितचर्चायुक्त

१. परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत॥१०७-५

सन्तसमाज (बाग तड़ाग) को देखकर परमात्मा परम प्रसन्न हुआ करते हैं। और वे स्वतः वहाँ प्रकट होकर अपने कृपा कटाक्ष निरीक्षण से समूचे समाज को तृप्त कर देते हैं। इसी प्रकार का परम रोचक आध्यात्मिक अर्थ पूरे के पूरे प्रकरण में भरा पड़ा है।[1] आचार्य शुक्ल जी ने यथार्थ ही कहा है कि "जी न चाहने पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिन्दी के और किसी कवि में वह प्रबन्ध-पटुता

---

१. हमने निम्नलिखित पंक्तियों के रहस्य की ही कुछ बानगी ऊपर दी है —

भूप बाग वर देखेउ जाई। जहँ बसन्त रितु रही लोभाई॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज सम्पति सुर रूख लजाये॥
जातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥
मध्य भाग सर सोह सुहावा। मनि सोपान विचित्र बनावा॥
विमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥

बागु तड़ागु विलोकि प्रभु हरषे बन्धु समेत।
परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत॥ १०६-२३ से २५
१०७-१ से ५

द्वितीय पंक्ति में 'ब' अक्षर छः बार आया है जो बिटप और बेलि (नर और नारी) को षड्गुणोपेत बताकर कह रहा है कि उस सन्तसमाज के स्त्री-पुरुष सभी (१) सुभग (२) शुचि (३) सन्त (४) धर्म शील (५) ज्ञानी और (६) गुणवन्त थे। देखिए —

पुर नर नारि सुभग सुचि सन्ता। धरम शील ग्यानी गुणवन्ता॥
१०१-८

यह पंक्ति भी उसी जनकपुर के स्त्री-पुरुषों के लिए कही गई है जहाँ का यह 'बागबर' है।

नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिये आवश्यक है।" तुलसी ग्रन्थावली तृतीय खण्ड २२५ पृष्ठ।

जिस प्रकार संस्कृत भाषा की रचना में गोस्वामी जी ने पूरी स्वच्छन्दता से काम लिया है उसी प्रकार देशी भाषा की रचना में भी उन्होंने स्वच्छन्दता ही दिखाई है। उनकी रचना में कहीं सन्त के साथ पन्थ की तुक भिड़ी हुई है कहीं सीता के साथ चिन्ता मिली दिखाई देती है। कहीं यतिभंग का दृश्य है तो कहीं मात्रा की कमी अपना अस्तित्व प्रकट कर रही है। परन्तु कवि की ऐसी स्वच्छन्दता रहते हुए भी (और यह स्वच्छन्दता भी कई स्थलों पर सप्रयोजन बरती गई है) मानस की देशी भाषा बड़े ही परिमार्जित रूप में एकदम व्याकरण समस्त होकर निकली है। "प्रश्न" सरीखे शब्द का स्त्रीलिंग में व्यवहार करना ऐसी बात है जिसे हम उनकी भाषा का डिठौना मान सकते हैं।[1] "मर्म वचन जब सीता बोली' सदृश वाक्यों में व्याकरण की कोई अशुद्धि है ही नहीं। "भाषा पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का था वैसा और किसी हिन्दी कवि का नहीं।...... 'अवधी' और 'ब्रज' काव्यभाषा की दोनों शाखाओं पर उनका समान और पूर्ण अधिकार था।[2] फिर भी उन्होने मानस के लिये अवधी भाषा को उपयुक्त समझा है। अवधी उस स्थान की भाषा थी जहाँ रामचन्द्र जी ने जन्म धारण कर के अपनी लीलाएँ की थीं। इसलिए गोस्वामी जी ने इसी भाषा को अपने भावों का माध्यम बनाया। राम की नगरी अयोध्या के सम्बन्ध में उस भाषा की ओर प्रत्येक राभक्त की रुचि होना स्वाभाविक है। इसलिए ब्रजभाषा को छोड़कर गोस्वामी जी ने इसे ही ग्रहण किया। वे अपने वर्ण्य सिद्धान्तों को विलास की प्रत्येक सामग्री से अलग रखना चाहते थे। इसलिए सूर और केशव की भाषा उन्होंने स्वीकृत नहीं की।

---

१. यह शब्द भी जिज्ञासा के अर्थ में प्रयुक्त होकर स्त्रीलिंग बनाया गया है।

२. आचार्य शुक्ल जी—तुलसी ग्रन्थावली तृतीय भाग पृष्ठ २३५।

जायसी ने अवधी में पहिले से प्रबन्धकाव्य रच दिया था। वह शैली उन्हें पसन्द आई इसलिए उन्होंने भी वह शैली स्वीकार कर ली।

न जाने कितने प्रान्तों के कितने शब्द गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में रखे हैं। हिन्दी भाषा की पाचनशक्ति का बढ़िया नमूना देखना हो तो "रामचरितमानस" देखा जावे। भाषा के प्रसाद ओज माधुर्य गुण की सच्ची बानगी देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। शब्दों की अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों के चमत्कार देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। मुहाविरों का सफल प्रयोग उनका मूल्य और उनकी हृदयहारिता देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। अर्थरूपी असंख्य नृत्यप्रकारों के लिए अक्षररूपी तालगति का सच्चा अवलम्ब देखना हो तो रामचरितमानस देखा जावे। जहाँ जब जैसा भाव जिस तरह प्रकाशित करना है उसके अनुकूल शब्द वहीं मानो हाथ जोड़े खड़े हैं। उनकी भाषा में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि द्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी आदि आदि सभी प्रकार के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों वाले सज्जन भी अपना-अपना मनोऽभिलषित अर्थ निकाल लेते हैं और गोस्वामी जी की ओर समान रूप से अनुरक्त हो जाते हैं। यह उनकी भाषा ही का प्रभाव है कि उनकी पंक्तियों के नित्य नये अर्थ निकलते चले जा रहे हैं और फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अब कोई नया टीकाकार नई बात लेकर सामने न आवेगा। आचार्य शुक्ल जी ठीक ही कहते हैं कि "सब से बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और वाक्यरचना की निर्दोषता जो हिन्दी के और किसी कवि में ऐसी नहीं पाई जाती।" (तुलसी ग्रन्थावली भाग ३ पृष्ठ २३६)।

गोस्वामी जी के भाव जिस उत्तमता से अभिव्यक्त हुए हैं उस पर तो जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। थोड़े से शब्दों में बहुत से भाव भरकर, रख देना उनके बाँए हाथ का खेल है। कहीं-कहीं तो उनका एक एक छन्द सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर हो गया है। हमने "गनी गरीब ग्राम नर नागर......"(१८२११ से १४) वाले प्रसंग में तीन ही चार पंक्तियों

के भीतर एक सज्जन को समूची राजनीति समझाते हुए सुना था। एक दूसरे सज्जन ने "रामकाज करि फिरि मैं आवहुँ..."वाले प्रसंग की दो ही पंक्तियों में वक्तृत्वकला के सब पहलू झलका दिये थे। गोस्वामीजी का एक सोरठा है—

तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव-प्रिय ।
जन-गुन-गाहक राम दोषदलन करुनायतन ॥

१५६-१७-१८

इस सोरठे में जो कुछ कहा गया है उसे समझा कर कहने के लिये एक लम्बी वक्तृता भी पर्याप्त नहीं है। पुत्रस्नेह,कर्तव्यनिष्ठा, सीता की गुणावली का कथन, सीता के प्रति राम का व्यवहार भविष्य में कैसा हो इसका पूर्ण संकेत, इत्यादि बातें इस ढंग से कह दी गई हैं कि उनसे स्नेह तथा कर्तव्य के अन्तर्द्वन्द्व का चित्र बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। उनका एक दोहा है—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम।

७१-१३, १४

एक ही वस्तु के लिये तीन-तीन उपमाएँ! सामान्य लोग कह देंगे कि यह तो भारती की रचना हुई। परन्तु इन तीन उपमाओं में कितना रहस्य भरा हुआ है यह विचार करने से विदित होता है। भगवान् में साध्य और साधना की पूर्णता है यह बात प्रकट करने के लिए ही गोस्वामी जी ने, जान पड़ता है इन तीन उपमाओं का प्रयोग किया है। साध्य में आधि-भौतिक पूर्णता के लिये जल, स्थल और गगन के सुन्दरतम पदार्थ (सरोरुह मणि और नीरधर) चुन लिये गये, आधिदैविक पूर्णता के लिये त्रिदेवों के विशिष्ट चिह्नों का उल्लेख कर दिया गया (कमलोद्भव ब्रह्मा के लिए सरोरुह का विशिष्ट चिह्न, कौस्तुभधारी विष्णु के लिए मणि का विशिष्ट चिह्न और गंगाधर शंकर के लिए नीरधर का संकेत बताया गया), और आध्यात्मिक पूर्णता के लिये सरोरुह से सत् की (क्योंकि ऐश्वर्य की

आधारभूत लक्ष्मी और जगद्रचना के आधारभूत ब्रह्मा की उत्पत्ति उसी से है), मणि से चित् की (क्योंकि उसका धर्म है प्रकाश, दुर्लभता, उपयोगिता आदि) और नीरधर से आनन्द की (क्योंकि रसमय होने से वह आनन्द मय है) झाँकी दिखाई गई। नीलवर्ण आकाश की सी अनन्तता और समुद्र की सी गंभीरता का द्योतक है। जो वास्तव में अवर्ण है वह अपनी विशालता और अनन्तता के कारण नीला जान पड़ता है। इस प्रकार "नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर श्याम" में साध्य की पूर्णता प्रकट की गई है। अब साधना की पूर्णता इस प्रकार है कि सरोरुह कर्ममार्ग का द्योतक है क्योंकि विविध (कर्म चक्र) का प्रवर्तन यहीं से माना जाता है, मणि ज्ञानमार्ग का द्योतक है (अपने प्रकाशधर्म दारिद्र्यनिवारणादि धर्म के कारण) और नीरधर भक्तिमार्ग का द्योतक है (रससम्पत्ति के कारण) नील वर्ण वह है जिसमें सब वर्णों का लय हो। इसलिए 'नीलवर्ण' परमात्मा में ही सब साधनों की पूर्णता और परिसमाप्ति है' यह विषय भी इसी एक पंक्ति से बता दिया गया है।

गोस्वामी जी की भावुकता के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने तुलसी ग्रंथावली के तीसरे खण्ड की प्रस्तावना में बहुत सुन्दर बातें कहीं हैं। वे कहते हैं कि "जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन के प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंग का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है"। (पृष्ठ १५२) आगे चलकर वे कहते हैं "यदि कहीं सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है

हो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता, तुलसीदास जी के हृदय में बिंब प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।" गोस्वामी जी की ऐसी ही भावुकता से विभूषित रहने के कारण उनका मत इस प्रकार प्रत्येक हृदय में अपना घर कर रहा है।

गोस्वामी जी रससिद्ध कवीश्वर थे। उनका सम्पूर्ण मानस एक ऐसे दिव्य रस से भरा हुआ है जिसके विषय में वे स्वयं कहते हैं कि 'रामचरित जे सुनत अघाहीं, रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।" (४६६-१६)। उनके बृहद्ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति में कुछ न कुछ रसचमत्कार विद्यमान हैं। सामान्यतः नीरस प्रतीत होने वाली पंक्ति में भी कथाप्रसङ्ग का वह प्रवाह मिलेगा जिसमें रसतरगें आप ही आप उछल रही होंगी। फुलवारी-लीला में उन्होंने शृंगाररस का जैसा मर्यादापूर्ण विशुद्ध और हृदयग्राही अवतार कराया है वैसा संसार के बहुत ही कम कवियों से बन पड़ा है। नारदमोह, शिव-विवाह, सूर्पणखा प्रस्ताव, आदि के प्रसंगों में बहुत ही ऊँची कोटि का हास्य-रस भरा हुआ है। रामवनगमन के प्रसंग में तो करुणरस मूर्तिमान होकर बह निकला है। राम के मनुष्यत्व और ब्रह्मत्व का कई स्थलों पर एकत्र उल्लेख कर गोस्वामी जी ने अद्भुतरस का सुन्दर निर्वाह किया है। वीर, भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों के ऊँचे उदाहरणों का मजा चखना है तो उनका युद्धवर्णन देखिए। शान्तरस की अनुपम माधुरी से तो समूचा ग्रंथ ही लबालब भरा है। काकभुशुंडि का आख्यान इस सम्बन्ध में विशेष रूप से देखने योग्य है। गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर नवरसों का माधुर्य एक ही जगह समेट कर रख दिया है। विचार करने पर ऐसे स्थला में अनोखा ही मजा आता है। यहाँ एक उदाहरण दे देना अनुचित न होगा। सुन्दर-काण्ड में वे लिखते हैं:—

कनक कोटि विचित्र मनि कृत सुन्दरायतना घना ॥
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथी चारु पुरु बहु विधि बना॥
गज वाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनइ।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनइ॥

बन बाग उपवन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर नाग सुर गन्धर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहीं।।
कहुँ माल देह विसाल सैल समान अति बल गर्जहीं ।
नाना अखारेन्ह भिरन्ह बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं ।।
करि जतन भट कोटिन्ह विकट तन नगर चहुदिसि रच्छहीं।
कहुँ महिस मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।।
एहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु यक है कही।
रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पइहहिं सही।।

३४६-१६ से २७

विचित्रता के कारण पहिली दो पंक्तियों में अद्भुतरस और बहुरूपी (देखिए "कोउ मुखहीन विपुल मुख कोहू" सरीखे वर्णन वाले) राक्षसों के कारण दूसरी दो पंक्तियों में हास्य रस विद्यमान है ही। पांचवीं पंक्ति में शृंगाररस और छठीं में करुणारस है क्योंकि "नर नाग सुर गन्धर्व" कन्याएँ छीनकर ही लाई गई थीं।[१] मल्लों के कारण सातवीं पंक्ति में वीररस है, तर्जना के कारण आठवीं में रौद्ररस विकटतन भटों के कारण नवीं पंक्ति में भया-नकरस है और अनर्गल भक्षण के कारण दसवीं पंक्ति में वीभत्सरस ओतप्रोत है। रहा शान्तरस सो वह शेष दो पंक्तियों में जिस खूबी के साथ प्रकट किया गया है वह देखते ही बनता है। ऐसे सफल कलाकार का सिद्धान्त यदि लोक में इस प्रकार प्रचार पावे और समादृत हो तो आश्चर्य ही क्या है।

गोस्वामी जी के काव्य में अलंकारविधान भी परम मनोरम बन पड़ा है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी ग्रन्थावली की प्रस्तावना में

---

१. देव जच्छ गन्धर्व नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि।।

८६, १५, १६

(१) भावों की उत्कर्ष व्यजंना में सहायक अलंकारों (२) वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकारों (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकारों और (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकारों की अच्छी बानगी दिखाई है। मिश्रबन्धु महोदयों ने :—

जे पुर गाँव बसहिं मगमाहीं। तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं।
पुन्यपुञ्ज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर वासी॥

२१४-५ से ८

इन पंक्तियों के सम्बन्ध में लिखा है कि "उनमें जितना साहित्य का सार कूट-कूट कर भरा है उतना शायद संसार सागर की किसी भाषा के, किसी पद्य में, कहीं भी न पाया जायगा। जहाँ तक हम लोगों ने कविता देखी या सुनी हैं इन पंक्तियों का सा स्वाद क्या अंग्रेजी क्या फारसी, क्या हिन्दी क्या उर्दू, क्या संस्कृत, किसी भी भाषा में कहीं नहीं पाया।" (हिन्दी नवरत्न द्वितीय संस्करण पृष्ठ ५२)। इन्हीं पंक्तियों के काव्य-कौशल को अपने विनोद की भूमिका में स्पष्ट करते हुए वे (१) सम्बन्धातिशयोक्ति (२) द्वितीय अर्थान्तिरन्यास (३) सार (४) पदार्थावृत्ति दीपक (५) काकु (६) उदात्त (७) वृत्यनुप्रास (८) वीप्सा (९) चतुर्थ प्रतीप (१०) अधिक अभेद- रूपक (११) समुच्चय (१२) विकस्वर और (१३) अप्रस्तुत प्रशंसा—इस प्रकार के तेरह अलंकारों का उल्लेख करते हैं कि "दो छन्दों में साहित्य के दस गुणों में से श्लेष, माधुर्य और ओज छोड़कर सभी वर्तमान हैं। इतने गुणों का एक स्थान पर मिलना प्रायः असम्भव है।" (देखिए मिश्र बन्धुविनोद भाग १ भूमिका पृष्ठ ३७) जैसी सुन्दर और असरदार उपमाएँ लिखने में गोस्वामी जी समर्थ हुए हैं वैसी उपमाएँ अन्यान्य साहित्य के ग्रन्थों में भी दुर्लभ हैं। अपने सुरसरिरूपक में भी उन्होंने अपनी उपमाओं

की विशेषता का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[1] उनका उपमालंकार ही कहीं रूपक कहीं उत्प्रेक्षा कहीं दृष्टान्त होकर बैठा है। उनके लिखे हुए सांगोपांग रूपक एकदम बेजोड़ हैं। ऐसे रूपकों के दर्शन ग्रन्थ में अनेकानेक स्थलों पर होते हैं। वर्ण्यविषय इन अलंकारों के सहारे पर एक– दम खिल उठता है। सामने मानों चित्र खड़ा हो जाता है। एक बार हमने जयरामदास जी 'दीन' को 'जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी' (३४८६) वाली उपमा का विश्लेषण करते हुए सुना था। विभीषण के सम्बन्ध में वह उपमा कितनी अच्छी बैठी है इसका रहस्य उन्होंने दस बारह प्रकार से इस खूबी के साथ समझाया था कि समग्र श्रोता आनन्दमुग्ध हो गये थे। एक मौलवी साहब को "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" (१०७-१७) वाली आलंकारिक उक्ति इतनी अच्छी जँची कि वे लगभग घण्टे भर अपनी परिस्थिति भूलकर उसी आनन्द में झूमते रहे थे। मिश्र बन्धुओं ने ठीक ही कहा है कि 'इनकी रचनाओं के प्रति पृष्ठ, प्रति पंक्ति बल्कि प्रति शब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है।" (हिन्दी नवरत्न द्वितीय संस्करण पृष्ठ ११९-१२०)। और, तारीफ यह कि अलंकारों ही की कौन कहे सभी प्रकार के काव्यगुण, जान पड़ता है, स्वाभाविक रूप से उनकी रचना में हाथ बाँधे चले आ रहे हैं। गोस्वामी जी ने किसी भी अलंकार अथवा किसी भी अन्य काव्यगुण अथवा उपयुक्त शब्द के लाने के लिए कभी कोई विशेष प्रयास किया हो ऐसा कहीं भी नहीं जान पड़ता। कई स्थलोंपर तो अलंकारादि काव्यगुण इस खूबी से बैठ गये हैं कि जान पड़ता है कि स्वतः कलाकार को भी उनके अस्तित्व का पता नहीं लगने पाया था।

चरित्र चित्रण में भी गोस्वामी जी ने कमाल ही किया है। जो चरित्र बड़े-बड़े सत्कवियों की कलम से भी धुंधले ही होकर निकले हैं वे गोस्वामी जी की कलम का संयोग पाकर एकदम उज्ज्वल होकर चमक उठे हैं।

---

१. राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम ॥
२३-९

दशरथ जी ही की ओर देखिए। वाल्मीकि रामायण के दशरथ जी कहते हैं:—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्यमाम्॥
अयोध्याकाण्ड स० ३४ श्लोक २६

अध्यात्म रामायण के दशरथ कहते हैं:—

स्त्रीजितं भ्रान्तहृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम् ।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवेत्॥६९॥
एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन॥
अयो० स० ३ श्लोक ६९ और ७० पूर्वार्ध

रामचरित मानस के दशरथ जी कहते हैं:—

मुनि सनेहवस उठि नरनाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥
सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। रामु चराचर नायकु अहहीं॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदय विचारी॥
करइ जो करमु पाव फलु सोई। निगम नीतिं असि कह सबु कोई॥

औरु करइ अपराध कोउ, और पाव फलु भोगु।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जाकइ जोगु॥
२००-४ से ८

मानसहंसकार ने ठीक ही कहा है कि "ऊपर के दोनों दशरथों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर दीख पड़ेगा कि उनका सत्यप्रेम पुत्र प्रेम के सामने बिलकुल ही लज्जित हो गया, अतएव उनकी धर्मनिष्ठा धूर्तता से कलंकित हो गई" (पृष्ठ १५७) परन्तु "गोस्वामी जी के दशरथजी में मनलज्जा जनलज्जा, सत्यप्रियता पिता पुत्र की मर्यादा, राम सम्बन्धी आदर और प्रेम, कैकेयी के चिढ़ जाने का भय, आदि के भाव कैसे मनोहर और मार्मिक

रीति से दिखलाये गये हैं। (पृष्ठ १५८) ।" कौशल्या जी की ओर देखिए वाल्मीकि रामायण की कौशल्या जी कहती हैं:—

> यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहं।
> त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितोवनम् ॥२५॥
> यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
> अहं प्राय मिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्॥२७॥
> ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।
> ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितांपतिः ॥२८॥
>
> अयोध्या० स० २१

अध्यात्म रामायण की कौशल्या जी कहती हैं:—

> पितागुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
> पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेहमहं सुतम् ॥१२॥
> यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लंध्य नृपवाक्यतः।
> तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥१३॥
>
> अयो० स० ४

रामचरितमानस की कौशल्या जी कहती हैं:—

"तात जाऊँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरम के टीका॥
राज देन कहि दीन्ह बन, मोहिं न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहिं भूपतिहि, प्रजहिं प्रचण्ड कलेसु॥
जौ केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौ पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवधसमाना॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥"

(१९१-१६ से २१)

मानसहंसकार ठीक ही कहते हैं कि "उन दोनों रामायणों में कौशल्या देवी अपने मातृत्व का अधिकार स्थापित करके और आत्महत्या का भय दिखला

कर रामजी को पित्राज्ञा से पराङ्मुख करने का प्रयत्न करती हैं। वाल्मीकि की कौशल्यादेवी तो एक दम आगे ही बढ़ गई हैं क्योंकि वे रामजी को घोर नरक में डालने के लिये भी तैयार हो जाती हैं। राम-माता समझ कर उनका आदर कोई भी करेगा ही, परन्तु इन दोनों में से किसी पर कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। हरएक के मुख से यही उद्‌गार निकलेगा कि इनमें से पहिली (अध्यात्म रामायणवाली) आत्मघातिनी है तो, दूसरी (वाल्मीकि रामायणवाली) आत्मघातिनी होकर पुत्र को निरयदायिनी भी है" (पृष्ठ १६०) परन्तु "लोकसंग्रह के लिये गोस्वामी जी को वह कौशल्या देवी पसन्द हुई जो रामजी के अपने सब हक कैकेयी के चरणों पर शान्ति और स्वेच्छा से अर्पण कर दें, और जो स्वयं भरत जी की माता और रामजी की कैकेयी बन जावें।" (पृष्ठ १६२)।[१] स्वयं रामजी की ओर ही देखिए। महर्षि वाल्मीकि जी के रामचन्द्र कहते हैं:—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥
अयोध्या० स० ११२ श्लोक १८

क्या गोस्वामी तुलसीदास जी भी भरत के समान भावुक भक्त को अपने राम के मुख से रूखा जवाब दिला सकते थे?

चरित्र-चित्रण के उत्कर्ष के लिये यदि घटनाओं में भी कुछ फेरफार करने की आवश्यकता हुई तो गोस्वामी जी ऐसा करने में बिलकुल नहीं हिचके हैं। चित्रकूट की सभा यदि जनकजी न पहुँचाये जाते तो अयोध्या की असामान्य घटनाओं के प्रति उनकी ऐसी विरक्ति आक्षेप योग्य ही कही जा सकती थी। जनकराज—सभा में परशुराम जी का प्रवेश भी ऐसी रोचक घटना है गोस्वामी जी के प्रबन्ध कौशल का परम पाटव प्रकट

---

१. मानसकार की भाषा में हमने आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन कर दिया है।

किये बिना नहीं रहती। उन्होंने हर तरह से अपने प्रत्येक पात्र को सर्वांग सुन्दर और सजीव बना कर आंखों के सामने खड़ा कर दिया है। आचार्य शुक्ल जी कहते हैं "स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्याकाण्ड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिन्दी कवि में नहीं पाते।" (प्रस्तावना १९८ पृष्ठ)। स्त्रियाँ ही क्यों पुरुषों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ ऐसी ही बात कही जा सकती है। यदि मन्थरा का चरित्र अपने रंग का निराला है तो रावण का चरित्र भी अपने ढंग का अद्वितीय है। यदि कैकेयी अपनी विशेषता लिये हुए है तो निषादराज गुह भी अपनी अलग ही छटा दिखा रहे हैं। यदि सीता का अपना निराला माधुर्य है तो भरत और लक्ष्मण भी अपनी अपूर्वता उसी उज्ज्वलता के साथ प्रदर्शित कर रहे हैं। जिस ओर देखिए उसी ओर गोस्वामीजी की चरित्र-चित्रण-चातुरी पर चमत्कृत होना पड़ता है।

गोस्वामी जी ने अपने वर्णन के लिये जो कथानक चुना है उसकी महत्ता के विषय में तो जितना कहा जाय उतना ही कम है। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है। जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं?" (आचार्य शुक्ल जी—तुलसीग्रंथावली प्रस्तावना पृष्ठ १५२)। यह सिद्धान्तविषय है कि "वासनाएँ स्वतः भली या बुरी नहीं होतीं। उनका भला या बुरा होना, उनके आलम्बन पर निर्भर है।" (कल्याण भाग ९ संख्या ४ पृष्ठ ८३६)। सो अपनी श्रद्धामय वासनाओं के अर्पण के लिये आदि कवि ने जिस सर्वतोमुखी उज्ज्वल आलम्बन की खोज करते हुए प्रश्न किया था:—

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्॥
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः॥२॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥३॥

आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
यस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥४॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं नरम् ॥५॥

(वा० रा० बालकाण्ड प्रथम सर्ग)

उसका उत्तर रामचरित ही में मिला और कहीं नहीं। "शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के सम्बन्ध द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुखी रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है।" (तुलसी ग्रन्थावली, प्रस्तावना १९०-१९१)। "आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनों का सम्बन्ध रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अन्तर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिए और अपने सम्बन्ध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्त्विकशील हैं, परन्तु भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, जो सात्त्विकशीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्त्विकशीलता अपने साथ लिये चाहे स्वर्ग का सुख भोगते चले जायँ पर अपने पीछे दस पांच आदमियों के बीच पांच दिन के लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायेंगे। ऐसे ऐकान्तिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो रामायण का लक्ष्य नहीं है" (आचार्य शुक्ल जी, तुलसी सं० प्रस्तावना १८७-१८८)। रामचरित का कथानक न केवल व्यक्ति के उन्नयन की सामग्री से भरपूर है वरन् समूचा समाज ही उसके द्वारा अपने उन्नयन के अनेकानेक साधन प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः तो यह समझना चाहिए कि धर्मतत्त्व की व्यावहारिक प्रक्रिया के प्रदर्शन के लिए ही रामचरित का कथानक इस संसार में अवतीर्ण हुआ है। तुलसीमत के स्पष्टीकरण के लिए यही एकमात्र उपयुक्त कथानक था क्योंकि सिद्धान्तरूप से तुलसी मत जिस बात को स्थापित करना चाहता है आचार रूप में वही बात रामचरित के कथानक ने कर दिखाई है। तुलसीमत और रामचरित परस्पर

सम्बद्ध होकर एक दूसरे से इस प्रकार घुले मिले हैं कि वे एक दूसरे के आश्रित ही नहीं वरन् एक दूसरे के प्रतिरूप भी कहे जा सकते हैं।[१]

कान्तासम्मित उपदेशप्रणाली[२] के लिये कथानक का सहारा लेकर चलना बहुत अच्छा माना गया है। अन्योक्तियाँ जितनी हृदयग्राहिणी और मर्मवेधिनी होती हैं उतनी स्मृतिवाक्यों की पंक्तियाँ नहीं। दृष्टांतों के द्वारा और कहानियाँ कहकर हम जिस सरलता से किसी-किसी सिद्धान्त को हृदयंगम करा सकते हैं उस सरलता से शास्त्रीय पद्धति के द्वारा हम उस सिद्धान्त को हृदयंगम नहीं करा सकते। इस अभिप्राय से जो कथानक कहे जाते हैं उनका मुख्य उद्देश्य होता है अभीष्ट सिद्धान्त को हृदयंगम बनाना न कि कथानक की ऐतिहासिकता को स्पष्ट करना। इसलिए ऐसे कथानकों की सत्यता की माप निराली ही रहा करती है। जो कथानक सिद्धान्त को हृदगंगम बनाने में जितना सफल होगा वह उतना ही सत्य समझा जावेगा, भले ही उसकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो। महात्मा गांधी कहते हैं कि "अजामिल के उदाहरण को गप मानने का कोई कारण नहीं। सवाल यह नहीं है कि अजामिल हुआ था या नहीं, पर यह है कि ईश्वर का नाम लेता हुआ वह पार हो गया या नहीं। पौराणिक ने मनष्य जाति के अनुभवों का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना करना इतिहास की अवहेलना करना है।" (धर्मपथ पृ० ७१) गोस्वामी तुलसीदास जी भी इस तत्व को भली भाँति समझते थे, इसलिए रामचरित के कथानक को उन्होंने कहीं भी "इतिहास" नहीं कहा है।[३] मानव प्रकृति एक

---

१. काव्य के लक्षण में 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" की बात प्रसिद्ध ही है। प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेशप्रणाली की अपेक्षा कान्तासम्मित उपदेशप्रणाली बहुत प्रशस्त मानी जाती है।

२. विशेष विवरण के लिए हमारा ग्रन्थ "मानस में रामकथा" देखा जावे।

३. यदि वह इतिहास है तो समझिये कि राम का नहीं किन्तु रामता का इतिहास है।

बार जिसको महत्ता प्रदान करती है उसकी महिमा उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये वह नये-नये तर्क और भाव भी सम्मिलित करती जाती है और इन तर्कों और भावों के लिये उस पदार्थ के रूप गुण क्रिया या इतिहास में कुछ परिवर्तन भी करना पड़े तो वह बेधड़क कर देती है। गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस के कथानक के साथ भी यही किया है। उसे अपने सिद्धान्तों के अनुकूल सर्वांग सुन्दर बनाकर वे कहते हैं:—

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरज करहिं असजानी।
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं।
नाना भांति राम अवतारा। रामायण सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी॥

राम अनन्त अनन्त गुन, अमितकथा विस्तार॥
सुनि आचरजु न मनिहहिं, जिनके बिमल विचार॥

२१-१२ से १९

इस प्रकार गोस्वामी जी ने बड़े कौशल के साथ जहाँ एक ओर इतिहास और कल्पना का सर्वांगसुन्दर सम्मेलन करा दिया है वहाँ दूसरी ओर कथानक के ऐसे ही सर्वांगसुन्दर सम्मिलित रूप की ओर भावुक भक्तों की श्रद्धा भी अक्षुण्ण रख ली है। भगवान् रामचन्द्र अवश्य ही ऐतिहासिक महापुरुष थे परन्तु उनके चरित्रों का जो कथानक रामचरितमानस में प्रकट हुआ है वह समूचा का समूचा इतिहास की दृष्टि से सत्य है अथवा नहीं इस प्रश्न पर विचार किये बिना भी हम कह सकते हैं कि वह भावना दृष्टि से एकदम सत्य है क्योंकि वह तुलसीमत के सर्वथा अनुकूल होकर उसको सरलतापूर्वक हृदयंगम कराने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर चुका है। ऐसे सुन्दर और सच्चे कथानक की लपेट में इस कलापूर्ण ढंग से कहा जाने के

कारण ही तुलसीमत आज प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी भारतीय के हृदय में इस प्रकार घर किये हुए है।

"तुलसी के मानस से रामचरित की जो शीलशक्ति सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँच कर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिम्ब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवनव्यापकता ने तुलसीमत की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पण्डित, सबके हृदय और कंठ में सब दिन के लिये बसा दिया। किस श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—. पत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में जहाँ देखिए, वहाँराम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है, उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कम में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानवजीवन के महत्त्व का अनुभव करती है।' (आचार्य शुक्ल—प्रस्तावना पृष्ठ४) 'यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारतहृदय भारतीकंठ भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।" (आचार्य शुक्ल—तु० ग्रं० तृतीय भाग—प्रस्तावना पृ० २४१)

जिस अद्वितीय कलाकार के सम्बन्ध में हरिऔधजी ने यथार्थ ही कहा है कि "कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला" (तु० ग्रं० तृतीय भाग द्वितीय लेख पृष्ठ ३) वह अपने तत्त्व सिद्धान्त की महत्ता का अनुभव करता हुआ अपने कलाकौशल को—अपने कवित्व को—गौणत्व ही प्रदान कर रहा है। तुलसी का कवित्व तुलसीमत के चरणों पर आप ही आप नतमस्तक हुआ जा रहा है। जिस मत की ऐसी महिमा है

उसकी असाधारणता के विषय में जो कुछ कहा जाय थोड़ा ही है। लोक-कल्याणकारिणी हरिचर्या ही को गोस्वामी जी ने काव्य का प्रकृत उद्देश्य माना है और आजीवन इसी साधना में रत रहकर उन्होंने अपने को यथार्थ ही सरस्वती का वर पुत्र सिद्ध कर दिया है। जो, एक किम्वदन्ती के अनुसार, यौवन की नयी उमंग में भावोद्रेक की प्रबलता के कारण, साँप को रस्सी और मुर्दे को नाव समझ बैठे थे, वे यदि आगे चलकर जगत् के सर्पभ्रम के भीतर की वास्तविक रस्सी देख लें और इस शरीररूपी मुर्दे को भवसागर की सच्ची नाव बना डालें तो क्या आश्चर्य ! जिनका भावोद्रेक यौवन में भी इतना प्रबल था कि वह जगत् को एकदम राममय बना रहा था वे यदि ज्ञानोदय के बाद अपने उसी भावोद्रेक के कारण जगत् को राममय देखने लगें तो क्या आश्चर्य ! गोस्वामी जी ने जैसी असाधारण भावराशि पाई थी वैसी ही विलक्षण कुशाग्र बुद्धि भी पाई थी। वे न केवल परम सन्त थे वरन् परम विद्वान् भी थे। उनमें श्रद्धा और तर्क का अपूर्व संयोग था। हृदय और मस्तिष्क के इसी अनुपम समन्वय के कारण उनकी साधना उत्तरोत्तर उन्नति करती गई और उन्नति करते-करते जब प्रौढ़वस्था में वह इस रूप में आई कि जगत् कल्याण में संलग्न "स्व" के "अन्तःसुख" के लिये उमड़े बिना उससे न रहा गया तब मानस का मानसरोवर रामचरितमानस के रूप में बाहर बह आया। वह देश धन्य है जहाँ तुलसीदास के समान सन्तप्रवर कवि समाट् ने जन्म लिया और वह साहित्य धन्य है जिसके अंचल में तुलसीमत के अनुपम मूल्य से मूल्यवान रामचरितमानस के समान अविनश्वर ग्रंथरत्न देदीप्यमान है।